भारतीय संस्कृति और इतिहास

लेखक

डा० बैजनाथपुरी,

एम० ए०; बी लिट (आक्सन); डी० फिल (आक्सन);

प्राच्य इतिहास विभाग, लखनऊ विश्वविद्यालय

शिवम् सत्यम् सुन्दरम्

भारतीय विद्या भवन

इलाहाबाद

एकाधिकारी वितरक

राजकमल

राजकमल प्रकाशन

दिल्ली • इलाहाबाद • बम्बई • पटना • मद्रास

प्रथम संस्करण १९५८

मूल्य पाँच रुपये

प्रकाशक—भारतीय विद्या भवन, इलाहाबाद

मुद्रक—जॉब प्रिन्टर्स, ९९, हीवेट रोड, इलाहाबाद—३

भूमिका

प्राचीन संस्कृति और इतिहास का दिग्दर्शन करना वास्तव में अपने को समझना है। इतिहास का सम्बन्ध सम्राटों, युद्ध, सन्धि, तथा शासन प्रणाली तक ही सीमित नहीं है, यह तो किसी भी देश अन्यथा संसार की मानव जाति के संघर्ष की कहानी है। सम्राट् और उनके साम्राज्य उसी जाति के अंग और प्रतीक हैं। वे उस सांस्कृतिक परिधि के भीतर ही अपनी प्रतिक्रियायें प्रदर्शित करते रहते हैं। भारत का भी अपना इतिहास है। भिन्न-भिन्न काल में नवीन राज्य बने और बदले; विदेशियों के आक्रमण हुए, जनता का संहार हुआ, देश लूटा गया, विदेशी शक्तियों ने यहाँ अपना राज्य स्थापित किया, पर वे भारत के अस्तित्व को नष्ट कर अपने रंग में नहीं रंग सके। वे तो स्वयं भारत के स्वरूप में परिणित हो गये। यह भारतीय संस्कृति की महानता है कि उसने बिना विचार के हर एक को आश्रय दिया और अपनाया। इसी भारतीय संस्कृति के भिन्न भिन्न अंगों को ऐतिहासिक दृष्टि से समझने के लिए इस ग्रन्थ की रचना हुई है। इसमें आदि काल से लेकर वर्तमान युग तक के सांस्कृतिक इतिहास का चित्रण करने का प्रयास किया गया है। यह सच है कि हम भारतीय इतिहास को न तो, हिन्दू, मुसलमान तथा अंग्रेजी, और न प्राचीन, मध्य और वर्तमान युग में विभाजित कर सकते हैं। इतिहास समय की शृंखला से नहीं बाँधा जा सकता है। यह तो एक चक्र के रूप में बराबर घूमता रहता है और अपनी कृतियों को दुहराता है। इसीलिए उसका अध्ययन अपने को समझने के लिए अनिवार्य है जिससे आगे बढ़ते समय हम सावधान हो जाये। पुस्तक में प्रत्येक काल की सांस्कृतिक परम्पराओं पर प्रकाश डाला गया है और उसी का ऐतिहासिक दृष्टि से चित्रण किया गया है। आशा है कि पुस्तक भारतीय संस्कृति को समझने में लाभदायक सिद्ध होगी।

विषय सूची

—:०:—

अध्याय 1

सिन्धु घाटी से सरस्वती तक

भारतीय इतिहास की वास्तविक रूपरेखा तो ईसा पूर्व छटी शताब्दी से आरम्भ होती है, क्योंकि इसके पहिले का इतिहास क्रम रूप से उपलब्ध नहीं है, पर इस देश की संस्कृति को हम इस तिथि से भी कई सहस्त्र वर्ष पूर्व तक ले जा सकते हैं। धार्मिक ग्रन्थों के स्थान पर खन्डहर अपनी कहानी सुनाने के लिए मौजूद हैं। पुरातत्व विज्ञान ने ऐतिहासिकों की पूर्ण रूप से सहायता की है, और यह बात प्रमाणित होती है कि भारतीय संस्कृति ने भौगोलिक श्रंखलाओं को तोड़कर इस देश के बाहर भी अपनी सत्ता स्थापित रक्खी। तीन ओर के समुद्र और उत्तर में विशाल हिमालय पर्वत ने भारत को अन्य देशों से प्रथक रखना चाहा पर विदेशियों का समय समय पर यहां आगमन हुआ। इस जननी ने रक्त, देश, तथा जातीयता की भावना को तिलांजलि देकर हर एक को आश्रय दिया। भारतीय संस्कृति, जो आदिकाल से धार्मिक उदारता तथा 'एकं सद् विप्रा बहुधा वदन्ति' की चट्टान पर सुरक्षित थी, राजनैतिक थपेड़ों के सामने अचल और अटूट होकर खड़ी रही और आज भी वह प्राचीन होते हुए भी नवीन प्रतीत होती है। असीरी, हिटटी तथा मितानी इत्यादि प्राचीन सभ्यताएँ, अपना अस्तित्व खोकर, स्मृति चिन्ह के रूप में केवल संग्रहालयों में सुरक्षित है, पर भारतीय सभ्यता पूर्णतया जागृति है। अतः हम इस पांच सहस्त्र वर्ष के प्रत्येक रूप का चित्रण करने का प्रयास करेंगे।

हिमालय का महत्व

भारतीय इतिहास की सांस्कृतिक परम्परा को स्थिर रखने का श्रेय हिमालय पर्वत को है जो एक अचल और अटूट चट्टान के रूप में इस देश

को सदैव से ही सुरक्षित रक्खे हुए है। उत्तर पश्चिम के खैबर और बोलन के दर्रों से भिन्न भिन्न समय में विदेशी यहां आये, पर उत्तर तथा उत्तरपूर्व से यहाँ प्रवेश करने के साधन न थे। इसका परिणाम यह हुआ कि आर्यावर्त की भारतीय संस्कृति को किसी प्रकार की क्षति नहीं पहुंची, और यह पूर्ण रूप से फली फूली। जो विदेशी पश्चिमी मार्ग से आये भी, वे भारतीय संस्कृति के रूप में इस प्रकार रंग गये कि उनका न तो कोई व्यक्तिगत और न सामूहिक प्रभाव ही इस आर्यावर्त की संस्कृति पर पड़ा। मुसलमानी, अरब सामुद्रिक मार्ग से सिन्ध प्रान्त में सातवीं शताब्दी में आये पर उनका उत्तरी भारत पर ग्यारवीं शताब्दी तक अधिकार न हो सका। हिमालय की भाँति विन्ध्यापर्वत ने दक्षिणी भारत को सुरक्षा प्रदान की, पर आर्य और द्राविण सभ्यता के संतुलन ने हिन्दु धर्म को जन्म दिया जो वर्णव्यवस्था, कर्म, तथा भक्ति को लेकर आज भी उसी प्रकार सम्पूर्ण भारत में जागृति है। वास्तव में यदि हिमालय पर्वत उत्तर में भारत की रक्षा के लिये न होता तो कदाचित् उत्तरी भारत की संस्कृति उन लड़ाकू और जंगली जातियों का शिकार हो गई होती जिन्होंने चीन की पश्चिमी सीमा पर और मध्य एशिया में बड़ा उपद्रव किया।

आदि सभ्यता के प्रतीक :

भारत की प्राचीनतम सभ्यता के प्रतीक दक्षिण में मद्रास के निकट चुडप तथा गुंतूर जिले के ओंगोल नामक स्थान में मिले हैं। इन पुरातन प्रस्तर युग के अवशेषों का अध्ययन वरकिट महोदय ने किया हैं। प्राचीनतम सभ्यता के अवशेष-कुल्हाड़े तथा काटने के औजारों--की समानता दक्षिणी अफ्रीका तथा दक्षिणी आंग्लभूमि में मिले औज़ारों से की जा सकती है और पिगट के मतानुसार तीनों देशों में एकही क्रम से यह बनाये गये। निर्माण विधि में समानता होना या तो मनोवैज्ञानिक प्रवृति की एक उदाहरण है, अथवा उस अति प्राचीन काल में भी यातायात की असुविधाओं की उपेक्षा करके मनुष्य अपने विचारों को दूर तक भेजने में सफल हो सका। इस

सभ्यता के कुछ अवशेष नर्मदा की घाटी तथा मिर्ज़ापुर के निकट भी मिले हैं ।

नवीन प्रस्तर युग में मनुष्य ने अच्छीं प्रगति की । उसके पत्थर के गढ़े, साफ़ चिकने और कई आकारों के थे, और इस युग की सभ्यता के भग्नावशेष बहुत से स्थानों में मिले हैं । विशेष रूप से मिर्ज़ापुर जिले में विन्ध्या की पहाड़ी में पत्थर पर अंकित कुछ चित्र, तथा होशंगाबाद ज़िले और सिंगनपुर और कैमूर की पहाड़ियों में अंकित कुछ चित्र भी उल्लेखनीय है जिनकी समानता मेक्सिकों में चट्टानों पर अंकित कुछ चित्रों से की जा सकती है । इस युग में पत्थर के समाधि स्थानों का निर्माण होना आरम्भ हुआ जिसके उदाहरण दक्षिण भारत में मिले हैं और विशेषतया इसके लिये मैसोर का ब्रह्मगिरि प्रसिद्ध है जहाँ पर खुदाई भी हो चुकी है ।

सिन्धुघाटी सभ्यता

पाषाण के पश्चात् उत्तरी भारत में ताम्र और दक्षिण भारत में लौह युग का प्रादुर्भाव हुआ । सिन्धु घाटी में कांसे का प्रयोग लोहे से पहिले हुआ । वास्तव में उत्तरी भारत में लोहे का प्रयोग शीघ्र ही होने लगा क्योंकि अर्थववेद में इसका उल्लेख भी आया है । इन सभ्यताओं का पूर्णतया दिग्दर्शन तो कहीं नहीं हो सका पर मोहेनजोदड़ों की खोज ने भारतीय संस्कृति के विशेष युग का पट खोल दिया । इस सभ्यता को हम न तो इसी नगर के नाम से सम्बोधित कर सकते हैं और न यहीं तक इसे सीमित ही रख सकते हैं। इसका कारण यह हैं कि इससे सम्बन्धित लगभग ६० केन्द्र मिले हैं जो उत्तर में शिमला पहाड़ियों के दक्षिण में स्थित रूपर से लेकर करांची से ३०० मील पश्चिम में अरब सागर पर स्थिति शुक्तगेनडोर नामक स्थान तथा फैले हैं। इधर काठियावार और गुजरात में लोथाल तथा रंगपुर नामक स्थानों में भी इसके अवशेष प्राप्त हुए है । इसको सिन्धु घाटी सभ्यता कह कर सम्बोधित किया जाता है। इस सभ्यता के मुख्य

केन्द्रों में मोहेनजोदड़ों तथा हरप्पा को रखा जा सकता है जिनकी दूरी लगभग ३५० मील है। यहाँ इसके केवल मुख्य अंगों पर ही विचार करना है।

नगर निर्माण

सिन्धु घाटी सभ्यता की विशेषता यह है कि यह नागरिक है और भग्नावशेषों से प्रतीत होता है कि नगर निवासी सुगठित और सुसभ्य थे जिन्हें स्वास्थ्य का पूर्ण ज्ञान था तथा उन्होंने विदेशी आक्रमणकारियों से नगर की रक्षा का समुचित प्रबन्ध कर लिया था। यहाँ पर यह कह देना आवश्यक है कि इन दोनों नगरों के अवशेषों को बड़ी ही क्षति पहुँची और हरप्पा की प्राचीन ईटों का रेल की पटरी बिछाते समय कंकड़ के रूप में प्रयोग किया गया। १९२२ से क्रमशः वैज्ञानिक ढंग से खुदाई कराके ही इन विशाल नगरों का दिग्दर्शन कराया जा सका है। दोनों नगरों के अवशेष लगभग तीन-तीन मील के घेरे में स्थित हैं और दोनों ही स्थानों में दो प्रकार के टीले हैं। पश्चिम की ओर वाला टीला पूर्व में स्थित टीले से ऊँचा है। यह गढ़ का संकेत करता है जो विदेशी आक्रमणकारियों से रक्षा के लिये बनाया जाता था और यहीं पर कुछ मिट्टी की पकी हुई गोलियाँ भी मिली। या तो यह गुलेल द्वारा फेकी जाती थीं अथवा इनका प्रयोग हाथ से होता था। इनके अतिरिक्त कुछ अन्य छोटे औज़ार भी मिले जिनका साधारण जीवन में भी प्रयोग हो सकता था, जैसे चाकू इत्यादि। यह गढ़ चतुर्भुज आकार का होता था और इसके चारों ओर मिट्टी की ऊँची दीवालें थी जिसमें थोड़ी-थोड़ी दूर पर बुर्ज थे। यहाँ से थोड़ी दूर पर कोष्ठागार के अवशेष मिले जैसा कि हरप्पा में भी निकला है। इससे प्रतीत होता हैं कि रक्षा के समय संचित अन्न का पूर्णरूप से प्रबन्ध था। नगर का दूसरा भाग साधारण जनता के निवास के लिये था और यहाँ पर सुरक्षा के लिये किसी प्रकार का गढ़ इत्यादि न था। खुदाई में बड़ी चौड़ी सड़कें तथा बड़ी नालियाँ भी निकली। इससे प्रतीत होता है कि नगर

की स्वच्छता की ओर पूरा ध्यान था। मकानों में बड़े और छोटे कमरे थ और उनके द्वार पीछे से थे । मोहेनजोदड़ो का प्रसिद्ध तालाब विशेष रूप से उल्लेखनीय है। नगर निर्माण के कारण सिन्धु घाटी के दोनों नगरों की समानता मेसोपोटामिया के तृतीय सहस्त्राब्दी काल के उर इत्यादि नगरों से की जा सकती है।

सामाजिक तथा आर्थिक व्यवस्था

खुदाई में मिली मिट्टी की छोटी मूर्तियों से यहाँ के निवासियों की वेष भूषा, आभूषण, आमोद प्रमोद, तथा खिलौने इत्यादि पर प्रकाश डाला जा सकता है। इनकी वेष भूषा तथा भाँति-भाँति के आभूषण उनकी सामाजिक श्रेष्ठता तथा आर्थिक दृढ़ता के प्रतीक है। स्त्री तथा पुरुष नाना प्रकार से अपने केशों को समाहरते थे। आभूषण सोने चाँदी तथा अन्य धातुओं के बनाये जाते थे । अमोद प्रमोद के साधनों में आखेट अथवा शिकार चित्र अंकित मिलते हैं; तथा पांसों से प्रतीत होता है कि इनका भी प्रयोग होता था। नगर सभ्यता होने के कारण यहाँ के निवासियों का सामाजिक जीवन बढ़ा चढ़ा था और अपनी कांक्षाओं की पूर्ति के लिये वे भारत के अन्य प्रान्तों तथा विदेशों से सम्पर्क स्थापित किए हुए थे। उसका प्रमाण उन पदार्थों का उपभोग है जो उस स्थान पर नहीं मिलते हैं। इस प्रकार की वस्तुओं का पश्चिमी एशिया के नगरों में मिलना वैदेशिक सम्पर्क संकेत करता है । उदाहरण के रूप में सोना तथा बिल्लौरी पत्थर कदाचित मौसोर से आता होगा, तथा चाँदी, वैडूर्य और काँसा का श्रोत्र अफगानिस्तान रहा होगा। पश्चिमी ऐशिया, मिश्र, तथा यूनान के साथ सांस्कृतिक तथा व्यापारिक सम्बन्ध रहा होगा और यह अनुमान करना पड़ेगा कि भारत का इन देशों के साथ आदान प्रदान था। आर्थिक क्षेत्र में भारत अग्रसर था जैसा कि यहाँ पर मिले बहुत से बटहरों से ज्ञात होता है जिनका प्रयोग केवल सम्पन्न तथा सुगठित आर्थिक समाज में ही हो सकता है; और कदाचित भारत से विदेशों को

माल जाता था । यद्यपि जलयान अथवा जहाज़ प्रत्यक्ष रूप से किसी मोहर पर अंकित नहीं है तथापि यह अनुमान किया जा सकता है कि छोटे छोटे जहाज़ों का प्रयोग अवश्य होता होगा जैसा कि आज भी अरब के व्यापारी धोवे नामक नावों पर समुद्र तट के किनारे-किनारे खाड़ी की ओर चलते हैं । यह आश्चर्य की बात है कि तत्कालीन सिक्के उपलब्ध नहीं है ।

धार्मिक भावना

धार्मिक क्षेत्र में विदेश के साथ अधिक सम्पर्क था । यद्यपि सिन्धु घाटी के प्राचीन नगरों में अभी तक कोई मन्दिर के भग्नावेशष नहीं मिले है तथापि पशुपति तथा मातृ देवी की नग्न मूर्तियों से यह अनुमान किया जा सकता है कि यहाँ पर भी बहुत से मन्दिर रहे होंगे जहाँ इन देवी देवताओं की उपासना की जाती होगी । सबसे सुन्दर मूर्ति उस योगी देवता की है जिसकी समानता रुद्र अथवा शिव से की जाती है । नग्नावस्था में मातृदेवी की मूर्तियाँ यह प्रदर्शित करती हैं कि उस समय में इन दोनों के समागम से संसार उत्पति की भावना पूर्णरूप से फैल चुकी थी । दो दो फीट के चिकने पत्थर कदाचित् लिंग का संकेत करते हैं । इस प्रजनन शक्ति के उपासक सिन्धु घाटी से लेकर पश्चिमी ऐशिया तथा यूनान तक फैले हुए थे । यह अनुमान किया जाता है कि मातृदेवी की उपासना द्राविण सभ्यता की देन है जो आर्यों के आगमन से पहिले ही भारत में फली-फूली और उच्च कोटि की थी । इस मातृ देवी का नाम कहीं नहीं मिलता है पर द्राविण भाषाओं के आधार पर अम्मा; अम्बे शब्द का प्रयोग बहुत ही प्राचीन प्रतीत होता आया है और यही नाम करण करना अनुचित तथा अस्वाभाविक न होगा । माँ के लिये अम्मा शब्द का प्रयोग तो आज भी किया जाता है । यह भी विश्वास किया जाता है कि मोहरों पर अंकित वृक्षों से कदाचित् वृक्ष पूजा का संकेत रहा होगा, और इसकी समानता बेविलोन के जीवन वृक्ष से की जा सकती है । धार्मिक अवशेष भारत तथा पश्चिमी ऐशिया के बीच एक दृढ़ बंधन का

प्रतीक है जो केवल सांस्कृतिक क्षेत्र तक ही सीमित न रहा वरन् धार्मिक क्षेत्र में वह स्थायी रूप से रहा। इस प्राचीन सभ्यता की देन मन्दिरों का निर्माण, मूर्ति पूजा, लिंग उपासना तथा शक्ति की प्रधानता भारत से बाहर अन्य देशों के धार्मिक जीवन का विशेष अंग रही। यद्यपि आर्य लोगों ने अपने ऋग्वैदिक काल में इसकी ओर से आँखे मोड़ी; पर उन्हें भी बाध्य होकर उस व्रात्य सम्प्रदाय को अपनाना पड़ा जिसका मुख्य अंग लिंग, योनि तथा शक्ति की उपासना था और शिव को 'एकव्रात' उपाधि से सम्बोधित किया गया। इससे यह प्रतीत होता है कि आर्य संस्कृति में सिन्धुघाटी की सभ्यता क्रमश: संतुलित हो गई।

लिपि, तिथि तथा अन्त

बहुत से विद्वानों ने उस मोहरों पर अंक्ति चिन्हों को पढ़ने का प्रयास किया है और वे इसमें अपने को सफल भी मान चुके हैं पर यदि कई विद्वान् अपने अनुसंधानों की गाथा गाते रहें तो उनकी सत्यता को तभी परखा जा सकता है जब ऐमी कसौटी मिले जिस पर उनके प्रयोगों को घिसा जा सके। मिश्र की चित्र लेखन कला का भी ज्ञान उसी समय हो सका जब यूनानी भाषा में उसकी प्रतिलिपि प्राप्त हो गई। अत: सिन्धुघाटी सभ्यता में मिली मोहरों पर अंक्ति चिन्हों से कोई निष्कर्ष तब तक निकालना कठिन है जब तक कि कोई ऐसा लेख हाथ में न आवे जिसमें एक ओर तो यह चिन्ह हों और दूसरी ओर ज्ञात भाषा अंकित हो। इससे पहिले मोहरों पर अंकित चिन्हों के किसी प्रकार का निष्कर्ष निकालना अवैज्ञानिक प्रतीत होगा।

सिन्धु घाटी सभ्यता की तिथि निर्धारित करने के लिये हमें उन अन्य देशों में खुदाई के अनुसंधानों से सहायता मिल सकती है। गाड महोदय ने मेसोपोटामिया के उर नगर में मिली १६ मोहरों, तथा किश, मूसा लगाश, उम्म, टेल अस्मार में मिली कई मोहरों पर विचार किया, जिनकी सिन्धु घाटी की मोहरों से समानता प्रतीत होती है। इनमें से केवल १२ मोहरों की तिथि का पता है। इनको ईसा पूर्व लगभग २३५० में रक्खा

जा सकता है । इस आधार पर यह अनुमान किया जाता है कि मोहेन-जोदड़ों का वह युग जहां यह मोहरें मिली है लगभग इसी काल अथवा इससे पहिले का होगा । मोहेनजोदड़ों में अभी प्राचीनतम परत तक नहीं पहुंचा जा सका क्योंकि खुदाई कराने पर पानी निकल आता है । अतः सिन्धु घाटी की सबसे प्राचीन सभ्यता को हम ईसा से लगभग ३,००० वर्ष पूर्व निर्धारित कर सकते हैं ।

इस सभ्यता के अंत के विषय में प्रायः यह कहा जाता है कि इसका पतन आर्यों द्वारा हुआ क्योंकि यह द्राविणों से सम्बन्धित थी । ह्वीलर महोदय ने इसकी पुष्टि हरप्पा के गढ़ तथा उसकी दीवार द्वारा की और उनका कथन है कि आर्यों से रक्षा के लिये सिन्धु निवासियों में ऐसे गढ़ का निर्माण किया था । उस विषय में लक्ष्मण स्वरूप तथा कुछ अन्य विद्वानो का कथन है कि वैदिक सभ्यता सिन्धु घाटी सभ्यता से प्राचीन हैं पर इसीकी पुष्टि नहीं की जा सकती है । इतना अवश्य मानना पड़ेगा कि सिन्धु घाटी सभ्यता सबसे प्राचीन है पर उसका अन्त हुआ भी अथवा नहीं यह सन्देहजनक है । यह सम्भव है कि किसी प्रकार का आक्रमण हुआ हो अथवा सिन्धु की बाढ़ से इस नगर को क्षति पहुंची हो, पर सभ्यता का अन्त न तो दैवि गति और न सहसा आक्रमण से ही हो सकता है। यह तो किसी में परिणित ही हो सकती है और वह भी शनैः शनैः । ऐसी दशा में उसके भिन्न भिन्न अंगों को अपनाने का प्रयास किया जाता है । अतः यह अस्वाभाविक न प्रतीत होगा यदि हम मान लें कि आर्य संस्कृति में इसका संतुलन हो गया । एक ओर तो विद्वानों का कथन है कि भारत की आर्य सभ्यता में द्राविण सभ्यता समा गई और दूसरी ओर दक्षिण के कुछ विद्वानों का मत है कि आर्य स्वयं द्राविण सभ्यता में रंग गये । दोनों की पूर्णतया पुष्टि अथवा उनका खन्डन कठिन है पर यह सत्य है कि हिन्दू धर्म इन दोनों के संतुलन की देन है ।

अध्याय २

वैदिक वाङ्मय

ऋग्वेद तथा आर्यों के भारत आगमन के प्रश्न एक दूसरे से सम्बन्धित हैं। ऋग्वेद में पंजाब की सिन्धु तथा उसकी सहायक नदियां तथा अफ़-गानिस्तान की कुभा, क्रमु, गोमती, और सुवास्तु जिनकी समानता वर्तमान काबुल, खुरम्, गोमल, और स्वात नदी से की जा सकती है, और पूर्व में सरस्वती, दृष्दवती तथा गंगा और यमुना का ही उल्लेख है, पर पूर्वीय तथा दक्षिणी नदियों का कहीं भी विवरण नहीं मिलता है। इससे यह समझा जाता है कि आर्य विदेशी थे अन्यथा वे सम्पूर्ण भारत के भूगोल से क्यों अनिभिज्ञ होते। इसके विपरीत अन्य विद्वानों की धारणा है कि यदि आर्य बाहर से आये तो ऋग्वेद में उनके निवास स्थान का कहीं उल्लेख क्यों नहीं मिलता। इसके उत्तर में कहा जा सकता है कि आर्य अपने उद्गमस्थान से बहुत पहिले ही चल चुके थे और ऋग्वेद का बहुत सा भाग पहिले ही रचा जा चुका था। हां! उनका पूर्णतया संकलन और लिखना बहुत बाद में हुआ। वास्तविक रूप से यह प्रतीत होता है कि आर्य लोगों का विदेश से भारत में आगमन हुआ और ईरानियों ने इनका बहुत दूर तक साथ दिया जिसके फलस्वरूप ऋग्वेद तथा आवेस्ता में बहुत कुछ समानता मिलती है। भाषा विज्ञान के आधार पर यह कहा जा सकता है कि आर्य लोगों की सन्तानें यूरोप तथा भारत में पाई जाती हैं।

तिथि

वैदिक साहित्य तथा इसमें वर्णित भारतीय संस्कृति की रूपरेखा प्रदर्शित करने से पहिले यह आवश्यक है कि हम इस वैदिक काल की तिथि निर्धारित

कर सके । इस सम्बन्ध में हमें सबसे पहिले ऋग्वेद की तिथि निर्धारित करना पड़ेगी और उस दिशा में वैदिक साहित्य तथा कुछ अन्य विदेशी श्रोत्रों से सहायता मिल सकती है । ऐशिया माइनर में बोगसक्वाई में मिला लेख विशेष-तया उल्लेखनीय है । इस लेख में हिटटी और मितानी नामक दो जातियों की सन्धि की रक्षा के लिये इन्द्र, मित्र, वरूण तथा अश्विन् कुमार की स्तुति की गई है । यह कहा जा चुका है कि यह देवता उस काल के हैं जब आर्य और ईरानी एक साथ थे पर स्टेनकनो ने यह प्रमाणित कर दिया कि इनके नाम संस्कृत से सम्बन्ध रखते हैं और यह देवता भारतीय थे। लेख की तिथि ईसा पूर्व की १४ वीं शताब्दी है । अतः ऋग्वेद को उससे बहुत पहिले रखना चाहिए। इस लेख के अतिरिक्त टेल अमरना से प्राप्त कुछ प्रसिद्ध पत्रों में अतितम तुष्पत और सुर्तन इत्यादि नाम मिले हैं जो संस्कृत नाम करण से मिलते जुलते हैं । ऐसे ही नाम बेबीलोन के असीरी कुमारों के भी हैं जैसे बुरिय, सूर्य, मर्त्य, मरूना, जिनका राज्यकाल ई० पू० १७ वीं शताब्दी से १२ शताब्दी तक है । अतः यह मानना पड़ेगा कि ऋग्वेद का समय इससे कहीं पहिले का है । इसकी पुष्टि वैदिक साहित्य से स्वतः हो सकती है, जिसमें ऋग्वेदके अतिरिक्त अन्य संहितायें यजु, अथर्व, तथा साम और सम्पूर्ण ब्राह्मण साहित्य तथा सूत्र, आर्ण्यक, और उपनिषद् हैं । यह सब बौद्ध धर्म की व्युतपति से पहिले ही रचे जा चुके थे और यह अपना-अपना साहि-त्यिक युग संकेत करते हैं । इनके विषय, शैली इत्यादि एक दूसरे से भिन्न हैं । यदि एक-एक साहित्यिक युग को हम चार-पाँच सौ वर्ष तक भी रक्खे तो ऋग्वैदिक काल को हम ईसा से २५०० वर्ष पूर्व रख सकते हैं ।

वैदिक समाज की रूपरेखा

यद्यपि भारतीय संस्कृति वैदिक परम्परा से [ही वैसी ही बनी है और इसके मूल आदर्शों में कोई विशेष अन्तर नहीं हुआ है तथापि प्रत्येक युग का कुछ न कुछ अंश अवश्य है । ऋग्वैदिक काल में आर्यों का संघर्ष आदि निवासियों से होना आवश्यक था, अतः संस्कृति की सुरक्षा और अपने रक्त

की शुद्धता के लिये उन्होंने अपना प्रथक क्षेत्र रक्खा। इसीलिए इस ग्रन्थ में इन अनार्यों के लिये अनास (चिपटी नाक वाले), मृद्धवाक् (अश्लील शब्दों का उच्चारण करने वाले), अदेवयु (नास्तिक), अब्रह्मण इत्यादि शब्दों का प्रयोग किया है जिससे प्रतीत होता है कि इन आदि निवासियों की अपनी संस्कृति थी और आर्यो को इनके साथ कठिनाईयों का सामना करना पड़ता था। इसीलिए उन्होंने अपने देव इष्टों से सहायता माँगी कि वे उन्हें इन अनार्यों पर विजय प्रदान करें। आर्य संस्कृति ग्रामीण थी और सिन्धु घाटी सभ्यता के नगरों की भाँति उनके पास कोई बड़े नगर नहीं थे। वे तो अफगानिस्तान से लेकर सरस्वती के निकट तक फैले हुए थे और उनके बहुत से छोटे-छोटे राज्य थे, जैसा कि सुदास और दश राजन्य के युद्ध से प्रतीत होता है। यहाँ पर बहुत से अनार्य राज्य भी थे जैसे अज, शृंग इत्यादि। आर्यों के सामाजिक जीवन में कौटुम्ब प्रणाली का महत्व था और गृहपति की अधिकार सर्वोत्तम था। स्त्रियों को स्वतन्त्रता तो थी पर एक परिधि के भीतर। उनका आर्थिक जीवन खेती तथा पशुपाल्य तक सीमित था यद्यपि कुछ छोटे पदार्थों के निर्माण का भी उल्लेख मिलता है। जनतन्त्रवाद की भावना का उदाहरण सभा और समिति से प्रतीत होता है जिसमें सब सदस्यों को एक चित, एक मन, तथा एक विचार से समस्याओं को हल करने का आदेश दिया गया है। धार्मिक क्षेत्र में सहिष्णुता प्रधान थी और 'एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्ति' की तत्कालीन भावना आज भी प्राचीन परम्परा का स्मृति चिन्ह है। यह मानना पड़ेगा कि विद्वता में आर्य बढ़े-चढ़े थे और शिक्षा प्रणाली समुचित थी।

ऋग्वेद में भारतीय संस्कृति का सूर्य प्रभात काल की भाँति उठता हुआ नही वरन् मध्याह्न काल के मारतन्ड का सा देदीप्यमान प्रतीत होता है। अतः यह कहना कि सभ्यता का आरम्भ ऋग्वैदिक काल से ही हुआ भ्रमात्मक प्रतीत होगा। हाँ! यह मान सकते हैं कि सभ्यता का क्षेत्र अभी विस्तृत नहीं हुआ था। उत्तर वैदिक काल में सप्तसिन्धु के स्थान पर आर्यावर्त भारतीय संस्कृति की पुष्टि भूमि थी। नवीन राज्यों का उद्भव हुआ जिनमें

कुरू, काशी, कौशल तथा विदेह ही प्रमुख थे । अफ़ग़ानिस्तान तथा पश्चिमी पंजाब अब आर्य सांस्कृतिक परिधि से बाहर हो गये । इस उत्तर वैदिक काल को हम ईसा पूर्व १५००—६०० तक रख सकते हैं और इस समय में अन्य वैदिक संहिताये, ब्राह्मण, आरण्यक, तथा उपनिषदों की रचना हुई । सामवेद में तो ऋग्वेद से ही उद्धृत ऋचाओं का संक-किया है किन्तु यजु और अर्थव की ऋचायें नवीन हैं । शत्रु पर विजय के लिये देवी देवताओं की स्तुति तथा यज्ञ आहुति द्वारा लौकिक और पारलौकिक सुख की आकांक्षा ने वैदिक साहित्य में बड़ी प्रगति दिखाई । एक और तो देवताओं की संख्या बढ़ी और दूसरी ओर कई प्रकार के यज्ञ तथा उसके विधान निर्धारित किये गये । इनके अतिरिक्त एक दूसरी विचार धारा का प्रवाह हुआ जिसका ध्येय ईश्वर के गुण तथा स्वरूप, आत्मा, प्राण, जीवन का उद्देश्य तथा उससे सम्बन्धित अन्य प्रश्न और संसार की उत्पत्ति इत्यादि विषयों पर विचार करना था । इन पर पूर्ण-रूप से आर्ण्यकों तथा उपनिषदों में विचार किया गया है । यहाँ वैदिक साहित्य के उन अंगों का केवल उल्लेख करना ही ठीक होंगा जिन्होंने भारतीय सांस्कृतिक जीवन के प्रादुर्भाव में अपना योग प्रदान किया ।

उत्तर वैदिक सांस्कृति

यजुर्वेद का कर्मकांड से सम्बन्ध है और यह शुक्ल तथा कृष्ण भागों में विभाजित है । जाति व्यवस्था का वास्तविक संकेत यहीं से होता है । वाजसनेयी संहिता तथा शतपथ ब्राह्मण शुक्ल भाग का अंग है । अथर्ववेद में ७३१ सूत्र हैं जिनमें से कुछ बहुत प्राचीन प्रतीत होते हैं और इनमें भिन्न विषयों पर विचार विनिमय है, जैसे ज्वर इत्यादि हरने के लिये उपाय, कृषक गोपाल तथा वणिक् की सम्पन्नता के लिये विनती, विवाह आदि संस्कार के गीत, तथा सम्राट के उत्कर्ष के लिये प्रार्थना इत्यादि । ब्राह्मणों में यज्ञ सम्बन्धित विषयों पर गद्य में विस्तार

पूर्वक लिखा गया है, और प्रत्येक यज्ञ की उत्पत्ति पर प्रकाश डाला गया है। ऐतरेय ब्राह्मण का ऋग्वेद से सम्बन्ध है। इसमें सोमयज्ञ तथा राजसूय संस्कार कें विषय में विवेचना की गई है। सामवेद से संबंधित पंचविंशत है और उसके व्रात्यस्तोम से प्रतीत होता है कि अनार्यों को आर्य संस्कृति में स्थान प्रदान किया गया था। शतपथ ब्राह्मण का श्वेत यजुवेद से, और गोपथ ब्राह्मण का अथर्ववेद से सम्बन्ध है। आरण्यक में गूढ़ तथा दार्शनिक विपयों पर विचार किया गया हैं और ऐतरेय, कौषीटकी तथा तैत्तिरीय का उन्हीं नामकरण के ब्राह्मणों से सम्बन्ध है। ब्राह्मणों का अन्तिम चरण उपनिषदों में है। वैदिक कर्मकान्ड की पूर्ण-रूप से विवेचना ब्राह्मणों में की गई है। दार्शनिक अथवा ज्ञानकान्ड का पूर्णतया विकास उपनिषदों में हुआ जिसका मुख्य उपदेश जीवन की जटिल समस्याओं तथा शंकाओं का समाधान करके आत्मा को परमात्मा में लीन होने का मार्ग ढूढ़ निकालना था। इनमें छान्दोग्य तथा वृहदारण्यक विशेष रूप से उल्लेखनीय है।

ज्ञान तथा कर्म के साथ-साथ भारतीय समाज में भी बड़ी प्रगति हुई। इस काल में जाति निर्माण का कार्य पूर्णरूप से सफल हुआ। ऋग्वेद के पुरूष शुक्त में तो केवल इस ओर संकेत ही किया गया है और अब कर्म के आधार पर वर्ण व्यवस्था ने अपना स्वरूप धारण किया। ब्राह्मणों की प्रधानता स्वीकार की गई और अन्य क्षत्रियों तथा वैश्यों का क्षेत्र निर्धारित किया गया। इस वर्ष व्यवस्था के फलस्वरूप बड़ी प्रगति हुई। ब्राह्मणों द्वारा इस विशाल देववाणी के साहित्यिक भन्डार में वृद्धि हुई जो आज भी सब से श्रेष्ट है। राजन्य अथवा क्षत्रियों ने आर्य संस्कृति को आगे बढ़ाया और बहुत से नवीन राज्यों का निर्माण हुआ। वैश्य धनधान्य, पशुपालन तथा अन्य उद्योगों में अग्रसर हुए और उन्होंने आर्थिक जीवन कों सुगठित बनाया। उत्तर वैदिक साहित्य में बहुत से उद्योगों का उल्लेख है तथा इस काल में हिरण्य, रजत तथा अन्य धातुओं का प्रयोग होने लगा और मुद्राएें भी प्रचलित हुई। राजनैतिक

क्षत्र में अधिराज, राजाधिराज, सम्राट् तथा एकराट् नामक उपाधियों से सम्राट् को विभूषित किया गया जिससे विशाल साम्राज्य निर्माण का संकेत मिलता है । सम्राट् का चुनाव, तथा सभा और समिति नामक परिषदें तत्काल में जनतन्त्रवाद का प्रतीक थी । शिक्षा तथा साहित्यिक क्षेत्र में तो बहुत ही प्रगति हुई और इस काल की साहित्यिक तथा दार्शनिक परिषदें विशेषतया उल्लेखनीय हैं जिनमें विद्वानों का विशेष रूप से सत्कार किया जाता था । सम्राट् जनक द्वारा आयोजित सभा में याज्ञ्यवल्क सर्वश्रेष्ठ विद्वान घोषित किये गये थे और उन्हें पुरस्कार स्वरूप एक सहस्त्र गायें दी गई थीं जिनके सींघ सोने से मढ़े थे । क्षत्री तथा स्त्रियां भी शिक्षा क्षेत्र में पीछे न थी ।

उत्तर वैदिक काल के पश्चात् हम सूत्र, रामायण, महाभारत, तथा अन्य स्मृतियों को रख सकते हैं । यह सम्भव हैं कि कुछ ग्रन्थों का निर्माण बाद में हुआ हो पर जैन तथा बौद्ध धर्म के उत्कर्ष के पहिले उस सांस्कृतिक वाङमय की पूर्णरूप से रचना हो चुकी थी और इसी पृष्टिभूमि के आधार पर इन श्रमण धर्मों का प्रादुर्भाव हुआ । ज्ञान तथा कर्मकान्ड और तर्क की दो धाराएं धार्मिक क्षेत्र में बह निकली थी और यह आवश्यक था कि कोई मध्य मार्ग निकाला जाय जिस पर साधारण व्यक्ति बिना किसी भेद भाव के आगे बढ़ने का प्रयास कर सके, और इस मध्य मार्ग के पथ प्रदर्क्षक बुद्ध जी थे । कुछ धर्म सूत्र बुद्धजी से पहिले के हैं और कुछ का निर्माण बाद में हुआ। मेकडोनेल के मतानुसार वैदिक परम्परा के आधार पर निर्माणित इन धर्म सूत्रों को हम ईसा पूर्व ८०० से लेकर ३०० तक रख सकते हैं । पाणिनि की व्याकरण जो १४ माहेश्वर सूत्राणि के आधार पर बनी है, गोल्डश्टूकर के मतानुसार ईसा पूर्व ७०० में रक्खी जा सकती है। इस ग्रन्थ के अवलोकन से हमें सम्पूर्ण भारत तथा उत्तरी पश्चिमी दिशा के कुछ भागों का भौगोलिक ज्ञान तो होता ही है साथ ही साथ भारतीय संस्कृति की झांकी भी दिखलाई पड़ती हैं । इसमें सन्देह नहीं की प्राचीन संस्कृति विस्तृत तथा वैभवशाली थी जिसने समाज को एक ऐसे सांचे में ढाला है कि उसके अस्तित्व पर राजनैनिक

परिवर्तनों का प्रभाव नहीं पड़ सका । सामाजिक तथा आर्थिक जीवन में तो समयानुसार उन सब परिस्थितियों का सामना करने के लिए युक्तियाँ निर्धारित कर दीं थीं जिनके फलस्वरूप इस भारतीय संस्कृति को कोई क्षति नहीं पहुँची । इस परम्परा को तोड़ने का प्रयास किसी ने नहीं किया । हां ! धार्मिक क्षेत्र में मनुष्य के निर्वाण हेतु उसकी शंकाओं का समाधान करने के लिये और इस जीवन की अस्थिरता तथा पारलौकिक शान्ति प्राप्त के लिए नवीन धार्मिक भावनाओं का विकास हुआ । यह अपने क्षेत्र में फली फूली पर उस प्राचीन धार्मिक परम्परा का अस्तित्व नष्ट करने में सफल न हो सकी ।

अध्याय ३

जैन तथा बौद्ध धर्म का उत्कर्ष

सुगठित तथा सम्पन्न भारतीय सामाजिक और आर्थिक जीवन की पृष्टभूमि पर धार्मिक विचारों की धाराओं का बहना स्वाभाविक है। लोक सेवा तथा पारलौकिक सुख प्राप्ति के लिए मनुष्य सब प्रकार के साधनों का प्रयास करता है। यदि किसी पग पर ठोकर लगी तो इस जीवन की व्याधि और क्षणभंगुरता का पता उसे लगता है। विचारधारा आगे बढ़ी। क्या दुख का निवारण नहीं हो सकता है? क्या दुख के पश्चात् सुख का होना अनिवार्य है? यदि ऐसा है तो ऐसा प्रयास क्यों न किया जाय कि दुख ही न आने पावे और मनुष्य परम शान्ति को प्राप्त हो जाय। इस परम शान्ति के अस्तित्व, उसकी वास्तविकता, तथा उसके रूप के विषय में भी धारणा उत्पन्न होने लगती है। मनुष्य संसार को माया तथा मिथ्यापूर्ण समझता है। जैसा कि यूनानी इतिहासकारों ने भारतीय दार्शनिकों के विचारों के विषय में लिखा है, वे जीवन को गर्भ काल समझते हैं और वास्तविक जीवन मृत्यु के पश्चात् होता है। उस वास्तविक जीवन की प्राप्ति के लिए प्राचीन परम्परा के बहुत से साधनों को अपनाया गया है। वैदिक काल से ही यज्ञ की प्रधानता और ब्राह्मणों को दान देना ही अनिवार्य समझा गया है। पशुओं की आहुति देकर देवताओं को तृप्त करना सरल प्रतीत होता है पर उसका मनुष्य की मनोवृति पर प्रभाव होना स्वाभाविक है। उन सब विचारों को दृष्टिकोण में रख कर कोई अत्यन्त सरल मार्ग ढूढ़ निकालने के लिये दो पथ प्रदर्शक अग्रसर हुए। उन्होंने जातीयता की भावना और ब्राह्मणों की सत्ता तथा वैदिक परम्परा को लक्ष्य मान कर आघात करना आरम्भ कर दिया। उधर राजनैतिक क्षेत्र में एकता का अभाव था और

उत्तरी भारत में १६ राज्य थे जिनमें पारस्परिक स्पर्धा की भावना पूर्ण रूप से जागृत हो चुकी थी। अतः एक धार्मिक उत्तेजना का प्रादुर्भाव होना स्वाभाविक था पर इसका वेग राजनैतिक परिस्थित के कारण एक क्षेत्र तक ही सीमित रह गया। इस सम्बन्ध में हम अब जैन तथा बौद्ध धर्म के उत्थान, मुख्य सिद्धान्त तथा उनके विकास की चर्चा करेंगे।

महावीर का जीवन चरित्र

जैन किंवदन्तियों के अनुसार महाबीर के पूर्व २३ और तीर्थंकर हुए थे जिनमें सर्वप्रथम ऋषभ थे। यह अपने पुत्र भरत को राज्य देकर स्वयं सन्यासी हो गये थे। महाबीर से पहिले पार्श्व भी प्रमुख थे। यह तो संस्कृत साहित्य से ज्ञात होता है कि निगण्ठों से कदाचित जैनियों का संकेत रहा होगा और स्वयं महाबीर को निगण्ठ नागपुत्र नाम से संबोधित किया गया है। महाबीर का समय ईसा पूर्व छठी शताब्दी से पहिले निर्धारित किया जाता है। महाबीर का जन्म एक क्षत्री कुल में हुआ था और इनके पिता सिद्धार्थ वैशाली के निवासी थे और उनका विवाह लिच्छवि राजा चेतक की बहिन से हुआ था। तीस वर्ष की आयु तक गृहस्थ जीवन व्यतीत करने के पश्चात् उन्होंने अपने बड़े भाई की अनुमति लेकर घर को छोड़ा। बारह वर्ष तक कठिन तपस्या के पश्चात् तेरहवें वर्ष अनुपालिका नदी के निकट एक साल वृक्ष के नीचे उन्हें ज्ञान प्राप्त हुआ। उसके पश्चात् ३० वर्ष तक वे केवलिन अथवा जिन के रूप में अपने मत का प्रचार करते रहे। राजवंशज होने के कारण महाबीर के अनुयायी तत्कालीन राजवंशजों में बढे और इनके अतिरिक्त जहाँ-जहाँ लिच्छवि कन्यायें विवाहित होकर गई थीं वही उन्होंने जैन धर्म के प्रचार में भाग लिया। मगध सम्राट् बिम्बसार की एक रानी चेतक कुमारी चेलना थी और उसके कारण सम्राट् का भी इस ओर झुकाव हुआ। महाबीर के बहुत से अनुयायी थे। इनमें से उवासगदसाओं के अनुसार वाणीय-गाम का वणिक् कुमार आनन्द, चम्पा का कामदेव, वाराणसी का चुलानी पिया, तथा सूरदेव और पञ्चाल के कुण्डकोलिय इत्यादि थे।

शिक्षाएँ

जैन धर्म के मुख्य सिद्धान्तों में जीवन तथा अमर होने के साधनों पर विचार किया गया है। उत्तराध्यन सूत्र के अनुसार इस धर्म में तप के मार्ग को अपनाया गया है। सब का कारण कर्म है और मनुष्य को अपने कर्मों के अनुसार अनगिनित जन्ममरण दशाओं में भुगतना पड़ेगा। अतः मनुष्य को उस कर्म का नाश करने के लिये कठिन तप का प्रयास करना चाहिये। इसमें पार्श्व द्वारा उन चार निषेदों का उल्लेख है जिनमें महाबीर ने एक पाँचवा और जोड़ दिया है। यह पाँच क्रमशः जीव हत्या न करना, झूठ न बोलना, चोरी न करना तथा धन इत्यादि संचय न करना, और ब्रह्मचर्य धर्म का पालन करना है। इस पाँचवें व्रत के कारण ही गोसाल ने महाबीर का साथ छोड़ा था। सूत्रक्तिांग में तत्कालीन दार्शनिक तथा धार्मिक सम्प्रदायों का उल्लेख है। वे क्रमशः बौद्ध, बार्हस्पत्य, नास्तिक अथवा चारवाक्, वेदान्तिक, सांख्य, अद्रिष्टवादिन्, आजीविक, त्रैशशिक तथा शैव थे। इसमें से प्रत्येक की अपनी विचार धारा थी और वे जीवन के प्रश्नों पर अपने दृष्टिकोण से विचार करते थे। यहाँ उनके दार्शनिक सिद्धान्तों पर प्रकाश डालना ठीक न होगा। केवल इतना कहना पर्याप्त होगा कि जीवन की जटिल समस्याओं तथा पारलौकिक सुख की प्राप्ति के लिये भिन्न-भिन्न विचारधाराओं ने अपना स्थान ग्रहण कर लिया था और प्रत्येक के अपने अपने अनुयायी भी थे। जैन धर्म का प्रचार दो कारणों से हुआ। एक तो इस धर्म प्रवर्तक का तत्कालीन बड़े राज्यों से सम्बन्ध था और उनके शासकों ने इसकी प्रगति में योग दिया, तथा दूसरे इस धर्म के मूल सिद्धान्तों में मनुष्य की श्रेष्ठता और स्वतः ऊँचे पहुंच कर उस अर्न्तवती अवस्था को प्राप्त करने की शक्ति पर जोर देना भी था। दृढ़ संकल्प से ही उसे निर्दोष स्वरूप प्राप्त हो सकता है। जैन धर्म के अनुसार उस नियमित रूप से जीवन की दिनचर्या का आदेश दिया गया है जिसके फलस्वरूप मनुष्य एक ओर अपने संकल्प को दिन प्रतिदिन दृढ़ बनाकर उस

सत्चिद् आनन्द का स्वरूप प्राप्त कर सके, और दूसरी ओर अपने प्रयास में वह किसी भी प्राणी मात्र को लेश मात्र भी कष्ट न दे। आन्तरिक तथा वाह्यतप साधना से ही मनुष्य ऊपर उठ सकता है। महाबीर की मत्यु ईसा पूर्व ५४६ में ७२ वर्ष की अवस्था में हुई। जैन धर्म तथा संघ में भेद का अंकुर पहिले से ही पड़ गया था और धीरे-धीरे उसने उग्ररूप धारण करना आरम्भ किया। मगध के अतिरिक्त कलिंग, उज्जैनी, तथा मथुरा में इसके विशाल केन्द्र थे और कुषाण कालीन कुछ लेखों में विदेशियों के नामों से प्रतीत होता है कि जैन धर्म को बहुत से विदेशियों ने भी अपनाया था। मध्यकालीन भारत में यह धर्म गुजरात तथा बलभी में पूर्णरूप से विकसित हुआ और वलभी की सभा विशेषतया उल्लेनीय है।

बुद्ध जी और उनका धर्म

भारतीय संस्कृति की एक महान देन बुद्ध जी तथा बुद्ध धर्म है। बुद्धजी का नाम तो आज भी संसार के सम्मुख आदरणीय है और उनके धर्म को भी भारत से बाहर सुदूर पूर्व एशिया के निवासी अपनाते हैं। यह कहना भूल होगा कि बुद्धजी ने भारतीय संस्कृति को तिलांजलि दे कर अपने धर्म का प्रचार किया। वास्तव में बौद्ध धर्म का भारत से लुप्त होने का एक कारण यह भी था कि बुद्धजी को केवल ब्राह्मण देवताओं में स्थान ही नहीं मिला वरन् उन्हें अवतार मानकर भक्ति की भावना में ऐसा रंगा कि बौद्ध धर्म में कोई नवीन विचार धारा ही नहीं रह गई। अतः इस धर्म के विकास का यहाँ क्षेत्र ही न रहा और नवीनता का अभाव उस धार्मिक स्फूरता में बाधक सिद्ध हुआ। उस महान शक्ति जिसने इस धर्म को जन्म दिया अब पुनः इस देश में अपना स्थान प्राप्त कर सकी है। यह बात ध्यान देने योग्य है कि बुद्ध जी की पूजा और उपासना ब्राह्मण समाज का एक अंग बन गई है। उदाहरण के रूप में सनातन धर्मवलम्बी पितृतर्पन के लिये गया जाकर बौध गया में बुद्धजी के दर्शन अवश्य करते हैं; और यही धार्मिक धारणा वाराणसी के निकट सारनाथ के बौध मन्दिर

के विषय में है। वर्त्तमान युग की धार्मिक सहिष्णुता का यह प्रतीक है। उस महान व्यक्ति के जीवन और उनके धर्म के विषय में कुछ ज्ञान प्राप्त करना आवश्यक है।

जीवन तथा आदेश

शाक्य राजवंश में बुद्ध जी का जन्म ईसा पूर्व ५६३ में नैपाल की तराई कपिलवस्तु में हुआ। सिंहली किंवदन्तियों के अनुमार उनकी जन्म-तिथि को ईसा पूर्व ६२३ में रक्खा जाता है। यह महावीर जी के छोटे समकालीन थे। इनका बचपन का जीवन बड़े लाड़ प्यार से बीता और इनकी आँखे सदैव इस जीवन की क्षण भंगुरता की ओर लगी रहती थीं और उन्हें यह दुखद ही प्रतीत होता था। उन्होंने अपने कर्तव्यों का पूर्ण रूप से पालन किया; शिक्षा भी प्राप्त की और गृहस्थ जीवन भी थोड़े समय निभाया। संसार के वास्तविक रूप के कारण इनको शान्ति न मिल सकी और प्रत्येक क्षेत्र में उन्हें दुख ही दुख प्रतीत होने लगा। अतः इस दुख के निवारण के लिए उन्होंने अपने ग्रहस्थ जीवन को तिलान्जलि देकर अनन्त सुख की प्राप्ति करने का प्रयास किया जिसमें दुख का स्थान ही न हो। गृह त्याग के समय उनकी आयु २८ वर्ष की थी। उस समय से लेकर ३५ वर्ष तक की आयु तक उन्होंने सभी प्रकार की साधनाये की। एक परिब्राजाक के लिये संसार से विरक्त होकर जंगलों में एकान्तवास करना सरल न था। कठिन तप से उनका शरीर केवल एक ढाँचा रह गया पर उन्हें शान्ति न मिली और न उनकी साधना ही सफल हुई। सुजाता द्वारा खीर का पान कर वैशाख की पूर्णिमा को बोधी वृक्ष के नीचे उनके आन्तरिक चक्षु पट खुल गये और उन्होंने उस अजर अमर दुखरहित शान्तिमय जीवन की प्राप्ति का मार्ग ढूढ़ निकाला। यह मार्ग न तो कठिन तप द्वारा ही प्राप्त हो सकता था, जैसा कि जैन अथवा निगण्ठों का विचार था, और न यज्ञ तथा ब्राह्मणों के सत्कार से मिलने की संभावना थी। यह मार्ग मध्यम मार्ग के नाम से प्रचलित हुआ। उन्होंने न तो अपने अनुयाइयों को बढ़ाने का प्रयास किया, क्योंकि



भरहुत—जेतवन विहार दान (भारतीय पुरातत्व विभाग के सौजन्य से)

उनका विचार था कि सत्य का प्रचार होना चाहिये, और न उन्होंने किसी को अश्लील वाणी से ही कभी सम्बोधित किया । बुद्ध जी का कहना था कि जिस प्रकार अस्वीकृति भोजन खिलाने वाले के पास लौट जाता है उसी प्रकार से अश्लील वचन प्रयोग करने वाले के पास लौट जाते हैं । स्वयं बुद्ध जी का देवदत्त ने बड़ा अनादर किया पर उन्होंने सदैव उसको क्षमा किया । बुद्ध जी की महानता का कारण उनकी सहनशीलता तथा गिरे हुए को ऊपर उठाने का प्रयास करना था । उन्होंने अम्बापल्ली नामक गणिका का आमंत्रण स्वीकार करके और उसे अपने संघ में स्थान देकर यह दिखा दिया कि मनुष्य के उत्थान के लिए जाति तथा पतन का कोई विचार न करना चाहिए । बुद्ध जी ने ४५ वर्ष तक अपने धर्म का प्रचार किया और इस सम्बन्ध में उनका मुख्य क्षेत्र मगध से विस्तृत होकर मध्य देश हो गया यद्यपि उन्होंने उत्तर पश्चिम में तक्षशिला की यात्रा भी की थी । उनका राजनैतिक क्षेत्र में बड़ा प्रभाव था और अपने जीवनकाल में उन्होंने उन बढ़ती हुई शक्तियों को रोकने का प्रयास किया जिसके कारण छोटे राज्य अपना अस्तित्व स्थापित रख सके। उनकी मृत्यु के पश्चात् तत्कालीन साम्राज्यवादियों की विस्तृत कांक्षाओं को रोकने वाली कोई शक्ति नहीं रह गई और वह छोटे राज्य धीरे-धीरे लुप्त होकर मगध साम्राज्य का अंग बन गये । इस प्रयास से राजनैतिक एकता अवश्य स्थापित हो गई जो देश की स्वतन्त्रता की रक्षा के हितार्थ हुई पर इससे अन्य क्षेत्रों में बुरा परिमाण हुए ।

बुद्ध जी जैसे अपने जीवनकाल में सूर्य की भाँति देदीप्यमान रहे वैसे ही मृत्यु के उपरान्त भी उनका प्रकाश सर्वत्र फैला रहा । मृत्यु के समय जब आनन्द ने पूछा कि भविष्य में वे किसका सहारा लेंगे, तो बुद्धजी ने अपने मुख्य शिष्य को आदेश दिया कि तुम अपनी आत्मा से प्रकाश लो । सत्य का आश्रय लो और उसे मत छोड़ो । तुम्हें किसी ओर से आदेश नहीं लेना चाहिए । यद्यति उन्होंने स्वयं कोई लिखित ग्रन्थ नहीं छोड़ा जिसके कारण उनके संघ में मतभेद आरम्भ हो गया, पर उनकी मौलिक शिक्षाओं का उल्लेख किया जा सकता है । उनके उपदेशों में चार आर्य सत्यानि तथा

१२ प्रतीत्य समुत्पाद है । यह सत्यानि अथवा सत्यता की यथार्थता, दुख, इसका कारण (समुदय), इसको दबाना (निरोध) और इसका मार्ग अथवा प्रतिपद, से प्रतीत होती है कि इनकी तुलना योगसूत्र में उल्लिखित भारतीय चिकित्सा के सिद्धान्तों से की जा सकती है जिसमें रोग हेतु, आरोग्यं तथा भैषज्यं पर प्रकाश डाला है। दूसरे सूत्र में उन १२ निदानों अथवा हेतुओं का उल्लेख है । यह क्रमशः अविज्ञा, संस्कार,विज्ञान, नामरूप षड़ायतन, (जिसमे ६ प्रकार की चेतना अथवा इंन्द्रिय ज्ञान है), स्पर्श, वेदना, तृष्णा, उपादान (किसी के लिप्त होना), भव (अस्तित्व), जाति (जन्म), जरामरणम, शोक दुख, क्लेश, विषाद, इत्यादि हैं, और यही मनुष्य के दुख का कारण है । यहाँ पर यह कह देना आवश्यक है कि बुद्ध जी ने स्वयं कोई ऐसी आचरण युक्ति नहीं निकाली थी जो सम्पूर्ण रूप मे नवीन हो और जिसमें प्राचीन परम्परा के किसी अंग का उल्लेख न हो । बुद्ध जी ने स्वयं ही ऋषि मुनियों के आचरणों को सराहा है और सूतनिपात में उनके धर्म को ब्राह्मणाणि धर्म कहा गया है । बौद्ध धर्म में ब्राह्मण आचरण सूत्र की बहुत सी रीतियों को अपनाया है ।

बौद्ध सभायें

बुद्धजी के परिनिर्वाण के पश्चात् बौद्ध संघ में सुभद्द नामक एक वृद्ध भिक्षु ने फूट की बीज बो दिया । उसका कथन था कि महान श्रमण अथवा बुद्ध जी की मृत्यु के पश्चात् अब कोई भी हस्तक्षेप करने वाला नहीं रहा । अतः अपनी इच्छानुसार कार्य करने की प्रत्येक को स्वतंत्रता है । इस फूट की भावना से संघ को बचाने के लिए कश्यप ने राजगृह में ५०० अहरतों की एक सभा का आयोजन किया । इसका अधिवेशन सात मास तक वैभार पहाड़ी पर सतपन्नी गुहा में होता रहा, और उसमें विनय तथा धर्म को फिर से दोहराया गया । इस सभा में उपालि तथा आनन्द ने विशेष रूप से भाग लिया। द्वितीय बौद्ध सभा बुद्धजी की मृत्यु के ठीक सौ वर्ष बाद वैशाली में हुई। वैशाली के भिक्षुओं ने दस वत्थूनि अथवा उन दस बातों को शास्त्रोत बताया जिसके अन्तर्गत

नमक का संचय, मध्यान्ह काल का भोजन, किसी गाँव में जाकर भोजन करना, किसी गाँव में रह कर पृथक रूप से उपोस्थ करना, चाँदी, सोना ग्रहण करना इत्यादि है। स्थाविर यशस तथा रेवत ने वैशाली के इन भिक्षुओं के आचरण के विरुद्ध प्रचार करना आरम्भ किया। अन्त में वैशाली के वालिकाराम नामक स्थान में पहिले ८ विद्वानों की गोष्ठी ने जिसमें चार पूर्व और चार पश्चिम के थे, वैशाली के भिक्षुओं के आचरणों को अवैध बताया। विशाल खुली सभा में १०० भिषु थे और उसमें विनय को फिर से दोहराया गया। तृतीय बौद्ध सभा सम्राट् अशोक के समय में पाटलिपुत्र में हुई थी। मोगलिपुततिस ने १,००० भिक्षुओं को आमंत्रित कर इनका आयोजन किया था और झूठे सिद्धान्तों का खन्डन करके कथावत्थु नामक अभिधम्म ग्रन्थ संकलित किया गया। इस सभा में महासांधिकों का वहिष्कार कर दिया गया था, और केवल स्थाविरवादिन ही थे। चौथी बौद्ध सभा कनिष्क के समय में हुई थी। कुछ का विचार है कि यह जालंधर के कुवन बिहार में हुई थी पर अन्य परम्परा के अनुसार इसका कार्यस्थान कश्मीर का कुन्डलवन था। इस विषय में चीनी यात्री हुएनसांग का वृतान्त विस्तृत है। उसके अनुसार बौद्ध संघ में मतभेद को दूर करने के लिए सम्राट् ने पार्षव के परामर्श पर एक विकास सभा का आयोजन किया जिसकी अध्यक्षता वसुमित्र ने की। इसमें एक लाख श्लोकों में सूत्तपीठक की व्याख्या की गई तथा विनय विभाषा और अभिधम्म विमाषा में भी एक एक लाख श्लोकों से संकलित किये गये। इस सभा में भी स्थाविरवादिनो, जो प्राचीन परम्परा को मानते थे, का बोलबाला रहा ओर नवीन विचारधारा के महायानियों का कोई स्थान न था।

भिन्न बौद्ध विचारधाराएँ

इन चार बौद्ध सभाओं के अतिरिक्त कोई अन्य विशाल आयोजन बौद्ध ग्रन्थों के संकलन के लिये नहीं किया गया। धर्म और संघ में फूट का बीज बहुत पहिले से ही पड़ गया था, अतः इस विशाल बौध वृक्ष की

बहुत सी शाखायें हो चुकी थी। ईसा की प्रथम शताव्दी में लेखों के अनुसार सरवास्तिवादिन्, धर्मसांधिक तथा महासंधिक प्रमुख थे। इसमें से प्रथम दो स्थितपालक वर्ग के ये जिनका स्थाविरवादिन् अथव हीनयान से संबन्ध है, और तृतीय महायान से संबन्धित थे। हीनयान तथा महायान में विशेष रूप से यह भिन्नता थी कि हीनयान मत के अनुसार कोई भी व्यक्ति केवल अरहत पद तक ही पहुंच सकता था। बुद्ध अथवा बोधि सत्व दशा को एक मान कर यह स्थान केवल गौतम बुद्ध जी तक रक्खा गया था। महायानियों ने इसे रूढ़वादी परम्परा कह कर हीन दृष्टिकोण मे सम्बोधित किया और अपनी विचारधारा को महायान अथवा बहुत बड़ी नाव या वाहन बताया जिसके द्वारा सब कोई निर्वाण प्राप्त कर सकता है। इन्होंने बुद्ध और बौधिसत्व में भिन्नता बताई। बोधिसत्व की अवस्था तक तो प्रत्येक व्यक्ति पहुंच सकता है यदि वह चार चर्चा और दश भूमि का पालन करे। हुएनसांग के समय में यहाँ पर बौद्ध मत की चार दार्शनिक विचार धाराएें थीं जो वैभाषिक, सौत्रान्तिक, योगाचार तथा माध्यमिक नाम से प्रसिद्ध थी। इनमें से प्रथम दो का हीनयान से सम्बन्ध था और अन्य दो महायान मत की शाखाएं थी। माध्यमिक विचारधारा का स्थापक नागार्जुन था और उसका समकालीन कुमार लब्ध था जो सौत्रान्तिक मत का स्थापक था। ७५० ई तक बौद्ध मत भारतवर्ष में फूलता फलता रहा; उसके बाद का समय इस धर्म के ह्रास का काल है। भारत में इसके पतन के कई कारण है :—पश्चिमी भारत में इस्लाम का प्रादुर्भाव, शैव मत का उत्कर्ष और शंकर की दिग्विजय, तथा बौद्ध संघ में शिथिलता और स्त्रियों के प्रवेश के कारण नैसर्गिक पतन। इन तीनों कुठारों ने एक साथ मिलकर इस वृक्ष को उखाड़ने का प्रयास किया। वे इसमें सफल भी हुए थे पर वृक्ष के बीज का उन्मूलन न कर सके। जिस समय भारत में बौद्ध धर्म पर आघात हो रहा था, यह मत बृहत्तर भारत—सुदूर पूर्व के जावा, सुमात्रा, कम्बुज, चम्पा—तथा चीन और लंका, ब्रह्मा, तिब्बत तथा मध्य एशिया में पूर्ण रूप से विकसित होकर अपनी

शीतल छाया प्रदान कर रहा था। इन सब देशों के निवासी बुद्ध जी के धर्म के विशेष रूप से अनुयायी थे। ईसा की पहली शताब्दी से बौध मत के निर्देशक भारत से बाहर अपने मत का प्रचार करने के लिये गये। इसमें यह पूर्ण रूप से सफल हुए। भारत की यह धार्मिक विजय थी कि उसने अपना एक विस्तृत धार्मिक समाज स्थापित किया जिसके सदस्य एशिया के सभी वर्ग, जाति और देश के निवासी थे।

आज भी बौद्ध मत को भारत से लुप्त हुए एक सहस्त्र वर्ष के लगभग हो चुके हैं और जिस देश ने इस मत के संस्थापक को जन्म दिया उसी में इसके अनुयायियो की संख्या सब से कम है, पर इस मत में एक शक्ति है जिसके कारण एशिया के बहुत से देश पंचशील के आधार पर एक सूत्र में बंधने का प्रयास कर चुके है। इसमें वे सफल भी हुए हैं। बुद्धजी की २५०० वीं जयन्ती के समारोह में भिन्न-भिन्न देशों से भारत में आये हुए उन विदेशियों ने यह प्रमाणित कर दिया कि राजनैतिक क्षेत्र में विचारधारा कुछ भी हो पर सांस्कृतिक क्षेत्र में ये भारतीय परम्परा की श्रृंखला में अब भी बंधे है। यही एक ऐसी शक्ति है जिस पर राजनैतिक उथल-पुथल अथवा भिन्न विचार-धाराएँ अपना प्रभाव स्थापित करने में असफल रही और जो अणु युग में संसार की ध्वंसात्मक शक्तियों के सम्मुख शांति और सहिष्णुता का प्रतीक होकर देदीप्यमांन रहेगी।

अध्याय ४

विदेशियों से सम्पर्क

भारत का पश्चिमी देशों से सांस्कृतिक सम्पर्क ईसा से कई सहस्त्र वर्ष पहिले से स्थापित हो चुका था जैसा कि सिन्धु घाटी की खुदाई में प्राप्त वस्तुओं की पश्चिमी एशिया तथा मेसोपोटामिया में मिले प्राचीन पदार्थों की समानता से प्रतीत है। व्यापारिक क्षेत्र में भी डाक्टर सायस के मतानुसार भारत और यूनान में सामुद्रिक व्यापार ईसा से कोई ३००० वर्ष पहिले से चला आता है पर केन्डी का मत है कि ईसा की सातवीं सदी के पूर्व का न तो साहित्यिक और न पुरातात्विक प्रमाण ही मिलता है किन्तु छठी शताब्दी के लिये बहुत से प्रमाण हैं। राजनैतिक क्षेत्र में भारत का विदेश के साथ सम्बन्ध ईसा पूर्व छठी शताब्दी से आरम्भ हुआ। इससे विषय में हमें विशेष रूप से हेरोडोटस नामक यूनानी इतिहास पिता के ग्रन्थ 'हिस्टारिका' तथा ईरानी सम्राट् डेरियस (दारयवुष) के लेखों से सहायता मिलती है जिन्होंने भारत के उत्तर पश्चिमी भाग पर ईरानी अधिकार का उल्लेख किया है।

ईरानियों से सम्बन्ध

कारयन्दा के निवासी स्काइलाक्स को दारयवुष ने सिन्ध प्रदेश की खोज लगाने के लिए नियुक्त किया था। इसको दी हुई सूचना का उपयोग करते हुए दारयवुष ने सिन्धु की घाटी पर अधिकार कर लिया और उसका बेड़ा भारतीय सागर में घूमने लगा। पश्चिमी पंजाब का भाग ईरानी साम्राज्य का एक अंग बन गया और यह स्वाभाविक था कि भारत और ईरान का सम्बन्ध सांस्कृतिक तथा व्यापारिक क्षेत्र में भी बढ़े। पश्चिमी देशों में भी भारत के विषय में जानकारी प्राप्त करने की भावना उत्पन्न हुई। इधर भारतीय भी ईरानी सम्राट्

जरक्सीज़ (षारयवुष) के सेनानी के रूप में यूनान की भूमि पर लड़ चुके थे। ईसवी पूर्व की छटी से चौथी शताब्दी तक उत्तरी पश्चिमी भारत का भाग ईरानी सम्राटों के अधिकार में रहा और भारत से ३६० टैलेन्ट सोने की राख जो लगभग १३ लाख पौन्ड के मूल्य की होती ईरानी सम्राट को भेंट की जाती थी। इसका उल्लेख यूनानी इतिहास कार हेरोडोडस ने किया है। उसने सोना ढूढ़ने वाली चीटियों का भी वर्णन किया है। उसका कथन है कि कस्पैपिरस और चैक-रिसे देश के निकट वैकट्रिया निवासियों के समान कुछ भारतवासी रहते थे जो अत्यन्त लड़ाकू थे और सोने की खोज में भेजे जाते थे जो ईरानी सम्राट् को भेंट किया जाता था। उनका देश उस मरुस्थल के निकट था जहाँ कुत्तों से छोटी और लोमड़ियों से बड़ी चीटियाँ रहती थीं। इनमें से कुछ को पकड़ कर ईरानी सम्राट् को भेंट किया गया था। यूनानी चीटियों की भाँति ये भी बालू के नीचे रहती थी और उन्हीं के समान उनका आकार था। भारतीय ऊंटों पर चढ़ कर जाते थे। वहाँ पर पहुंचने पर वे जल्दी से बोरों में बालू भर कर भागते थे। ईरानियों का कहना था कि सूंघते ही चीटियाँ उनके पीछे दौड़ती थी और केवल वही बच पाते थे जो इनके एकत्रित होने के पहिले ही भाग निकले हो। उन चीटियों का उल्लेख अन्य यूनानी इतिहासकारों ने भी किया है। निअरकस ने इनका आकार लोमड़ी की भाँति बताया है और इस का अनुमोदन मेगास्थनीज़ ने भी किया है। इनके सींग ईरीथोरे में हरक्यूलीज़ के मन्दिर में लगे थे। जाड़े में जो सोना चीटियाँ खोदती थी उसे भारतीय उस समय चुपचाप ले आते थे जब अत्यन्त गर्मी के कारण ये भूमि के नीचे चली जाती थीं। इन चीटियो की जानकारी बहुत काल तक न हो सकी। पैप्पिलिक शब्द से यह ज्ञात होता है कि यह चीटियाँ नहीं थी वरन् सोना खोदने वाले कोई मानव जाति व्यक्ति रहे होंगे जो लोमड़ी के आकार के पशु अपने साथ रखते थे। आलियन तथा फिलास्ट्रेटस ने इन्हें प्रिफिन के नाम से सम्बोन्धित किया है। यह अत्यन्त क्रूर प्रकृति के थे और कश्मीर के उत्तर में रहते थे।

ईरानी कला का प्रभाव

इस रोमांचकारी वृतान्त से प्रतीत होता है कि ईरानी सम्राट् को भेंट देने के लिये सोना बड़ी कठिनता से प्राप्त होता था। आर्टाजिरक्सीज़ के चिकित्सक टेसियस ने भी ईरानी राजसभा में आये हुए उन भारतीयों का उल्लेख किया है जो भेंट लेकर गये थे। वे श्वेत वर्ण के थे और कदाचित् ईरानी राजसभा में या तो वणिक् के रूप में अथवा भेंट लेकर गये होंगे। ईरान के साथ इस संसर्ग का कलात्मक क्षेत्र में विशेष रूप से प्रभाव पड़ा। कदाचित् ईरानी कलाकारों ने भारत में आकर भारतीयों से सम्पर्क स्थापित किया होगा। हो सकता है कि मौर्य काल में कुछ ईरानी कलाकारों को विशेष रूप से आमंत्रित किया गया हो। मेगास्थनीज़ का कथन है कि सम्राट् चन्द्रगुप्त के प्रासाद की सुन्दरता के आगे सूसा और यकवताना के राजमहल भी नहीं ठहर सकते थे। इनमें सोने के मुलम्मे किये स्तम्भ थे जिनपर सुनहरी अंगूरी बेल थी। अशोक के स्तम्भ, जिनपर सुन्दर पालिश है तथा उनके ऊपरी भाग की घाटी हैं परसीपोलिस के प्रासाद के स्तम्भों से मिलते जुलते है। कुछ विद्वानों का विचार है कि ईरानी कलाकारों की यह देन है। चन्द्रगुप्त मौर्य के समय में भारतीय साम्राज्य पश्चिम में ईरान की सीमा तक पहुच गया है, अतः यह स्वाभाविक है कि दो पड़ोसियों की भाँति आदान प्रदान के रूप में भारतीय कलाकारों ने ईरानी कलात्मक विचारों को अपने दृष्टिकोण में परिणित किया और इसीलिये भारतीय मौर्य कला के अवशेषों में उनका प्रभाव प्रतीत होता है।

यूनानियों का प्रवेश

अलिकसुन्दर (सिकन्दर) महान ने ईरान पर आक्रमण करके आगे बढ़ने का प्रयास किया। उस समय भारतवर्ष के उत्तरी पश्चिमी भाग में छोटे बड़े बहुत से राज्य थे। राजनैतिक ऐकता का अभाव था, तथा कुछ राज्य प्रजातन्त्र थे और कुछ राजतन्त्र। यद्यपि इनमें से बहुत से राज्यों का एक दूसरे से वैमनस्य

था पर उस राजनैतिक विपत्ति के समय कई राज्यों ने मिलकर यूनानियों का मुका-बला किया। तत्कालीन राज्यों में विशेष रूप से पुष्कलावती, तक्षशिला, पोरस तथा मल्ल और आक्सीड्काई उल्लेखनीय हैं। यद्यपि अलिकसुन्दर थोड़े ही समय में पंजाब और सिन्ध भाग को जीतकर यहां से वापस चला गया, तथापि उसने यहाँ बहुत से यूनानी तथा कई यूनानी क्षत्रप भी छोड़े और कई नगरों की स्थापना की। उसकी मृत्यु के पश्चात् बड़ी गड़बड़ी मच गई। राजनैतिक एकता की भावना प्रबल हो चुकी थी। इधर मगध में मौर्य सम्राट् चन्द्र गुप्त का राज्य स्थापित हो चुका था। अतः अब सम्पूर्ण उत्तरी भारत को एक राजनैतिक सूत्र में बाधने का प्रयास सफल होना स्वाभाविक था। वे यूनानी जो भारत में ही रह गये थे भारतीय समाज का अंग बन गये। अलिकसुन्दर के आक्रमण से भारतीय राजनैतिक तथा सामाजिक क्षेत्र में बड़ा प्रभाव पड़ा। पंजाब और सिंधु की घाटी में बहुत से छोटे छोटे राज्य अपना अस्तित्व खोकर बैठे थे। मौर्यो के उत्कर्ष से भारतवर्ष का राजनैतिक स्तर संसार में ऊँचा उठ गया था। २० वर्ष भी नहीं हुए थे कि अलिकसुन्दर के सेनापति सिल्यूकस ने ई० पू० ३०६ में भारतवर्ष पर आक्रमण करना चाहा पर यहां परिस्थिति बदल चुकी थी। अब राजनैतिक वैमनस्य और फूट के स्थान पर एकता और संगठित बृहत साम्राज्य था। उधर सिल्यूकस को अपने प्रतिद्वन्दियों से लोहा लेना था। इसलिये उसने चन्द्रगुप्त के साथ काबुल, कन्धार, हेरात तथा मकरान देकर मित्रता स्थापित की और भारत से ५०० हाथी लेकर वह अपने प्रतिद्वन्दी अंतिगोनस के साथ लोहा लेने से लिये पश्चिमी एशिया की ओर चल दिया।

भारतीय समाज में यूनानियों का स्थान

यूनानियों के साथ सम्पर्क और गहरा स्थापित हो चला था। बहुत से यूनानी भारत में ही बस गये थे और थोड़े काल में वे भारतीय समाज का अंग बन गये। उन्होंने भारतीय धर्मों को-जिनमें बौद्ध तथा ब्राह्मण दोनों मत हैं—स्वीकार किया और उनका नामकरण भी भारतीय हुआ। कुछ ने अपने

नाम को नहीं बदला पर भारतीय धर्म को अंगीकार कर उन्होंने बहुत सा दान दिया जिसका उल्लेख लेखों में है । यहाँ पर यह कहना अनुपयुक्त न होगा कि भारतीय समाज में अधिकतर उनको शूद्र वर्ग में स्थान दिया गया पर बहुतों को क्षत्रिय की श्रेणी में भी रक्खा गया । इसका पता हमको पाणिनि के एक सूत्र "शूद्रानामर्निवसितानाम्," जिस पर पतन्जलि ने व्याख्या की है, से लगता है । इसके अनुसार शक और यवनो को शूद्रों की श्रेणी में स्थान दिया गया था पर उनका छुआ पात्र अशुद्ध नहीं समझा जाता था और उन्हें आर्य निवास स्थानों में रहने की स्वतन्त्रता थी । लेखों से पता चलता है कि बहुत से यूनानी तथा कुछ अन्य विदेशी जातियों के व्यक्ति जैसे शक, पह्लव इत्यादि को क्षत्रिय वर्ग में स्थान दे दिया गया था पर ऐसा एक भी उदाहरण नहीं मिला है कि इन विदेशियों को ब्राह्मण अथवा वणिक् श्रेणियों में रक्खा हो । हाँ ! मग नामक विदेशी जाति के कुछ व्यक्तियों को ब्राह्मण वर्ग में स्थान दिया गया । सामाजिक तथा धार्मिक दृष्टिकोण से विदेशियों को अपनाने की यह नीति विशेषतया महत्व रखती है और यहाँ पर हम कुछ विदेशियों के उदाहरण देंगे जिन्होंने अपने नवीन धर्म को अंगीकार कर बहुत कुछ दान पुण्य किया । उनके दानों का उल्लेख उन पत्थर पर खुदे हुए लेखों में है जो उत्तरी तथा दक्षिण पश्चिम भागों के कई स्थानों में पाये जाते हैं । यद्यपि यवन शब्द से प्रायः सभी पश्चिमी देशों के निवासियों का संकेत मिलता है तथापि बहुत से ऐसे भी लेख हैं जिनमें इन विदेशियों को यवन, पह्लव, शक आदि नामों से सम्बोधित किया गया हैं । यहाँ पर हम कुषाण, हूण इत्यादि विदेशियों का उल्लेख नहीं करेंगे जो कई शताब्दी बाद भारत में आये और यही के समाज का अंग बन गये ।

अशोक ने अपने लेखों में योन शब्द से उन यूनानियों का संकेत किया है जो पश्चिमी एशिया के निवासी थे अथवा उसके राज्य में कम्बुज के निकट रहते थे । जूनागढ़ के रूद्रदामन के लेख में अशोक के समकालीन तुषाष्प को भी यवन कह कर सम्बोधित किया गया है, यद्यपि उसका नाम ईरानी प्रतीत

होता है। ईसा पूर्व पहली शताब्दी में तक्षशिला के राजा अंतिअलकिदास की ओर से डियन का पुत्र हेलियोडोरा नामक यूनानी काशीपुत्र भागभद्र की सभा मे आया। वह तक्षशिला का निवासी था और उसने भागवत धर्म स्वीकार किया था। उसने विदिसा में विष्णु के गरूडध्वज स्तम्भ की स्थापना की। इस स्थान के निकट सांची में भी सेतपथिय नामक एक यवन ने दान दिया जिसका उल्लेख सांची के एक लेख में मिलता है। दक्षिण पश्चिम में कार्ले की गुफाओं में मिले लेखों में भी बहुत से यवनों द्वारा दान का उल्लेख है। धेनु काटक के सिहधय नामक एक यवन ने एक स्तम्भ का दान किया था। एक और लेख में धम्म नामक एक यवन के दान का उल्लेख है। इनके अतिरिक्त बहुत से ऐसे लेख मिले हैं जिनमें यवन समूहों का उल्लेख हैं। एक लेख में यवन चिट का संघ को दिये दान का उल्लेख है तथा एक अन्य लेख में यवन इरिल द्वारा दान किये हुए दो जल कूपों का विवरण है। इन दोनों नामों के आगे गत शब्द का उल्लेख है जिससे कुछ विद्वानों का विचार है कि यह गोथ-जाति के विदेशी थे। शब्द शास्त्र के आधार पर इस विषय पर आगे विवेचना करना उचित न होगा पर यह निश्चित है कि ईसा पूर्व तीसरी शताब्दी से ही यूनानियों ने भारत के सामाजिक और धार्मिक रंग में अपने को रंग लिया था और वे इसी का अंग बन गये थे। वे केवल उत्तरी पश्चिमी भारत तक ही सीमित न थे वरन् मध्य भारत तथा दक्षिण में भी प्रवेश कर चुके थे। उन यवनों ने भारतीय धर्मों-बौद्ध तथा भागवत—को अंगीकार किया तथा उन्होंने भारतीय कला के क्षेत्र में बड़ा प्रोत्साहन दिया। उत्तरी पश्चिमी भारत की एक विशेष कलात्मक धारा को, जिसे यूनानी बौद्ध कला कहकर सम्बोधित किया जाता है और जिसके अवशेष प्राचीन गंधार प्रदेश में विस्तृत रूप से पाये गये हैं, वास्तव में उन यूनानियों की ही देन है जिन्होंने बौद्ध धर्म स्वीकार किया था। यद्यपि इस कला का स्वर्ण युग तो ईसवी की पहिली शताब्दी में माना गया है पर कुछ विद्वानों का यह भी विचार है कि इसका प्रादुर्भाव बहुत पहिले हो चुका था और कनिष्क के समय तक इसका उतार आरम्भ हो गया था। इस विषय में हम पुनः आगे विचार करेंगे।

अध्याय ५

कौटिल्य युग

अलिकसुन्दर (सिकन्दर) के आक्रमण के पश्चात् भारतवर्ष में राष्ट्रीय एकता की भावना ने जोर पकड़ा। देश ने पारस्परिक फूट तथा प्रतिद्वन्दता का नग्न स्वरूप भलीभाँति देख लिया था। अतः यह स्वाभाविक था कि देश में पुनः जागृति हो जिससे विदेशियों का अधिकार स्थायी न रह सके और यह राष्ट्रीय सूत्र में बाँधा जा सके। राष्ट्रीयता की अग्नि यूनानी विजेता के भारत से प्रस्थान करते ही प्रज्वलित हो चुकी थी। अलिकसुन्दर ने भारत में अपने जीते हुए भागों का प्रबन्ध ईरानी क्षत्रियों की भाँति कुछ यूनानी तथा कुछ भारतीय क्षत्रियों को सौप दिया। फिलिप नामक एक यूनानी दक्षिण काबुल से लेकर सिंध तथा चिनाव नदियों के मिलने के स्थान तक के क्षेत्र का क्षत्रय था। साम्राज्य के दक्षिणी भाग में पीथन नामक एक अन्य यूनानी को क्षत्रय बनाया गया और उसके अधिकार में सिन्ध तथा उसके पश्चिम का भाग था। झेलम से लेकर व्यास तक का भाग तक्षशिला सम्राट् अम्भि तथा पोरस के बीच विभाजित था। वह उत्तरी भाग, जो हिन्दुकुश तक सीमित था और जिसकी राजधानी सिकिन्ट्रया थी, सिकन्दर के श्वश्रुं अकसीयारटेस के अधिकार में था। एक अन्य क्षत्रपी अभिसार तथा काश्मीर के भाग को मिलाकर बनाई गई। इस प्रबन्ध से प्रतीत होगा कि अलिकसुन्दर ने यूनानी तथा भारतीयों की शासन का भार सौपा। इनके अतिरिक्त उसने यूनानी सेनानियों को भी यहाँ रक्षा के लिए छोड़ दिया। इनमें सम्पर्क स्थापित करना कठिन था क्योंकि यूनानी तथा भारतीय क्षत्रियों के दृष्टिकोण भिन्न थे और सिकन्दर के जीवनकाल में ही फिलिप का बध कर दिया गया। यूनानी सम्राट् ने इस क्षत्रपी को भी भारतीय

राजाओं के अधिकार में सौप दिया जिसको यूनानी सैनिक सहन न कर सके । इधर सिकन्दर की बेबीलोन मे ईसा पूर्व ३२३ में अकस्मात् मृत्यु हो गई। भारतीय और यूनानियों के बीच संसर्ग स्थापित करने वाली वह शक्ति जाती रही और यह दोनों प्रतिद्वन्दी के रूप में एक दूसरे को नष्ट करने का प्रयास करने लगे । इस संघर्ष में भारतीय राष्ट्रीयता की विजय हुई और जैसा कि जस्टिन ने लिखा है बचे-खुचे यूनानी संरक्षकों का बध कर दिया गया। विदेशियों का राजनीतिक अस्तित्व क्षीण हो गया ।

राज्यों का एकीकरण—

सिकन्दर के आक्रमण से छोटे छोटे राज्य भी विलीन हो गये और उनके स्थान पर एक वृहत् तथा विस्तृत साम्राज्य की स्थापना हुई। इस साम्राज्य के निर्माण का श्रेय कौटिल्य अथवा चाणक्य नामक बाह्मण को है जिसने नन्दों का नाश करके मगध सिंहासन पर चन्द्रगुप्त मौर्य को आरूढ़ किया । मुद्राराक्षस नाटक, जिसे विषाखदत्त ने लिखा है, के अनुसार चाणक्य ने पर्वतक नामक पर्वती राजा की सहायता से मगध को जीता था और अन्त में कौटिल्य की कूटनीति से पर्वतक तथा उसके भ्राता विरोधक का अन्त हो गया, और पर्वतक का पुत्र मलयकेतु यहाँ से चला गया । चन्द्रगुप्त के लिये मार्ग सरल हो गया और उसने थोड़े ही काल में अपने राज्य को वढ़ाया। १५ वर्ष पश्चात् सिल्यूकस के नेतृत्व में यूनानियों द्वारा पुनः आक्रमण का प्रयास असफल रहा और वह मौर्य सम्राट् के साथ सन्धि करने पर वाध्य हुआ जिसके फलस्वरूप चन्द्रगुप्त को काबुल, कन्धार हेरात, मकरान तथा यूनानी सेनापति की पुत्री भी मिली । वास्तव में चन्द्रगुप्त की सफलता का श्रेय चाणक्य को है जिसकी दूरदर्शिता के कारण ही मौर्य साम्राज्य फारस की सीमा से लेकर दक्षिण में मैसूर तक और पूर्व में बंगाल की खाड़ी से लेकर पश्चिम में अरब सागर तक विस्तृत था । यह साम्राज्य एक शताब्दी से अधिक समय तक स्थापित रहा । अशोक ने कलिंग को जीत कर उसे इस वृहत् साम्राज्य में मिलाया, और अपने राज्य काल में

उसने धर्म के आधार पर शासन किया पर उसका प्रयास अति दुस्तर हो जाता यदि उसे इतना विस्तृत साम्राज्य न मिलता। अतः हम इस काल को 'कौटिल्य युग' के नाम से सम्बोधित करेंगे जिसकी दो विशेषताएं थी—देश में राष्ट्रीय एकता तथा विदेशियों के साथ सम्पर्क। यहाँ पर हम इन दोनों राष्ट्र धाराओं पर उदाहरण देकर विचार करेंगे।

राष्ट्रीय एकता की भावना का बीजीकरण तो विदेशी आक्रमणकारियों का डटकर विरोध करने की भावना से ही हो चुका था। मसागा की रक्षा के लिए आवश्यक समाक्षी के नेतृत्व में असिकनास तथा अभिसार के सैनिकों ने भाग लिया था। इनके अतिरिक्त बहुत से अन्य सैनिकों ने देश में विपत्ति के समय बलि देकर अपनी वीरता और देशभक्ति का परिचय दिया था। इसी प्रकार मल्ल और अक्सीड्काइयों ने भी मिलकर अलिकसुन्दर का विरोध किया था। यह गठबन्धन दृढ न थे क्योंकि सामयिक उत्तेजना के कारण देश-भक्ति की भावना केवल उतने काल ही तक रही जब विपत्तिका सामना था। विपति के हटते ही फिर स्पर्धा की भावना जागृति हो उठी। उस समय एक ऐसे दूरशर्शी को आवश्यकता थी जो परिस्थित से पूर्णतया लाभ उठा सके। कौटिल्य अथवा चाणक्य ने इस राष्ट्रीय एकता कों स्थायी रूप दिया और यह केवल उसी समय हो सकता था जब सम्पूर्ण भारत को एक राजनीतिक सूत्र में बाँधा जा सके जिससे देश में सुरक्षा और शान्ति बनी रहे और विरोधी शक्तियों को उठने का अवसर ही न मिले। वास्तव से यह आश्चर्य जनक बात थी कि इतने अल्पकाल में मौर्य साम्राज्य इतना विस्तृत हो गया। यद्यपि इस सम्बन्ध में पूर्णतया वृतान्त नहीं मिलता है तथापि अशोक के लेखों से उसके साम्राज्य की सीमा निर्धारित होती हैं क्योंकि उसने केवल कलिंग जीता था और उसके पिता विन्दुसार ने कोई वृद्धि नहीं की थी। अतः दिग्विजय और साम्राज्य स्थापना का श्रेय चन्द्रगुप्त को ही है। प्लूटार्क के कथनानुसार सैंड्रोकोटस (चन्द्रगुप्त) ने ६ लाख सेना लेकर सम्पूर्ण भारत को जीता। जैन श्रोतों के अनुसार मौर्य साम्राट् वृद्धावस्था में जैन हो

गया था और उसने अपने राज्य के दक्षिण भाग में प्राण दिये थे। पश्चिमी भाग में जूनागढ़ के लेख से प्रतीत होता है कि वहाँ पर सुदर्शन झील का निर्माण चन्द्रगुप्त के समय से आरम्भ हुआ था और अशोक के समय में यवन तुषास्प ने उसे पूरा किया। चन्द्रगुप्त का राज्य उत्तर पश्चिम में सिन्धु नदी तक था और सिल्यूकस के साथ सन्धिकर यह ईरानी सीमा तक पहुँचा। उस युग में एक शक्तिशाली राज्य स्थापित हो गया जिसने देश में एकता स्थापित की। यह कौटिल्य की दूरदर्शिता की देन थी।

वैदेशिक सम्पर्क—

देश का स्तर ऊंचा उठाने के लिये यह भी आवश्यक है कि वैदेशिक सम्पर्क स्थापित हो। कौटिल्य युग की यह दूसरी विशेषता थी। इस नीति का अनुसरण मौर्य काल के बाद भी किया गया। अशोक ने इसी भावना से अपने धर्म को विश्व धर्म स्वरूप देने का प्रयास किया। यह सम्पर्क सिल्यूकस और चन्द्रगुप्त के बीच सर्वप्रथम स्थापित हुआ। गृह युद्ध में सिल्यूकस का भाग लेना अनिवार्य हो गया। अतः चन्द्रगुप्त से ५०० हाथी लेकर वह २५०० मील की लम्बी यात्रा कर स्वदेश लौट गया। दोनों ने अपना सम्बन्ध चिरकाल तक स्थायी रक्खा। अथेनियम ने लिखा है कि चन्द्रगुप्त ने सिल्यूकस के लिये बहुत से द्रव्य पदार्थ भेजे थे, और यह भी प्रतीत होता है कि सिल्यूकस यहाँ कई बार आया था। अंतिआकस प्रथम के समय में भी भारत के साथ राजनैतिक सम्बन्ध स्थापित रहा। बिन्दुसार ने, जिसे प्रमित्रघात अथवा अमित्रोछेतस नाम से यूनानियों ने सम्बोधित किया है, अंतियाकस को लिखा कि उसके लिये यूनानी सम्राट् मीठी मदिरा, अंजीर तथा एक दार्शनिक भेज दें। प्रथम दो वस्तुएं तो भेज दी गई पर दार्शनिक के विषय में अंतिआकस ने लिखा कि वह बिक्री की वस्तु नहीं है। इसके समय में प्लासिया का डायमेक्स राजदूत बनकर मौर्य सम्राट् ने यहाँ भेजा गया। इसके अतिरिक्त तत्कालीन पश्चिमी एशिया के राजाओं की ओर से भी कई और राजदूत भारत भेजे गये होंगे। प्लिनी का कथन है

कि टालमी फिलाडेलफस ने डायोनिसियस को राजदूत के रूप में भेजा था। इन राजनैतिक सम्पर्कों के साथ साथ व्यापारिक क्षेत्र में भी प्रगति हुई। स्ट्रावो के अनुसार आमुदरया (आक्सस) द्वारा भारत का माल कासपियन और काले सागर होता हुआ यूरोप को जाता था।

ऐसी राजनैतिक व्यापारिक परिस्थित से अशोक ने पूर्णतया लाभ उठाया। उसने अपने धर्म को विश्व धर्म रूप देने का प्रयास किया, और भिन्न भिन्न देशों में अपने धर्म महामात्रों को भेजा। उन राजाओं का नाम उसके लेखों से मिलता है। अपने लेख में अशोक लिखता है कि उसकी धर्म विजय की पताका ६०० योजन अथवा ४२०० मील की दूरी तक उन राजाओं के यहाँ तक फहराई जो क्रमशः सीरिया के अंतिआकस, मिश्र के टालमी फिलाडेलफस, मेसीडोनिया के अंतिआकस, सीरिया के मगस और ऐपीरस के सिकन्दर थे। यह सब उसके समकालीन थे और इनकी तिथियाँ से ज्ञात होता है कि अशोक ने यह धर्म महामात्र लगभग ईसा पूर्व २५० ई० में भेजें होंगे। यहाँ पर अशोक के धर्म के विषय भी कुछ कहता अनुपयुक्त होगा। वास्तव में चन्द्रगुप्त के समय से ही भारत का पश्चिमी एशिया के देशों के साथ सम्पर्क स्थापित हो चुका था और अशोक ने कोई नवीन सम्बन्ध नहीं स्थापित किया।

मौर्य शासन—

मेगास्थनीज़ कई वर्ष तक पाटलिपुत्र में रहा और उसने तत्कालीन भारतीय संस्कृति तथा मौर्य शासन सम्बन्धी विषयों पर प्रकाश डाला है। उसकी पुस्तक लुप्त हो चुकी है पर कुछ अंश स्ट्राबो तथा आरियन की पुस्तकों में सुरक्षित हैं। कौटिल्य के अर्थ शास्त्र से भी इस विषय में पुष्टिता प्रदान होती है। मेगास्थनीज़ का कथन है कि साम्राज्य का अधिपत्ति स्वयं मौर्य सम्राट् था और वह शासन प्रबन्ध में पूर्ण रूप से हस्तक्षेप करता था। न्याय का वह सबसे उच्च पदाधिकारी था। वह स्वयं

वेदों के ज्ञाता, ब्राह्मण, पशु, पवित्र स्थान, बालक, दुखित, असहाय तथा स्त्रियों के प्रार्थनापत्र सुनता था और आवश्यक कार्यों में लेशमात्र भी विलम्ब न होता था। युद्ध के समय में सम्राट् स्वयं रणभूमि में जाकर अपनी सेना को प्रोत्साहन देता था। शासन प्रबन्ध में सम्राट् के अधीन सचिव तथा प्रधान थे जो कौटिल्य के अनुसार अमात्य तथा सचिव कहलाते थे। प्रान्तीय शासन का उल्लेख 'इन्डिका' में नहीं है पर यहाँ पर राजकुमार सम्राट् की ओर से शासन करते थे। स्थानीय शासन प्रबन्ध के सम्बन्ध में मेगास्थनीज़ का वृत्तान्त विस्तृत है। नागरिकों के हित के लिये नगर पालिका समिति में ३० सदस्यों की ६ कमेटियाँ थीं जो क्रमशः व्यवसाय, विदेशियों का ध्यान, जन्म मृत्यु का हिसाब, व्यापार तथा वाणिज्य, नाप तौल के बाट तथा बिक्री कर इत्यादि से सम्बन्धित थी। सैनिक प्रबन्ध भी इसी प्रकार से ३० सदस्यों को ६ कमेटियाँ द्वारा होता था जो नाव-बेड़े खाद्य सामग्री, पैदल सेना, अश्वारोही, रथ, तथा हाथियों से सम्बन्धित थी। सम्पूर्ण शासन प्रबन्ध की नींव गुप्तचरों पर निर्धारित थी जो परीक्षक अथवा निरीक्षक कहलाते थे और उनका एक अलग विभाग था। इसमें केवल विद्वान और विश्वासपात्र ही नियुक्त किये जाते थे। चन्द्रगुप्त ने स्वयं परिश्रम और कठिनाई से राज्य प्राप्त किया था अतः उसे अपनी रक्षा का पूरा ध्यान था। राज्य प्रसाद के आन्तरिक भाग में सम्राट् की रक्षा का भार स्त्रियों के हाथ में था। बाहरी भाग में सुसज्जित सैनिक रक्षा के लिये नियुक्त थे। सम्राट् का जीवन भय से रहित न था और उसकी रक्षा के लिये उसका शयनगृह किसी एक स्थान पर निश्चित न था। गुप्तचर उसे नगर तथा सेना और शासन सम्बन्धी पदाधिकारियों का पूरा पता देते थे। राज्य प्रबन्ध के लिये कठोर नियमों का पालन किया जाता था। इससे राज्य में शक्ति और सुव्यवस्था स्थापित रही। अशोक ने शासन सम्बन्धी कुछ सुधार किये। महामात्रों की नियुक्ति की जो जनसाधारण के कल्याण का सदैव ध्यान रक्खे, पंचवर्षीय भ्रमण द्वारा प्रजा की दशा का पूरा-पूरा ज्ञान हो सके, तथा शासन के सम्मुख सामान्य व्यवहार इत्यादि सुधार किये गये।

अध्याय ६

सम्राट् अशोक और उनका धर्म

वास्तव में विश्व इतिहास में अशोक का नाम अद्वितीय है। उसकी तुलना किसी एक विश्व सम्राट् से नहीं हो सकती है। हाँ, विद्वानों ने सम्राट् के जीवन सम्बन्धी भिन्न-भिन्न अंगों की समानता बड़े-बड़े सम्राटों से की हैं। उसका साम्राज्य शारलेमैग्न के राज्य का इतना बड़ा है, उसने बौद्ध धर्म के विकास के लिये वैसा ही किया जैसा कि ईसाई मत के लिये कोसटेनटीन ने किया था, और डेविड तथा सालोमन की भाँति उसने धर्म के आधार पर अपने राज्य शासन को चलाया। एच० जी० वेल्स के मतानुसार यह विश्व का सबसे बड़ा सम्राट् हो गया है। अशोक ने अपने पिता विन्दुसार से एक वृहत राज्य प्राप्त किया था और उसने केवल कलिंग ही जीता था पर इस युद्ध का उसके ऊपर ऐसा प्रभांव पड़ा कि फिर युद्ध की भेरी के स्थान पर धर्म के नाद से भारत का वातावरण गूंज उठा और इसकी प्रतिध्वनि पश्चिमी ऐशिया तक सुनाई पड़ने लगी। उसने अपना ध्येय जनता के नैतिक स्तर को उठाना रक्खा और उसके लिये धर्म महामात्रों की नियुक्ति भी की। यह ठीक है कि वह स्वत: बौद्ध था और इस धर्म के प्रचार के लिये उसने बहुत कुछ किया, पर जिस धर्म की शिक्षाओं को उसने शिलालेखों तथा चट्टानों पर अंकित करवाया वह एक विश्व धर्म था जिसको सब ही मान सकते थे; और इसका उद्देश्य केवल जनता का नैतिक स्तर ही ऊँचा करना था। जैसा कि उसने स्वयं लिखा है, वास्तव में किसी शासक की प्रभुता उसके साम्राज्य पर निर्भर नहीं है वरन् यह जनता की समृद्धि पर निर्धारित है। सच्ची कीर्ति तभी प्राप्त हो सकती है जब सम्राट् अपने को जनता से प्रथक् न समझे वरन् संरक्षक के रूप में सदैव ही अपनी प्रजा के उत्थान का प्रयास

करे। इसी ध्येय की पूर्ति के लिये अशोक ने अपनी सारी शक्ति लगा दी। शासन प्रणाली में धर्म महामात्र, स्त्री अध्यक्ष महामात्र, तथा प्रति पांचवे वर्ष अधिकारियों के लिये जनता की वास्तविक दशा देखने के लिये जाना, मौर्य शासन में नवीन सुधार थे। इनके अतिरिक्त जनता के हित के लिये उसने अन्य कार्य भी किये और यह अनुरोध किया कि प्रसन्नचित होकर जनता उसमें विश्वास रक्खे।

अशोक का धर्म

यह कहना भूल होगा कि अशोक ने विदेशों में बौद्ध धर्म का प्रचार किया। उसका ऐसा प्रयास अन्तर्राष्ट्रीय दृष्टिकोण से अहितकर होता। वह स्वयं बौद्ध था पर जिस धर्म का उसने प्रचार किया वह केवल आचरण के कुछ मुख्य सिद्धान्त थे जिनको उसने विशेष रूप से अपनाया। इनसे सब लोग सहमत हो सकते थे चाहे वे किसी धर्म के अनुयायी रहे हों। इन आचरण सिद्धान्तों का घर तथा बाहर प्रयोग करना आवश्यक था। घर में माता, पिता, वृद्ध तथा अन्य बड़े जन, गुरू की आज्ञा का पालन करना, गुरू का आदर सत्कार करना तथा अन्य सम्बन्धियों, नौकरों, गरीबों, मित्रों, के प्रति सद्व्यवहार करना और अहिंसा के मार्ग का अनुकरण करना था। मनुष्य के लिए स्वयं अपनी वृत्तियों पर भी नियन्त्रण रखना आवश्यक था। उसके चित्त में दया, दान, सत्य की भावना होनी चाहिए। शुद्धता, आन्तरिक तथा वाह्य रूप में होनी चाहिये। इनके अतिरिक्त मनुष्य को अपने व्यवहार में मार्दवं (शान्तिचित), साधुता, भाव शुद्धि (चित्त की शुद्धि), आत्म निरीक्षण, पाप का भय, तथा उत्साह का अनुसरण करना चाहिए। इन आदेशों से मनुष्यों का कौटुम्बिक जीवन सुखी रहेगा और उनके गृहों में कलह का प्रवेश नहीं हो सकेगा। घर से बाहर मनुष्य का आचरण एक ऐसे सांचे में ढाला जाये कि उसमें सहन शक्ति की भावना कूट-कूट कर भरी हो। अशोक के द्वादश चट्टान लेख में इस सहनशीलता को सराहा गया है जिसके अनु-

सरण से आज भी बहुत सी समस्याओं का हल निकाला जा सकता है। लेख के आरम्भ में लिखा है कि सम्राट् प्रत्येक धर्म और अनुयायियों के प्रति आदर और सत्कार की भावना रखता है और दान के वितरण में वह किसी प्रकार का भेद-भाव नहीं रखता है, पर वह दान को इतना महत्व नहीं देता है जितना कि सब धर्मों की सारवृद्धि के प्रसार को। इसके लिए यह आवश्यक है कि मनुष्य सर्वप्रथम अपनी वाणी पर नियन्त्रण रक्खे (वच गुप्ति) और दूसरों के धर्मों पर टीका टिप्पणी न करे। यदि वह ऐसा न करेगा तो स्वयं अपने धर्म के उत्थान में बाधक सिद्ध होगा। उनको बहुश्रुत होना चाहिये जिससे उनकी विचार धारा में परिवर्तन होगा। धर्म महामंगलों का आयोजन इसीलिये किया जाता था कि एक दूसरे के विचार सुनने का अवकाश लगे और वह इस चेष्टा पर पहुंचे कि प्रत्येक धर्म में सत्यता है और उनमें समन्वय स्थापित करना अनिवार्य हैं। इस नीत का अनुसरण करने से मनुष्य इस निष्कर्ष पर पहुँगे कि सब धर्मो का ध्येय एक ही हैं। विश्व धर्म प्रवर्तक अशोक ने अपने साम्राज्य और उसके बाहर अन्य देशों में धर्म महामात्रों को इस आचरण पद्धति को फैलाने के लिए भेजा। इसमें वह सफल भी हुआ क्योंकि इसके सिद्धान्त किसी भी धर्म को ठेस नहीं पहुँचाते थे।

वैदेशिक सम्पर्क तथा भारतीय एकता

अशोक ने अपने साम्राज्य से बाहर भी ६०० योजना की दूरी तक अपने धर्म महामात्रों को भेजा जो उसके धार्मिक सिद्धान्तों का प्रचार कर सके। उस धार्मिक विजय के अन्तर्गत पश्चिमी एशिया तथा सीलोन के शासकों को भारत के साथ एक प्रेम सूत्र में बाँधना था जिसमें भौगोलिक दूरी बाधक न थी। उसने अपने लेखों में उन पाँच यूनानी सम्राटों-अंतिआकस, टालमी, अतिगोनस, मग तथा अलिकसुन्दर और दक्षिण भारत के चोल, पाण्ड्य तथा ताम्रपर्णि के राजाओं का उल्लेख किया है जो सम्राट् के धर्मादेशों को मान रहे हैं। कौटिल्य तथा चन्द्रगुप्त मौर्य ने पश्चिमी सम्राटों के साथ राजनैतिक सम्बन्ध स्थापित किया था जिसका उल्लेख हो चुका है। अशोक ने उस परम्परा

को धर्म तथा प्रेम की भावना देकर स्थायी रूप दिया। उसका उद्देश्य उनकी राजनैतिक सत्ता में हस्तक्षेप करना न था और न उनके धार्मिक विचारों को ठेस पहुँचाना। वह तो केवल धार्मिक संतुलन चाहता था जिसको सब कोई मान सकते थे। सम्राट् ने एक ही भाषा में अपने लेखों को अंकित किया जो उत्तर में शावाज़गढ़ी (ज़िला रावलपिन्डी) तथा मानसेरा (ज़िला एवटाबाद) से दक्षिण में ब्रह्मगिरि (मैसूर) तक पाये जाते हैं। इससे यह प्रतीत होता है कि सम्राट् ने सम्पूर्ण भारतवर्ष के लिए एक ही भाषा को अपनाया और वह भी ऐसी थी जिसे जनसाधारण समझ सके। एक मातृ भाषा राष्ट्रीय एकता प्रदान कर देश को संगठित करने का साधन बनी और अशोक ने उसे प्रोत्साहन दिया।

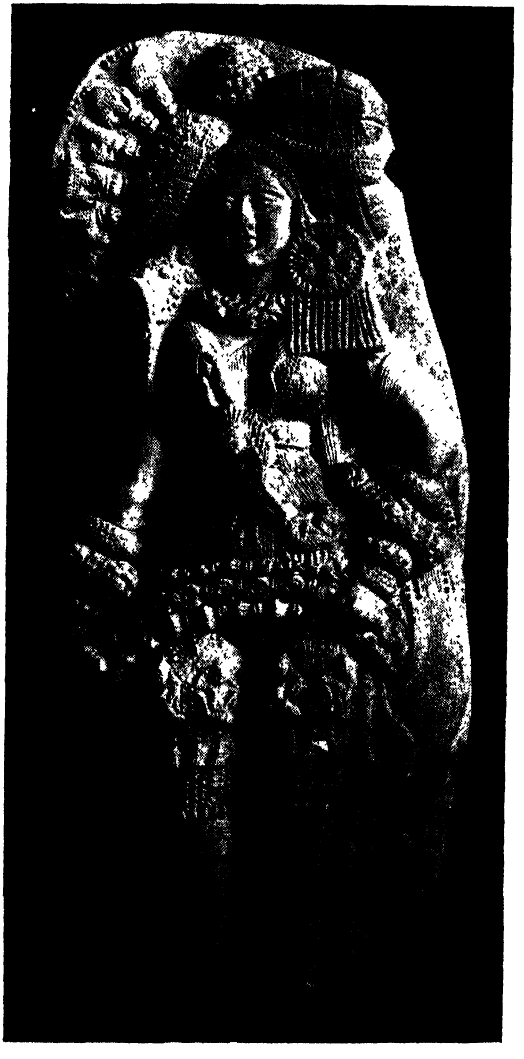
अशोक ने अपने व्यक्तित्व से सम्पूर्ण भारत पर ही नहीं, वरन् दक्षिणी पश्चिमी एशिया में भी प्रभाव स्थापित किया। उसने अपने साम्राज्य में धर्म के आधार पर शासन करने का प्रयास किया। यह धर्म संकुचित न था वरन् उसमें वृहत् दृष्टिकोण अपनाया गया था। अशोक को अपने जीवन काल में सफलता अवश्य मिली, फिर भी राजनैतिक के समिश्रण से शासन में ढिलाई पड़ गई जिसका परिणाम उसके वंशजों को उठाना पड़ा और सम्राट् की मृत्यु के ५० वर्ष के अन्दर अन्तिम मौर्य सम्राट वृहद्रथ का उसके सेनापति पुष्पमित्र शुंग ने बध कर डाला और उस ब्राह्मण ने नवीन राजवंश की स्थापना की।

—०—

अध्याय ७

वैदिक पुनुरुत्थान

पुष्यमित्र शुंग के समय में वैदिक परम्पराओं को प्रोत्साहन मिला। अशोक ने पशुबलि को बन्द कराकर तथा समाज का निषेद कर ब्राह्मणों के धार्मिक जीवन में एक प्रकार से शिथिलता डाल दी थी। इधर मानव समाज में कल्याण की भावना प्रलवलित हो रही थी। आचरण पद्धति से मनुष्य के सांसारिक व्यवहार में सहायता अवश्य मिले, पर पारलौकिक सुख की प्राप्ति के लिये किसी अन्य मार्ग का अनुसरण करना उसके लिये अनिवार्य था। अतः ब्राह्मण सम्राट् ने प्राचीन परम्परा का अनुसरण करके यज्ञ इत्यादि पुनः आरम्भ किया। दिव्यावदान नामक ग्रन्थ के अनुसार उसने प्रत्येक बौद्ध भिक्षु के सिर पर एक लाख दीनार का पुरस्कार घोषित किया, पर यह कथा कल्पित प्रतीत होती है। यदि शुंग सम्राट् ऐसा प्रयास करता तो तत्कालीन भरहुत और साची के सुन्दर स्तूपों के निर्माण और उन पर अंकित बुद्ध जी के जीवन सम्बन्धी चित्र न अंकित होते; और बौद्ध अपने धर्म का उस स्वतन्त्रता के साथ प्रचार न कर सकते। हां! यह बात अवश्य है कि उसके समय में वैदिक धर्म को राज्य की ओर से प्रोत्साहन मिला। पतंजलि ने अपने ग्रन्थ 'महाभाष्य' में 'इह पुश्यमित्रं याजयामः' का उदाहरण देकर यह प्रत्यक्ष प्रमाण दिया कि पुश्यमित्र के लिये ब्राह्मण यज्ञ करते थे। यह यज्ञ स्वयं सम्राट् द्वारा आयोजित किये जाते थे। अयोध्या के धनदेव के लेख से प्रतीत होता है कि सम्राट् ने स्वयं दो अश्वमेध यज्ञ किये थे। कुछ विद्वानों का विचार है कि प्रथम यज्ञ विदर्भ विजय के उपलक्ष में किया गया था और दूसरे यज्ञ का आयोजन यवनों पर विजय प्राप्ति के बाद किया गया था जिसका उल्लेख कालिदास के प्रसिद्ध नाटक 'मालिविकाग्निमित्र'



श्री मा देवता—शुंग कालीन पकी मिट्टी की छोटी मूर्ति
(आक्सफोर्ड, इन्डियन इन्स्टीयूट संग्रहालय के सौजन्य से)

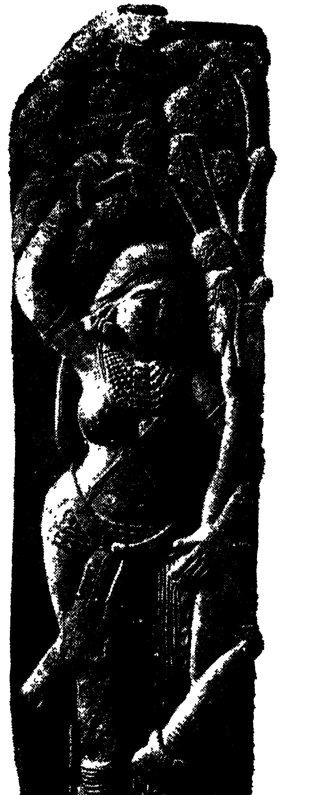
में मिलता है। यवनों के भारत पर दो आक्रमण हुए और उनका उल्लेख 'गार्गी संहिता' में भी है। इसके अनुसार यवन पाटलिपुत्र तक पहुंच गये थे पर स्थायी रूप से वे कुसुमपुर में ठहरे नहीं वरन् वापस चले गये। हो सकता है कि उनके यहाँ से लौटने पर प्रथम अश्वमेध यज्ञ किया गया हो। पतंजलि ने भी यवनों के आक्रमण का उल्लेख किया है पर महाभाष्य के अनुसार उनका आक्रमण केवल (अयोध्या) तथा माध्यिमिका (चित्तौर) तक ही सीमित रहा। इन श्रोतों के आधार पर यह कहा जा सकता है कि वैदिक धर्म का प्रादुर्भाव इस काल में हुआ। पतंजलि के महाभाष्य में अग्निष्टोम, रायसूय, तथा बाजपेय यज्ञों का उल्लेख है। विधियों तथा फल का भी भाष्यकार ने विवरण दिया है। पतंजलि ने तीन स्थानों पर अश्वमेध यज्ञ के विषय में लिखा है और यूपों की भी स्थापना होती थी। यह प्रतीत होता है कि वैदिक परम्परा के अन्तर्गत जो यज्ञ इत्यादि अशोक के समय में बन्द हो गये थे वे पुनः किये जाने लगे और ब्राह्मणों का उत्कर्ष बहुत ही बढ़ गया था।

शुंग आंध्र कालीन सभ्यता—

इस युग में शुंग राजाओं का राज्य भी मगध से लेकर विदर्भ तक विस्तृत रहा और उनके बाद क्रमशः काण्व और आंध्र वंशजों का प्रादुर्भाव हुआ। आंध्रों का राज्य दक्षिण में तेलिंगाना से लेकर उत्तर में सांची तक फैला था और मगध इत्यादि प्रान्त उसी के अंग थे। यूनानी पंजाब के आगे नहीं बढ़ सके थे। देश में साम्राज्य स्थापित करने की भावना बनी थी और इसका शुंग तथा आंध्रों के अतिरिक्त कलिंग के चेदि सम्राट् खारवेल को भी श्रेय है जिसने उत्तर में मगध को जीता और दक्षिण पश्चिम में शातकर्णी सम्राट् के विरुद्ध अपनी सेना भेजी। इन सब राजाओं ने अपनी अपनी शक्तियाँ बढ़ाकर देश में समृद्धशाली राज्य स्थापित करना चाहा। इस प्रयास में उन्हें कुछ सफलता भी मिली। सांस्कृतिक क्षेत्र में बड़ी ही प्रगति हुई। इसका मुख्य कारण देश की सुरक्षा थी। सामाजिक तथा आर्थिक

जीवन का स्तर ऊँचा था जैसा कि हमको महाभाष्य तथा तत्कालीन-कला से प्रतीत होता है। भरहुत, सांची, बोधगया और अजन्ता तथा पश्चिमी घाट की कुछ गुफायें भी उस युग की कला के प्रतीक हैं। पुरुषों के साथ-साथ स्त्रियों को आगे बढ़ने का पूर्ण अवसर था और कला में अंकित चित्रों से प्रतीत होता है कि स्त्रियों की पूर्णतया स्वतन्त्रता थी और वे पुरुषों के साथ धार्मिक तथा सामाजिक क्षेत्र में भाग लेती थीं। उस काल के सामाजिक जीवन की झलक हम महाभाष्य के अध्ययन से देख सकते हैं क्योंकि पतंजलि ने व्याख्या करते समय उदाहरण तत्कालीन राजनैतिक तथा सांस्कृतिक क्षेत्र से ही लिये हैं। इस ग्रन्थ से हमें सामाजिक, आर्थिक, धार्मिक तथा शिक्षात्मक विवरण प्राप्त होता है।

समाज के भिन्न-भिन्न अंग, कौटुम्बिक जीवन, भोजन तथा पेय पदार्थ, वेश भूषा तथा आभूषण, विवाह और स्त्रियों का समाज में स्थान, खेल कूद और अन्य मनोरंजन के साधन, इत्यादि विषयों के बारे में जानकारो प्राप्त होती है। आर्थिक क्षेत्र में भिन्न-भिन्न व्यवसायियों ने अपनी श्रेणियाँ अथवा समूह बना लिये थे। पहिले भी बहुत से व्यवसायी ऐसा करते थे जैसे गान्धिक, (तेल बेचने वाले), कुलैरिक (कुम्हार), मालाकार (पुष्प बेचने वाले) इत्यादि लोगों के अपने गण थे। पतंजलि ने पंच-कारुकी का उल्लेख किया है जिसमें पाँच व्यवसायी आते हैं कुलाल (कुम्हार), कर्मार (लोहार), वर्धकिन् (बढ़ई), नापित (नाई), और रजक (धोबी),। इनके अतिरिक्त उसने और बहुत से व्यवसायों का उल्लेख किया है जैसे धातुओं का काम करने वाले, नगरकार (थवई), भोंजन तथा भोजन सामग्री बेचने वाले, तन्तुवाय (जुलाहे) इत्यादि। कृषि तथा पशुपालन भारतीय आर्थिक जीवन का परम्परा से मुख्य अंग रहा है। व्यापार क्षेत्र में भी बड़ी ही प्रगति हुई। कुछ आंध्र सिक्को में जहाज़ अंकित है जिससे प्रतीत होता है कि सामुद्रिक व्यापार आरंभ हो गया था। इसमें सन्देह नहीं कि भारतीय नाविक बहुत पहिले से ही सामुद्रिक यात्रा में प्रवीण थे और अब उनका



भरहुत--चूल कोका देवता (भारतीय पुरातत्व विभाग के सौजन्य से)

क्षेत्र पूर्व तथा पश्चिम दिशाओं में हो गया था। ईसवी की पहली शताब्दी में भारत का अन्य देशों के साथ व्यापारिक सम्बन्ध स्थापित हो गया और यहां के ब्रोच, सोपारा तथा ताम्रलिप्ति बन्दरगाहों से विदेश माल जाता था, और वहाँ से भी यहाँ आता था जिसका पूर्ण विवरण हमें यूनानी भौगोलिक वृतान्तों में मिलता है। उच्च सामाजिक स्तर और आर्थिक सम्पन्नता से कला क्षेत्र में बहुत प्रोत्साहन मिला और इस युग की कृतियाँ अपूर्व तथा अनमोल है। भरहुत के स्तूप का निर्माण शुंग काल में हुआ था पर सांची के तोरण आंध्र काल के हैं। इन पर अंकित चित्र कलाकारों की निपुणता का प्रतीक है। यह ऐसे सुन्दर रूप से पत्थर पर चित्रित किये गये है कि वास्तव में प्रतीत होता है कि यह बोलने ही वाले हैं। इनमें सामाजिक जीवन की झांकी दिखाई पड़ती है। अजन्ता की गुफाओं में कदाचित् केवल ६ तथा १० को इस युग में रक्खा जा सकता है। पर बौद्धों ने अपने लिये पहाड़ों की चट्टानों को काटकर भाज तथा कार्ले में बडी सुन्दर गुफाएँ बनाई जो कला की दृष्टि से अपूर्व है। इस युग में धार्मिक सहिष्णुता की भावना ने पारस्परिक वैमनस्य को दबा दिया था, इसीलिये ब्राह्मण सम्राट् पुश्यमित्र शुंग ने भी बौद्धों को क्षति पहुँचायी। दोनों धर्म पूर्णतया विकसित हुए। ब्राह्मणों में वैष्णव मत भी अग्रसर हो रहा था और इस सम्प्रदाय में विदेशियों को भी स्थान मिला जैसा कि हेलियोडोरा के लेख से प्रतीत होता है। कार्ले तथा जूनर इत्यादि में मिले बहुत से यवनों के दान लेखों से ज्ञात होता है कि विदेशी भी अब भारतीय समाज का अंग बन गये थे। कौटिल्य की राजनैतिक एकता तथा अशोक की धार्मिक सहिष्णुता की भावनाओं ने भारतीय इतिहास में आदर्श स्थापित किया जिसका अनुसरण वर्तमान युग में किया गया है।

अध्याय ८

दक्षिणी भारत तथा सीलोन

दक्षिण भारत का प्राचीन इतिहास अंधकारमय है। विंध्यापर्वत के नीचे के भाग में जो कुमारी अन्तरीप तक चला गया एक ही जाति के लोग रहते थे जो काले वर्ण, चपटी नाक, घुघराले बाल तथा लम्बे सर और काले नेत्र के थे। इनको विद्वानों ने 'आदि द्राविण' कहकर संबोधित किया है। कुछ समय बाद एक अन्य जाति के लोगों ने उत्तरी पश्चिमी भाग से बलोचिस्तान के मार्ग से भारत में प्रवेश किया और वे क्रमशः दक्षिण की ओर गये। इनको प्रोटी द्राविण कहा गया है। आदि निवासियों के साथ सम्पर्क स्थापित करके दक्षिण भारत में इस नवीन जाति के लोगों ने ऐतिहासिक द्राविणों को जन्म दिया। एक प्राचीन तामिल किंवदन्ती के अनुसार दक्षिण भारत में 'पन्चद्रविड़म्' अथवा पांच द्राविण क्षेत्र थे जो क्रमशः तामिल, आंध्र अथवा तेलगु, कन्नरी, महाराष्ट्र और गुजरात थे। 'प्रोटो द्रांविण' नामक उत्तरी पश्चिमी जाति के लोगों से संसर्ग स्थापित करके गुजरात के आदि निवासियों ने तो अपना रक्त और भाषा खो दी। यही हाल महाराष्ट्र तथा कलिंग में भी हुआ जहाँ पर तेलगू केवल द्राविणी भाग में बोली जाती है। तामिल, आँध्र तथा दक्षिणी भाग में इस जाति का न तो भाषा के क्षेत्र में कुछ प्रभाव पड़ा और न रक्त में मिश्रण हुआ। ईसा काल से बहुत पहिले दक्षिणी भारत मेंइसने अपनी पृथक् संस्कृति और सभ्यता पूर्णतया स्थापित कर ली थी। यहाँ पर कई शक्तिशाली राज्य स्थापितहो चुके थे और उनका पश्चिमी ऐशिया तथा मिश्र और बाद में यूनानी और रोम साम्राज्य से व्यापारिक सम्बन्ध था। भारत और वेबीलोन के बीच भी व्यापार होता था और यहाँ से हाथी दाँत, बन्दर तथा मोर भेजे जाते थे। बाद में यहाँ से मिर्च, (तामिल पिपलि), धान (तामिल

अरिसि), अदरक (तामिल इन्जीबेर) तथा बहुत से मसाले, मोती मणि कपड़ा, तथा रेशम भेजा जाता था। इस व्यापारिक सम्बन्ध का पूर्ण रूप से यूनानी तथा रोमन भौगोलिककारों ने वृतान्त दिया है।

दक्षिण भारत के राज्य

दक्षिण भारत के तामिल राज्यों का कोई लिखित इतिहास नहीं मिलता है किन्तु बहुत से प्राचीन कवियों ने राजाओं के पराक्रमों और शासन सम्बन्धी विवरणों का उल्लेख किया है प्राचीन काल में तीन तामिल राज्य प्रमुख हैं, पांड्य, चोल और चेर अथवा केरल। पाँड्य राज्य के अन्तर्गत वर्त्तमान मदुरा-तिन्नबेली थे तथा ईसा की प्रथम शताब्दी में दक्षिणी त्रावनकोर भी था। इसकी राजधानी पहिले तिन्नबली में तम्रापर्णी निदी पर स्थित कोल्काई थी और बाद में मदुरा हुई। चोल राज्य पूर्व में पेनार नदी से लेकर बेलार तक विस्तृत था और पश्चिम में यह कुर्ग की सीमा तक जाता था,। इसकी राजधानी उरैयर (प्राचीन त्रिचनापल्ली) थी। इसका एक अन्य प्रसिद्ध नगर काँची, वर्तमान काजीवरम था, तथा कावेरीपट्टिनम अथवा पुगार नामक एक बन्दरगाह भी था। चेर अथवा केरल राज्य के अन्तर्गत वर्त्तमान त्रावनकोर कोचीन तथा मलाबार और कोंगू देश था जिसमें वर्त्तमान कोयामबटूर, और सलीम का दक्षिणी भाग आता है। इसकी प्राचीन राजधानी कोचीन के निकट वञ्जी थी। इसमें पश्चिमी किनारे पर बहुत से व्यापारिक केन्द्र थे। ईसा से कई शताब्दी पहिले भी दक्षिण भारत के राज्य सम्पन्न थे। उनका विदेशों के साथ व्यापारिक सम्बन्ध था। मेंगास्थानीज ने पाँड्य के विषय में एक किंवन्दन्ती का उल्लेख किया है जिसके अनुसार हेराकलीज (शिव) ने अपने पुत्री 'पाँडिया' को दक्षिण की साम्राज्ञी बना दिया था। कुछ विद्वानों के मदुरा ने पाँड्य राजाओं की महाभारत के पान्डवों से समानता दिखाई हैं। अशोक ने भी अपने लेखों में चेर, चोल और पाँड्य राज्यों का उल्लेख किया है जहाँ उसने अपने राजदूत भेजे। यूनानी इति-

ह्रासकार स्ट्रावों का कथन है कि पँडियन अथवा पाँड्य सम्राट् की ओर से ईसा पूर्व २२ में एक राजदूत रोम के सम्राट् आगस्टस केसर के पास गया था। ईसा की पहिली शताब्दी में उत्तरी भारत से आर्य संस्कृति का दक्षिण में प्रवेश हुआ। यद्यपि धार्मिक तथा साहित्यिक क्षेत्र में उन्हें कुछ सफलता मिली किन्तु उनका कुछ अधिक प्रभाव नहीं पड़ा। इनके पहिले बौद्ध तथा जैनियों का दक्षिण में पदार्पण हो चुका था और द्राविण समाज में अभी वर्ण व्यवस्था नहीं स्थापित हुई थी। एक किंवदन्ती के अनुसार ब्राह्मण ऋषि अगस्त्य ने विन्धया पर्वत को पारकर दक्षिण में भारतीय संस्कृति स्थापित की।

दक्षिण भारत के अन्य राज्यों में आँध्र तेलगू राज्य था जिसका उल्लेख ऐतरेय ब्राह्मण तथा महाभारत में भी मिलता हैं। इनके आधार पर केवल इतना कहा जा सकता है कि यह अनार्य राज्य था जो वर्तमान तेलिंगाना क्षेत्र में गोदावरी और कृष्णा के बीच में स्थित था। चन्द्रगुप्त मौर्य के समय में यह एक राज्य था और इसकी राजधानी कृष्णा पर स्थित श्रीकाकुलम् थी। अशोक ने भी आँध्रो को उल्लेख किया है जहाँ उसने अपने धर्म प्रचारक भेजे। इसके विषय में प्लिनी ने भी लिखा है। कुछ समय बाद इनकी राजधानी धान्यकटक हो गई थी जिसकी समानता गुन्तूर जिले में कृष्णा पर स्थित धरणकोट अथवा अमरावती से की जा सकती है और ईसवी की पहिली शताब्दी में पश्चिम में प्रतिष्ठान (गोदावरी पर स्थित पैथान) तक पहुंच गया। मौर्य तथा शुंगो के बाद आँध्रो की सत्ता बहुत बढ़ी और शातवाहन वंश ने पाँच शताब्दियो तक राज्य किया। यह राज्य उत्तर में मध्य प्रदेश तक विस्तृत था। इनके अतिरिक्त कुछ विद्वानों ने कलिंग तथा महाराष्ट्र को भी दक्षिण भारत के राज्यों में स्थान दिया है पर उसका उत्तरी भारत के साथ अधिक सम्पर्क रहा है और भाषा के आधार पर हम उन्हें दक्षिणी क्षेत्र की अपेक्षा उत्तर में रक्खेगें।

दक्षिण भारत का विदेशों से सम्बन्ध

यूनानी तथा रोम के भौगोलिक वृतान्तकार तथा संगम कालीन तामिल साहित्य के आधार पर हम दक्षिण भारत का विदेशों के साथ सांस्कृतिक तथा व्यापारिक सम्पर्क पर प्रकाश डाल सकते हैं। ईसा की पहिली शताब्दो में पश्चिमी देशों के साथ भारत का व्यापार अपनी चरम सीमा पर पहुँच चुका था। स्वयं प्लिनी का कथन है कि किसी भी वर्ष में भारत रोम से १० करोड़ सिसास्ट्रीस से कम व्यापार में नही खीचता था। रोम निवासी इतना अधिक धन अपने विलास सी समाग्रियों पर व्यय करते थे। उनकी प्रवृति ने इस भौगोलिक ग्रन्थकार के हृदय में चिन्ता उत्पन्न कर दी थी और वास्तव में यही रोम साम्राज्य के पतन का कारण हुई। भारत से मिर्च, मणि, मुक्ता, मलमल, कछुए की खाल, हाथी दाँत, तथा और बहुत सी चीजे वैरीगाजा अथवा ब्रोच के बन्दरगाह से भेजी जाती थी और विदेश से अगरचीधूप, सम पुखराज, शीशा, चाँदी तथा सोने के पात्र, ताँबा, टीन तथा सोने चाँदी के सिक्के आते थे। भारतीय पदार्थों की रोम में बहुत माँग थी। मुख्यता भारत मणिमुक्ता की खान थी। सिवेल के मातानुसार दक्षिणी भारत मे मिले हुए सिक्के इस बात का प्रमाण है कि वैदेशिक व्यापार से भारत को बड़ी आय होती थी। जिस काल के सिक्के कम मिले है उनके यह प्रतीत होता है कि उस काल में व्यापार में कुछ कमी हो गई थी। पर वारमिंगटन का कथन है कि न तो किसी काल में व्यापार की कमी हुई थी और न उच्च वर्ग के लोगों की विलास की सामग्री की ओर से रुचि ही हुई थी। भारत का रोम से व्यापारिक सम्बन्ध बराबर दृढ़ रहा। मार्क अन्तोनी से लेकर अस्टिनियन के समय (ईसा पूर्व ३० ५५० ई०) तक दोनों देशों का राजनैतिक तथा व्यापारिक सम्पर्क पूर्ण रूप से चलता रहा। 'पेरीप्लस' के लेखक तथा टालमी ने दक्षिण भारत के बहुत से प्राचीन नगर तथा केन्द्रों का उल्लेख किया है जिसमें नेलसिन्दा तथा म्यूजिगिरिस विशेष रूप से उल्लेखनीय है।

इस सम्बन्ध में हमें भारतीय ग्रन्थों से भी सहायता मिलती है। 'दिव्या-वादान' में लिखा है कि महासमुद्र यात्रा के लिए एक साथ ५०० वणिक् जाते थे। एक बार पूर्ण नामक एक व्यापारी ने विदेश यात्रा की घन्टी बजाकर घोषणा की और सोपारा बन्दरगाह में मिलने का आमन्त्रण दिया, तो ५०० वणिक् जिनमें से श्रावस्ती के निवासी भी थे वहाँ एकत्रित हुए। इस वृत्तान्त से प्रतीत होता है कि भारत के बन्दरगाहों से विदेश माल जाता था और दक्षिण भारत मे बहुत सी व्यापार की मन्डियाँ थी। 'महावस्तु' नामक ग्रन्थ में माल से लदे बड़े जहाजों का उल्लेख है। इनसे छोटी-छोटी नावों पर माल उतारा जाता था और जहाजों के चलने से पहिले टोल देनी पड़ती थी जिसे 'गुल्मतरपन्य' कहते थे। दक्षिण भारत से पूर्व दिशा में भी व्यापार होना आरम्भ हो गया था। बहुत से विद्वानों की धारणा है कि दक्षिणी पूर्वी एशिया में मलावार से, तथा कारोमन्डल तट से भारतियों ने जाकर पुर्निवास किया। पेरीप्लस में दक्षिण भारत तथा मलाया के बीच सामुद्रिक यात्रा का उल्लेख है। यह यात्रा कदाचित् उड़ीसा से गोपालपुर के निकट पलौरा नामक स्थान से आरम्भ होती थी। एक चीनी ग्रन्थ के अनुसार भारत और चीन के बीच ईसा से दूसरी शताब्दी पहिले ही सम्पर्क स्थापित हो गया था और भारत के जहाजों में माल जाता था। भारत से यह जहाज हुवांचें, जिसकी समानता कांची से की गई है, से चलते थे। यह निश्चय है कि भारत का पूर्व देशों से व्यापारिक सम्बन्ध स्थापित हो चुका था और इसमें दक्षिणी भारत का बड़ा हाँथ था, यद्यपि यह कहना भूल होगा कि केवल वहीं से भारतीय विदेश गये।

सीलोन और भारत

सीलोन और भारत के सम्बन्ध का मुख्यतया कारण तो बौद्ध धर्म है, पर वास्तव में इस धर्म के पहिले भी भारत का इस दक्षिणी द्वीप के साथ सम्बन्ध था। लंका के आदि निवासी वड्ड् कहलाते थे और वे इस द्वीप के अधिकारी थे। उनका रक्त सम्बन्ध कुरुम्ब ईरूल, तथा अन्य आदि द्राविण जंगली जातियों से

रहा होगा। इनके अतिरिक्त आर्य तथा द्राविण रक्त का भी इस द्वीप में प्रवेश हुआ। बौद्ध धर्म के पहुँचने के समय कदाचित् यह वड्ड जाति के सीलोन निवासी सांस्कृतिक क्षेत्र में ऊपर उठ गये होंगे, अन्यथा वे बौद्ध धर्म को ग्रहण करने में असमर्थ होते। इतिहास काल से ही तामिल देश के निकट होने के कारण दोनों में सांस्कृतिक सम्पर्क स्थापित हो चुका। यहाँ पर यह विशेषतया उल्लेखनीय है कि सिंहली भाषा तामिल से निकट होते हुए भी संस्कृति से निकली है। इससे यह प्रतीत होता है कि आदि काल में आर्य लोग यहाँ आये होंगे और वड्ड द्राविण सभ्यता पर उन्होंने अपना प्रभाव ही नहीं डाला, वरन् वे इसी देश का अंग बन गये। इस सम्बन्ध में 'किंवदन्तियों' के अनुसार सीलोन के आदि निवासी नाग थे और उनके झगड़ों का निपटारा बुद्ध जी ने किया था। हो सकता है कि इन वृत्तान्तों में सत्यता का कुछ अंश रहा हो। वास्तव में इस द्वीप का बुद्ध जी के समय से पूर्व का इतिहास केवल इन किंवदन्तियों में ही मिलता है। महेन्द्र द्वारा ईसा पूर्व २४६ में सीलोन में बौद्ध धर्म का प्रवेश हुआ और उसके बाद का वृतान्त बौद्ध संघ द्वारा लिखित अठ्ठकथाओं में मिलता है जिनके आधार पर 'दीपवंस' अथवा 'द्वीप का इतिहास' और 'महावंस' या 'वृहत राजवंश' ग्रंथों का निर्माण हुआ। इन ग्रंथों में उल्लिखित वृतान्तों के आधार पर यह ज्ञात होता है कि इस प्राचीन द्वीप में भारतीयों ने दो क्षेत्रों से प्रवेश किया। पहिले कुछ व्यक्ति उड़ीसा से आये और फिर सीहपुर से गये जिसकी समानता काठियावाड़ के सिहोर स्थान से की जा सकती है। यह सोपारा बन्दरगाह से जलमार्ग द्वारा आये होंगे और इन्होंने अपने देश का सिंहलद्वीप नामकरण किया और इसी से क्रमशः पालि सिंहलद्वीप, अरबी भाषा का सरनदीव, पुर्तगीज सैलाओं, और सीलोन पड़ा। यूनानी तथा रोमन लेखकों ने इसे टेप्रोवेन नाम से सम्बोधित किया है जो पालि तम्मपन्नि अथवा ताम्रपर्णि से उद्दृत है। इसकी कथा है कि जब विजय इस द्वीप में उतरा तो वह भूमि पर हथेली रख कर बैठ गया। यह पीली होगयी और इसी कारणवश उसने इसका नाम। 'तमपन्नि' रक्खा। इस देश का भारत के साथ अशोक के पहिले से भी सम्बन्ध था और सिकन्दर के

साथ में आये हुए वृत्तान्तकारो ने भी इस विषय पर प्रकाश डाला है। आने-सिक्राइटस का कथन है कि टेप्रोवेन एक द्वीप है और यहाँ के हाथी भारत के हाथियों से बड़े होते हैं। प्लिनी तथा टालमी ने इसका विस्तृत वृत्तान्त लिखा है। मेगास्थनीज़ के अनुसार यह द्वीप दो भागों में विभाजित था; और इसके निवासी पैलियोगोनी कहलाते थे और यहाँ पर सोना तथा मणिमुक्ता भारत से अधिक होता था। इस द्वीप का प्राचीन नाम सीमोन्डू था और पेरी-प्लस काल में इसे पलाईसीमोन्डू कहते थे। प्लिनी ने इस नाम से इस द्वीप की राजधानी को संवोधित किया है। रामायण तथा अन्य संस्कृति ग्रंथों में इसे लंका कहा गया है।

सीलोन में बौद्ध धर्म

किंवदन्तियों के अनुसार बुद्ध जी तथा उनके पहिले तीन और बुद्ध सीलोन में अपना धर्म प्रचार करने गये थे। दीपवंश के अनुसार ईसा से तीन शताब्दी पूर्व ७०० अनुयायियों सहित कुमार विजय ब्रोच अथवा भरूकच्छ बन्दरगाह से सीलोन के लिए प्रस्तुत हुआ। इसके बाद भारत से पन्डुवसदेव भी एक शाक्य कुमारी सहित यहाँ आया। इसने यहाँ पर निगन्ठों (जैनियो), ब्राह्मणों, परिब्राजकों (कदाचित् बौद्धों) और आजीवकों के लिए धार्मिक विहारों की स्थापना की। ईसा पूर्व २४५ में जब देवानमपिया तिस्स राजा हुआ तो उसने अशोक के पास एक सद्भावना मण्डल भेजा जिसमें एक ब्राह्मण भी था। अशोक ने सीलोन के सम्राट् के लिए भेंट भेजी और वह अशोक का शिष्य और मित्र बन गया। भारतीय सम्राट् ने सीलोन निवासियों के कल्याण हेतु अपने पुत्र पुत्री महेन्द्र तथा संघमित्रा को तथा बोधी वृक्ष की एक शाखा भी भेजी। इस विषय में पूर्ण रूप से महावंस तथा द्वीपवंस में विवरण मिलता है। बोधी वृक्ष शाखा भेजने का दृश्य सांची पर अंकित है। लंका में त्रिपिटक पर टीकायें लिखी गई जो 'अठ्ठकत्था' तथा 'सिलहठ्ठकथा' के नाम से प्रसिद्ध है और उन्ही के आधार पर 'महावंस', 'द्वीपवंस तथा बुद्धघोष का 'समन्त पासादिक।'

की रचना हुई। बौद्ध स्तूपों तथा विहारों का निर्माण दुठ्ठगामणि के समय से हुआ जिसने अशोक की भाँति बौद्धधर्म में अपनी रुचि दिखाई और 'लोहपासाद' तथा महाथूप का निर्माण किया। महासेन ने ई० की ३०१ में लोहापासाद को नष्ट करके अनुराधापुर की नींव डाली। इसके बाद मेघ-वर्मन् के समय में एक सीलोनी दूत सम्राट् समुद्रगुप्त के पास भेजा गया जिसका उद्देश्य बोध गया में लंका के बौद्ध भिक्षुओं के लिये विहार बनवाने की सम्राट् से आज्ञा लेना था। महाधूप अथवा सबनबेली स्तूप के निर्माण के समय कश्मीर तथा अलसन्दा (कदाचित् सिन्धु नदी पर स्थित यूनानियों द्वारा बसा नगर) से बौद्ध भिक्ष् आये थे। बौद्ध धर्म के विकास में सीलोन के सम्राट् वठ्ठगामणि अभय, जिसने अभयगिरि महाविहार का निर्माण किया, का विशेष रूप से हाथ रहा है।

—:०:—

अध्याय ९

सम्राट् कनिष्क और महायान धर्म

भारतीय इतिहास में सम्राट् कनिष्क का महत्वपूर्ण स्थान है। ईसवी की पहली अथवा दूसरी शताब्दी में इस सम्राट् का राज्यकाल माना जाता है। इसने एक नवीन संवत चलाया और कुछ का कहना है कि शक संवत इसी का चलाया हुआ है; पर इस विषय में विद्वानों के मत भिन्न है और यह प्रश्न विवादास्पद् है। इस वंश के सम्राटों में कनिष्क, हुविष्क तथा वासुदेव विशेष रूप से उल्लेखनीय है। अन्तिम कुषाण वासुदेव के नाम से प्रतीत होता हैं कि वह वैष्णव था। प्रथम नाम विदेशी है और इसमें सन्देह नहीं कि कुषाण एक विदेश जाति यूची के अंग थे जिसने ईसा पूर्व लगभग १६५ में पश्चिमी चीन से विदेश के लिये प्रस्थान किया। ह्यूंगनू तथा वूसून नामक अन्य जातियों से संघर्ष करते हुए यूची शकस्थान तथा अफ़गानिस्तान पहुँचे जहाँ पर इस जाति के पाँच फ़िरकों ने अपने छोटे-छोटे राज्य स्थापित किये और अन्त में कुईसुवांग अथवा कुषाण फ़िरके ने अन्य चार के राज्यों पर अधिकार करके अपना राज्य बढ़ाना आरम्भ किया। इसी वंश के कुजुल-कथफिस तथा उसके पुत्र विमकथफिस ने राज्य किया और उसके बाद कनिष्क तथा उसके वंशजों ने भारतीय शासन की बागडोर अपने हाथों में ले ली। कुजुल का राज्य तो केवल अफगानिस्तान तथा उत्तरी पश्चिमी सीमा प्रान्त के कुछ भाग तक ही सीमित था, पर जैसा कि चीनी वृतान्त से ज्ञात होता है विमकथपिम ने उत्तरी भारत पर अपना अधिकार करना चाहा और बहुत कुछ सफलता भी उसे मिली। कनिष्क कें समय में कुषाण साम्राज्य पूर्व में मगध तक और उत्तर में कश्मीर से लेकर पश्चिम में सिन्ध प्राप्त के

उत्तरी भाग तक फैला था । कदाचित् उत्तर में पुरुषपुर अथवा पेशावर राजधानी थी और पूर्व में मथुरा राजनैतिक केन्द्र था क्योंकि यहीं पर कुषाण काल के बहुत से लेख मिले हैं। राजतरंगिणी के अनुसार कुषाण सम्राटों ने कश्मीर में भी अपने अपने नामों से तीन नगरों का निर्माण किया जो क्रमशः हुष्कपुर, झुष्कपुर तथा कनिष्कपुर के नाम से विख्यात हुए । सांस्कृतिक दृष्टिकोण से इस युग की कुछ प्रमुख घटनाएं विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं—मध्य एशिया में भारतीय संस्कृति का प्रवेश, विदेशी जातियों का भारत में आगमन तथा संतुलन, धार्मिक सहिष्णुता, चतुर्थ बौद्ध सभा तथा महायान धर्म का प्रादुर्भाव, हिन्द-यूनानी रोमन कला, चीन तथा रोम के बीच भारत द्वारा रेशम का व्यापार, व्यापारिक समृद्धि तथा भारत और पूर्व तथा पश्चिमी देशों में समागम। यहां पर इन सब विषयों पर हम विशेष रूप से विचार करेंगे ।

मध्य एशिया में भारतीय संस्कृति का प्रवेश—

यह आश्वर्यजनक बात है कि भारतीय सस्कृति का विदेश में प्रस्तुत करने के लिये तैमूरलेन ऐसे योद्धा नहीं मिले जिन्होंने तलवार के जोर पर धर्म और संस्कृति को बढ़ावा दिया होता । भारतीय संस्कृति का विदेशों में विकास धीरे-धीरे शान्ति रूप से हुआ । इसीलिये यह दृढ़ और स्थिर रही । यह विचारनीय है कि भारतीय संस्कृति और धर्म, विशेष रूप से बौद्ध धर्म, चीन तथा कोरिया तक फैले पर भारत में यद्यपि इतने चीनी यात्री आए पर किसी ने कन्फूसियन मत को भारत में नहीं फैलाया । अतः यह मानना पड़ेगा कि भारत ने अपने मानसिक स्तर ऊँचा होने के कारण विदेशों को अपनी संस्कृति दी । विचारों का आदान प्रदान नहीं हुआ । उत्तरी पश्चिमी सीमा पर यूनानी तथा ईरानियो के सम्पर्क से भारतीय कला तथा अन्य क्षेत्र में कुछ प्रभाव अवश्य पड़ा । मध्य एशिया, जिसमें विशेष रूप से तारिम की घाटी, आक्सस क्षेत्र तथा

वदकशा को हम रख सकते हैं, किसी काल में एक बड़ा समृद्धशाली प्रदेश था और स्टाइन तथा अन्य पाश्चात्य विद्वानों द्वारा अन्वेषण तथा खुदाई के फलस्वरूप बहुत से प्राचीन भग्नावशेष मिले हैं, तथा ब्राह्मी लिपि में लिखे बहुत से ग्रन्थ भी उपलब्ध हुए हैं। इन भग्नावेशों मे स्तूप,गुफाएं तथा मन्दिर और विहार हैं। कुछ हिन्दू देवी-देवताओं की मूर्तियाँ भी मिली है, पर इलियट महोदय का कथन है कि इस क्षेत्र में बौद्ध धर्म ब्राह्मण मत से भिन्न था। मथुरा में मिले सम्राट हुविष्क के समय का एक लेख विशेष रूप से उल्लेखनीय है। यह कुषाण संवत् के २८वे वर्ष का है और इसमें बखान अथवा वदकशां और खरासलेर (कदाचित् निकटवर्ती प्रान्त) के स्वामी ने मथुरा में आकर ब्राह्मणों की प्राचीन शाला में केवल उन्हीं के लिये ११०० पुराण दो श्रेणियों के यहाँ जमा करा दिये थे जिसके व्याज से उन ब्राह्मणों को नियमित रूप से भोजन दिया जा सके। केवल ब्राह्मणों के लिये मध्य एशिया के एक प्रान्त के स्वामी द्वारा दिया दान यह संकेत करता है कि वहाँ पर ब्राह्मण धर्म का प्रवेश हो चुका था। इस वकनपति तथा खरासलेरपति का नाम लेख में नहीं है, पर हो सकता है कि वह कोई भारतीय ही जिसने वहां पर अपना अधिकार स्थापित कर लिया हो, अन्यथा यह कोई वहीं का निवासी रहा हो और उसने ब्राह्मण मत को स्वीकार कर लिया हो। 'कल्पनामन्डटीका' में खोतान के एक सम्राट् का नाम चेन्तन अथवा चन्द्रगुप्त लिखा है। खोतान के प्रथम भारतीय वंश का नाम विजय था। स्टाइन के मतानुसार इस राज्य वंश की स्थापना से १७० वर्ष बाद विजयसम्भव के समय में यहाँ बौद्ध धर्म का प्रादुर्भाव हुआ। इसी विद्वान का कथन है कि मध्य एशिया में, विशेष रूप से चीनी तुर्किस्तान के १५०० मील लम्बे और ६०० मील चौड़े घेरे में, बहुत से हंसते हुए समृद्धशाली नगर तथा प्रान्त थे और यहाँ पर चीनी, रोमन, तथा भारतीय सभ्यताओं का समिश्रण पाया जाता था। इसी चीनी तुर्किस्तान तथा अन्य स्थानों में खोज कर बहुत से ग्रन्थ उपलब्ध हुए हैं जो महायान बौद्ध मत के अतिरिक्त

चिकित्सा शास्त्र तथा व्याकरण आदि विषयो से सम्बन्धित हैं। यह ग्रन्थ कुषाण कालीन ब्राह्मी लिपि में लिखे हैं और इनमें अश्वघोष का प्रसिद्ध नाटक 'सारिपुत्र प्रकरण' भी है जो भारतीय नाट्य परम्परा का सबसे प्राचीन ग्रन्थ है। कुछ ग्रन्थ खरोष्टी लिपि में भी हैं और यह भी कुषाण-कालीन हैं।

चीनी यात्री हुवेनसांग का कथन है कि चीनी सम्राट् मिगटी के समय में चीन में बौद्ध धर्म का प्रवेश हुआ। इस सम्राट् के समय में उसके सेनापति पानचाओं (ईसवी ७३-१०२) ने खोतान और काशगर को जीत कर उस पर अधिकार कर लिया और यूचियों को हरा दिया। सम्राट् कनिष्क के समय में कुषाणों की संरक्षता में इन प्रान्तों क राजकुमार थे। इस काल से बौद्ध धर्म वहां भली-भांति फैला और उसे प्रोत्साहन मिला। आगे चलकर कुमारजीव इत्यादि प्रसिद्ध विद्वान हुए। इसका पिता भारत का रहने वाला था और उसने स्वयं कश्मीर के किपिन नामक स्थान में शिक्षा पाई थी। वहां से वह मध्य एशिया में कुच नामक स्थान गया और उसकी विद्वता का सूर्य देदीप्यमान हुआ। वहाँ से वह चीन गया और बहुत से बौद्ध ग्रन्थों का उसने चीनी भाषा में अनुवाद किया। मध्य एशिया में भारतीय संस्कृति और विशेष रूप से बौद्ध (महायान) मत के बहुत से केन्द्र थे जो बहुत काल तक जागृति रहे और अन्त में इस्लाम के प्रादुर्भाव के फलस्वरूप नष्ट हो गये। उनके भग्नावशेष, जिनमें तुनहुआंग की एक सहस्त्र बुद्धों की गुफा विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं, आज भी उस भारतीय संस्कृति का प्रतीक है।

अन्य विदेशियों का भारत में आगमन और धार्मिक सहिष्णुता

भारतवर्ष आदि काल से विदेशियों का स्वागत के लिये प्रसिद्ध रहा है। यूनानी, तथा ईरानी तो पहिले ही भारतीय बन चुके थे अब शक, पह्लव तथा यूचियो ने भारत में प्रवेश किया। शक तो बहुत पहिले से आक्सस नदी

के किनारे रहते थे और हेरोडोटस ने भी उनका उल्लेख किया है, तथा दारयवुष के लेखो में भी उनका विवरण मिलता है। शकों के कई निवास स्थान थे और यूचियों के आक्रमण के कारण उन्हें सीर दरिया अथवा जैक्सा सर्ट छोड़ना पड़ा। पूर्वी ईरान में पह्लव सम्राट् राज्य कर रहे थे। उन्होंने इन्हें अपने देश में आने से रोका, और यह दक्षिण पश्चिम में बोलन दर्रे की ओर से भारत में आये। पेरीप्लस तथा टालमी की भूगोल के आधार पर भारतीय शकस्तान में सिन्धु का मोहाना, सौराष्ट्र के किनारे का भाग, तथा काठियावार सम्मिलित थे। उत्तर की ओर इन्होंने पह्लव सत्ता के अन्त होने पर प्रवेश किया। कुछ विद्वानों का कथन है कि विक्रमादित्य नामक मध्य भारत के किसी शासक ने ही शकों को हरा कर एक नवीन सम्वत चलाया जो विक्रम सम्वत् के नाम से प्रसिद्ध है। ईसवी की ७८ वर्ष का सम्वत् शकों के नाम पर है पर यह कहना कठिन है कि यह किसने चलाया। जैसा पहिले कहा जा चुका है कुछ का कथन है कि इसको कनिष्क ने चलाया था पर वह तो शक न था। हो सकता है कि इसका सम्बन्ध किसी शक सम्राट् से हो। इन सम्राटों में मावेस का नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय है। यद्यपि पतंजलि ने अपने महाभाष्य में शक और यवनों को शूद्र की श्रेणी में रक्खा है पर मनुमृस्ति में इन दोनों के अतिरिक्त पह्लव तथा पारदो को क्षत्रियों की श्रेणी मे रक्खा है। इन विदेशियों ने भारतीय सामाजिक ब्यवस्था में अपना स्थान प्राप्त किया और उन्होंने ब्राह्मणों का आधिपत्य स्वीकार किया। उषवदात (ऋषमदत्ता)के बहुत से दान लेखों मे उसके पुष्कर इत्यादि पुण्य तीर्थों में दानों का उल्लेख है। उसने ८ ब्राह्मण कन्याओं के विवाह कराये और ब्राह्मणों को धन तथा गोधन दक्षिणा देकर वर्णाश्रम धर्म को अंगीकार किया। इन पहलव तथा कुषाण मुद्राओं में शिव की पूर्ति अंकित मिलती है तथा एक देवी नना भी है जिसकी समानता मातृदेवी अम्बा से की जा सकती है। कुजल कथफिस के एक लेख में उसे सचध्रमथितस अथवा 'सत्यधर्मस्तिथस्य' को उपाधि प्रदान की गई है। विमकथपिस की मुद्राओं में शिव नन्दी के साथ अंकित है। कनिष्क की मुद्राओं में यूनानी ईरानी

शैव तथा बौद्ध देवी देवताओं को स्थान मिला है जिससे प्रतीत होता है कि वास्तव में प्राचीन धार्मिक विचारधारा 'एक सद् विप्रा बहुधा वदन्ति' को उसने क्रियात्मक रूप प्रदान किया। यद्यपि वह स्वयं बौद्ध था और कुछ का विचार है उसका महायान मत से सम्बन्ध था पर अन्य श्रोतों से पता चलता है कि उसकी श्रद्धा हीनयान अथवा प्राचीन परम्परा की ओर थी। अपनी जनता के लिये उसने अपने निजी धर्म के स्थान पर धार्मिक सहिष्णुता की भावना को प्रोत्साहन दिया। इसी कारण से भिन्न भिन्न विदेशी जाति के व्यक्ति भी अपना पृथक् अस्तित्व स्थापित न रख सके और वे भारतीय सांस्कृतिक रंग में रंग गये। हुविष्क ब्राह्मण मत का अनुयायी था और अन्तिम सम्राट् वासुदेव तो नामकरण से ही पूर्णतया वैष्णव था। इन सम्राटों ने प्राचीन भारतीय परम्परा के अनुकूल धार्मिक भावनाओं के विस्तृत होने में किसी प्रकार की बाधा नहीं डाली। इसी कुषाण काल की मूर्तियों में जैन तथा बौद्ध प्रतिमायें तो मिलती हैं, ब्राह्मण तथा वैदिक यज्ञ इत्यादि के विषय में भी जानकारी प्राप्त होती है और यज्ञ समाप्ति के पश्चात् स्थापित किये यूप भी मिले हैं। इस धर्मिक सहिष्णुता की भावना ने कला तथा साहित्यिक क्षेत्र में भी प्रगति दिखाई जिसका उल्लेख हम आगे चल कर करेंगे। यहाँ पर केवल इतना कहना पर्याप्त होगा कि कुषाण युग में तथा इससे कुछ पहिले से भी भारत में कई जाति के विदेशी आये जो यहीं का अंग बन गये और वे भारतीय सामाजिक तथा धार्मिक वातावरण के सम्मुख अपना पृथक् अस्तित्व न स्थापित रख सके।

चतुर्थ बौद्ध सभा तथा महायान मत का प्रादुर्भाव

कनिष्क का राज्य काल बौद्ध धर्म से भी विशेषतया सम्बन्ध रखता है। उसके सिक्कों पर अंकित प्रतिमाओं से यह प्रतीत होता है कि सम्राट् सब धर्मों का आदर करता था पर बौद्ध किंवदन्तियों के अनुसार सम्राट् का बौद्ध धर्म से वैसा ही सम्बन्ध था जैसा कि अशोक का और उसने इस

धर्म के विकास में भाग लिया । उत्तरी किंवदन्ती के अनुसार सुदर्शन ने सम्राट् को बौद्ध धर्म की ओर प्रेरित किया था। इसके समय में विशाल सभा हुई जो एक मत के अनुसार जालन्धर के निकट कुवन विहार में और दूसरें के आधार पर कश्मीर के कुन्डलवन बिहार में हुई । इसमें पार्श्व की अध्यक्षता में ५०० अरहतो और बसुमित्र के आधिपत्य में ५०० बौधिसत्वों ने भाग लिया । चीनी यात्री हुवेनसांग ने इसका वृतान्त लिखा है। उनके अनुसार कनिष्क ने बौद्ध संघ में भेद को दूर करने के लिये पार्श्व की सलाह से एक सभा बुलाई जिसमें बौद्ध धर्म सम्बन्धी सभी मताबलम्बियों से धर्म के पवित्र ग्रन्थों पर व्याख्या करने को कहा गया। सम्राट् ने एक विहार का निर्माण किया और उसी में वसुमित्र की अध्यक्षता में विचार विनिमय हुआ । इस सभा में वादविवाद का अन्त हो गया । यद्यपि स्थाविरवादनों की संख्या अधिक थी पर महायान मत का विकास जोरों से हुआ । कुछ बौद्ध ग्रन्थकारों का कथन है कि माध्यमिक मत के प्रर्वतक बोधिसत्व नागार्जुन का जन्म इसी समय में हुआ और आगे चल कर वे महायान सम्प्रदाय के बड़े स्तम्भ हुए। वे राहुल भद्र नामक ब्राह्मण के शिष्य थे जो स्वयं महायानी थे । ब्राह्मणों का इस मत पर विशेष रूप से प्रभाव पड़ा और भक्ति भावना ने इसे ओतप्रोत कर दिया ।कुछ महायानी ग्रन्थों में तो लिखा है कि बुद्ध जी के प्रति केवल भक्ति से ध्यान करना ही मनुष्य के कल्याण के लिये पर्याप्त है । जिस प्रकार गीता में भगवान कृष्ण ने भक्त अर्जुन को अदेश किया है कि वह सब धर्मों को छोड़कर केवल उन्हीं में ही लीन हो जाये उसी प्रकार सधर्मपुन्डरीक नामक महायानी बौद्ध ग्रन्थ में भी भगवान बुद्ध के लिये ऐसी ही भक्ति भावना दिखाने का आदेश है। इसी महायान मत के प्रादुर्भाव ने गाँधार कला के क्षेत्र में भी अपना प्रभाव दिखाया। बुद्ध जी की मूर्तियाँ तो बहुत पहिले से बनने लगी थीं पर कनिष्क का समय गाँधार कला का स्वर्ण युग था। यह कला महायान मत के साथ पूर्ण रूप से अपने क्षेत्र के बाहर भी बिस्तृत हुई । यारकन्द, खोतान, मीरन, जो मध्य एशिया में तारिम की घाटी के दक्षिण पूर्वी भाग में थे, में इस कला के अब भी प्रतीक मिलते हैं।



गांधार—पञ्चक और हरीती (भारतीय पुरातत्व विभाग के सौजन्य से)

बौद्ध यूनानी अथवा गांधार कला

विद्वान लोग गांधार कला की उत्पत्ति का समय ईसा से दो शताब्दी पूर्व से रखते हैं पर यह कहना अनुपयुक्त न होगा कि धार्मिक भावनाओं का कलात्मक रूप में परिणित होना और पहिले से ही आरम्भ हो गया होगा। पुरुषपुर (पेशावर) और पुष्कलावती (चारसद्दा) तथा हजारा, और रावलपिन्डी ही इसका प्रधान क्षेत्र रहे। इसमें मुलायम नील पत्थर का उपयोग किया गया जो स्वात और बूनर की पहाड़ियों से प्राप्त होता है। सन् १८३४ में पहिलें डा० गेरड ने इस कला के कुछ अवशेषों को पाया और उन्होंने यह नामकरण दिया जो उसी समय से बराबर चल आता है। इधर कुछ विद्वान इसे 'रोमन बौद्ध कला' के नाम से सम्बोधित करने लगे हैं क्योंकि रोम से संसर्ग के कारण इसके अन्तिम चरण पर उस दिशा का कुछ प्रभाव पड़ा है, पर यह प्रत्यक्ष बात है कि पहले यूनानी ही भारत में आये। वे अपनी कला में दक्ष थे और बौद्ध होने पर उनके लिये यह स्वाभाविक था कि वे बुद्ध जी की मूर्ति बनाये जिसकी वे उपासना कर सके और उनकी जीवनी चित्रण करे। बौद्ध भारतीय कला के प्रथम रूप में जो भरहुत और सांची से आरम्भ होता है, बुद्ध जी कही भी मनुष्य के रूप में नहीं प्रदर्शित किये गये हैं। चिह्नों द्वारा उनका संकेत किया गया है। यूनानियों ने प्रथम बार बुद्ध जी को मनुष्य के रूप में दिखाया और उनकी प्रतिमायें बनी। इस कला का सम्बन्ध केवल बुद्धजी और उनके धर्म से था। इसके अन्तर्गत किसी ब्राह्मण धर्म के देवी देवता की प्रतिमा नहीं बनी। बुद्ध जी का शीश यूनानी देवता अपल्लो की भाँति बनाया गया और खड़ी हुई अवस्था में वे घुटनो तक का लम्बा और भारी चोगा पहिने है जिसे संघाटी कहते हैं। कपड़े की चुन्नट सुन्दरता से दिखाई गई है। बुद्ध जी की बैठी दशा में भी बहुत सी मूर्तियाँ बनाई गई जिसमें वे कमल पर पद्मासन में बैठे हैं। उनके नेत्र आधे खुले हैं और वे ध्यान कर रहे हैं।

बुद्ध जी के जीवन की सम्पूर्ण झाँकी पत्थर पर अंकित की गई है। इसमें गर्भाधान के समय से महापरिनिर्वाण तथा अन्तिस संस्कार तक चित्रित किये गये हैं। इनके अतिरिक्त बोधिसत्वों की भी मूर्तियाँ बनाई गई जिनमें पद्मपाणि, मञ्जुश्री तथा अवलोकितेश्वर विशेषतया उल्लेखनीय हैं। इन सबका महायान सम्प्रदाय से सम्बन्ध है।

भारत और पश्चिमी देशों में समागम—

भारतीय विदेशी सम्पर्क, राजनैतिक, सांस्कृतिक तथा व्यापारिक क्षेत्र में बहुत पहिले से ही स्थापित हो चुका था। कुषाण काल में भारत का रोम के साथ व्यापारिक सम्बन्ध बढ़ा। इसका कारण चीन से रोम को रेशम भेजना था। इस व्यापार में भारतीय मध्यस्थ का काम करते थे और इसीलिये कुषाण सिक्के भी रोमन दीनारों के आकणो के अनुसार बने। व्यापारिक क्षेत्र के अतिरिक्त राजनैतिक दिशा में भी भारत का रोम के साथ सम्बन्ध स्थापित हुआ। इस विषय पर भारतीय तथा विदेशी श्रोतों से भी प्रकाश डाला जा सकता है। स्ट्रावो का कथन है कि सम्राट् आगस्टस के समय में एक दूत बहुत सा भेंट का सामान लेकर पोरस के यहाँ से गया था। वह पोरस कोई ६०० राजाओं पर राज्य करता था। रालिन्सन के मतानुसार इस पोरस की समानता विमकथपिस से करनी चाहिए पर यह कुषाण सम्राट बहुत बाद में हुआ था। महाभारत के सभा-पर्व में युधिष्ठिर के राजसूय यज्ञ में रोमक सम्लिलित हुए थे जिनकी समानता कुछ विद्वानों ने रोम निवासियों से की है। इसमें सन्देह नहीं कि भारत से रोम की ओर राजदूतों का जाना आरम्भ हो चुका था। जस्टि-नियन के समय (५६५ ईस्वी) तक भारत से कोई चार राजदूत रोम भेजे गये थे। प्रथम ट्राजन के समय में गया था, दूसरा १३८ ईसवी में आंतोनियस पायस के यहाँ, तीसरा कान्सटनटेनियस के पास ३६१ ईसवी में और अन्तिम जस्टिनियन के पास गया था। इन सबका उद्देश्य भारत और रोम में राजनैतिक तथा सांस्कृतिक सम्पर्क स्थापित करना था।

सम्राट् कनिष्क ने तो रोमन उपाधि 'कैसर' तथा चीनी 'देवपुत्र' व ईरानी 'षाहि षाहानुषाहि' भी धारण की। उसके सिक्कों में भी ईरानी, यूनानी तथा अन्य विदेशी और भारतीय देवी देवताओं की प्रतिमायें अंकित हैं। इसी युग में भारत का चीन के साथ भी विशेष सम्पर्क स्थापित हुआ और भारत से कश्यपमतंग तथा धर्मत्रात चीन गये। इन्होंने बौद्ध धर्म का बीजीकरण उस देश में अच्छी तरह किया जो वृक्ष आगे चलकर पूर्ण रूप से विकसित हुआ। यहाँ पर यह विशेषतया उल्लेखनीय है कि रोम के प्राचीन नगर पाम्पियाई में हाथी दाँत की बनी एक सुन्दर यक्षी की मूर्ति मिली जो अद्वितीय है। विसूवियस के लावे से जलकर यह नगर ७९ ईसवी में नष्ट हो चुका था। अतः यह उससे कुछ पहिले की घटना है। इसके मिलने से इतना स्पष्ट हो गया कि भारतीय हाथी दाँत की कलाकारी, जिसके लिये मध्य प्रदेश की विदिसा नगरी प्रसिद्ध थी, के सुन्दर नमूने पश्चिम देशों में भी जाते थे। वास्तव में राजनैतिक, व्यापारिक, सांस्कृतिक तथा धार्मिक सहिष्णुता की दृष्टिकोण से कुषाण युग महत्वपूर्ण है।

अध्याय १०

गुप्तकालीन सभ्यता और कालिदास

भारतीय सभ्यता के विकास में गुप्तकाल का विशेष महत्व है। राजनैतिक दृष्टिकोण से ईसवी की चौथी शताब्दी में एकता स्थापित हुई और बिखरी हुई शक्तियों का संतुलन होकर एक विशाल साम्राज्य का निर्माण हुआ। धर्म की ओर विशेष रूप से रूचि हुई और लौकिक यश तथा कीर्ति की प्राप्ति के लिये उत्तर में समुद्रगुप्त तथा दक्षिण मे पल्लव सम्राट् शिव स्कन्दवर्मन् ने अश्वमेध यज्ञ किये। चन्द्रगुप्त द्वितीय ने शकों को हराकर भारतीय पवित्र भूमि को विदेशियो से पूर्णतया मुक्त करा दिया और गुप्त साम्राज्य बंगाल की खाड़ी से लेकर अरब सागर तक फैल गया। यह सामूहिक शक्ति स्कन्दगुप्त के समय तक रही, पर विदेशी हूणों के आक्रमणों तथा देश की आन्तरिक बिगड़ती परिस्थित के कारण गुप्त साम्राज्य को ठोकर लगी और कोई ५० वर्ष से कम समय में यह टुकड़े-टुकड़े हो गया। यद्यपि गुप्त वंशज मगध में कई शताब्दी तक राज्य करते रहे पर वे केवल स्मृति चिन्ह के रूप में थे। इस दो सौ वर्ष के गुप्त कालीन इतिहास और भारतीय संस्कृति को स्वर्ण युग भी कहा जाता है। इससे यह संकेत नहीं होता है कि उस समय भारत में सोना बरसता था पर वास्तव में राजनैतिक एकता, विस्तृत साम्राज्य, और देश की शान्ति से सांस्कृतिक क्षेत्र में बड़ी प्रगति हुई। तत्कालीन स्वर्ण मुद्राओं से प्रतीत होता है कि आर्थिक परिस्थित अच्छी थी और जनता सन्तुष्ट और समृद्ध थी। ऐसी दशा मे कला और साहित्यिक क्षेत्रों में प्रगति होना स्वाभाविक था। राज्य की ओर से प्रोत्साहन मिलने के कारण साहित्यकों तथा कलाकारों ने अपनी कृतियों को अति सुन्दर बनाने का प्रयास किया। गुप्तकालीन कला में वह सौम्यता है जिसका

कुषाणकालीन मूर्तियों में अभाव है। जीवन की वासना सम्बन्धी प्रवृतियाँ तथा अलंकृति विभूषणों के स्थान पर अब प्राकृतिक सौन्दर्य तथा साधारण रूप की प्रतिमाओं को स्थान मिला। साहित्यिक क्षेत्र में मुख्यतया कालिदास की कृतियों में हमको 'विद्या ददाति विनयं' की भावना सर्वोत्तम दिखाई पड़ती है। भारतीय औद्योगिक पुरुषार्थियों ने भारत से बाहर सुदूरपूर्व तथा उत्तर पश्चिम देशों में जाकर अपनी संस्कृति तथा सभ्यता का झन्डा लगाया। यह भारतीय, व्यापारी तथा धर्म प्रचारक के रूप में यहाँ से बाहर गये ओर इनका उन देशों में आदर सत्कार ही नहीं हुआ वरन् वहाँ की राजनैतिक बागडोर भी इनके हाथ में आ गई। पुरातात्विक अवशेषों से यह सिद्ध हो गया है कि भारतीय संस्कृति का विकास मध्य ऐशिया से लेकर दक्षिण पूर्व में जावा, सुमात्रा, बोर्नियो तथा हिन्दचीन तक हो गया था। यहाँ पर यह बात विशेषतया उल्लेखनीय है कि इसका श्रेय बौद्धों को नहीं है वरन् ब्राह्मणों को है और सुदूरपूर्व के हिन्दू राष्ट्र ओर पुरातात्विक भग्नावशेष इसके प्रतीक हैं। अतः इस अध्याय में इस स्वर्ण युग, कालिदास ओर उनकी कृतियाँ, दक्षिणी पूर्वी ऐशिया में भारतीय संस्कृति का विकास तथा गुप्तकालीन स्थाप्य, शिल्प और चित्रकला इत्यादि विषयों पर हम सूक्ष्म रूप से विवेचना करेंगे।

गुप्तकालीन स्वर्ण युग कैसे ?

यों तो भारतीय इतिहास में बड़े-बड़े सम्राट हो गये है जिनका साम्राज्य बड़ी दूर तक फैला और कई युगों में धार्मिक प्रवृतियाँ विशेष रूप से जागृत हो उठी थी। भारत का विदेशों के साथ सम्पर्क भी स्थापित हो चुका था, पर गुप्तकाल में सभी दिशाओं में एक साथ प्रगति हुई। गुप्त साम्राज्य मौर्य साम्राज्य की भाँति उतना विस्तृत न था। चन्द्रगुप्त मौर्य की भाँति न तो समुद्रगुप्त ओर न चन्द्रगुप्त द्वितीय ने भारत के शान्ति क्षेत्रों में अपनी विजय पताका फैराई। अशोक की भाँति धर्म की धुरी पर साम्राज्य के पहिये को चलाने की शक्ति इन सम्राटों में न थी, इनके लेखों में उस भावना

का अभाव है जिसके अन्तर्गत मानव समाज का स्तर ऊँचा उठाने का प्रयास किया गया हो, फिर भी न तो मौर्य युग को भारतीय इतिहास का स्वर्ण काल ही कहा जा सकता है और न इन दो महान् सम्राट् चन्द्रगुप्त और अशोक की वीरता, शोर्यता, और धार्मिक उदारता ने इस साम्राज्य को ५० वर्ष से कम समय में अंत होने से रोका। यह इतना क्षीण हो गया कि अंतिम सम्राट् वृहदथ को उसके सेनापति ने सेना के सम्मुख मार डाला और किसी ने उँगली तक न उठाई। यह देश के नैतिकपतन का नग्न स्वरूप था। गुप्त साम्राज्य का रूप एक नये साँचे में ढाला गया जिसमें विकास की पूर्ण स्वतन्त्रता थी। साम्राज्य का विस्तार धीरे-धीरे बढ़ा जिसका श्रेय समुद्रगुप्त और चन्द्रगुप्त द्वितीय को हैं और उसकी रक्षा कुमारगुप्त और स्कन्दगुप्त ने पूर्णतया की। धर्म विजय की भावना ने स्पर्धा और वैमनस्य का बीज बोने का अवकास नहीं दिया। इसीलिये शासन की ओर से गुप्त सम्राटों को कोई विपत्ति का सामना नहीं करना पड़ा। देश में शान्ति और सुव्यवस्था स्थापित हो चुकी थी। विदेशियों की ओर से भय न था अतः शक्तियों का संतुलन होकर क्रियात्मक क्षेत्र में प्रगति होना स्वाभाविक था। इस युग में विशेष रूप से कुछ प्रगति हुई जिसका उल्लेख करना उचित है। देश में एकता स्थापित हो चुकी थी, और धर्म की भावना ने सम्राट् को ईश्वर का अंश मान लिया था जिसके भलस्वरूप उसके प्रति विशेष आदर की भावना जागृति हुई। सम्राट् की उत्पत्ति विष्णु की भाँति संसार की रक्षा के लिये हुई थी। तत्कालीन साहित्य में भी सम्राट् को ईश्वर का अवतार माना है और इसीलिये कवि वाण ने भी उसे 'पृथ्वी बल्लभ' की उपाधि दी। गुप्तकालीन लेखों से शासन प्रणाली पर विशेष रूप से प्रकाश डाला गया है और इससे प्रतीत होता है कि शासन व्यवस्था केवल सुगठित ही नहीं थी वरन् उसमें प्रजातान्त्रिक भावना का भी अंश था। सान्धिविग्रहिक, महाप्रधान, मंत्री परिषद् तथा अन्य शासन प्रणाली से सम्बन्धित बहुत से पद इस बात पर प्रकाश डालते हैं। ग्राम व्यवस्था में भी इस काल में प्रगति हुई।

सुगठित शासन व्यवस्था के लिये देश भुक्ति, राष्ट्र, और मंडल में विभाजित

था। इसका परिणाम यह हुआ कि व्यवस्था में किसी प्रकार की ढील नहीं आने पाई थी। सामाजिक क्षेत्र में जाति का विशेष महत्व था और यह कहना सत्य न होगा कि वर्ण व्यवस्था की शृंखलाएँ टूट चुकी थीं, यद्यपि इधर उधर कुछ अंतरजातीय विवाहों के उदाहरण मिलते हैं। उसका कथन है कि उच्च जाति के लोग न तो जीव हत्या करते थे, न शराब पीते थे और न लहसुन प्याज ही खाते थे। स्त्रियों का समाज में स्तर ऊँचा था और उनको स्वतंत्रता थी। बहुविवाह की प्रथा कदाचित नहीं थी। जनता प्रसन्न थी और फाइयान के कथनानुसार मध्य देश में विशेष रूप से दानशालायें खुली हुई थी जिनमें विदेशियों और गरीबों के लिये प्रबन्ध था। पाटलिपुत्र में दो बड़े बिहार थे जिनमें दूर दूर से विद्वान आते थे और इस बात का अध्ययन करते थे किस प्रकार से एक दूसरे की सेवा की जाये। उस समय में कर बहुत हलके थे और जनता पर इतना बोझ न था कि वह दुखी रहे। इस आर्थिक सम्पन्नता का उदाहरण हमको अन्य सूत्रों से भी मिलता है। 'दिव्यावदान' नामक एक ग्रंथ में लिखा है, भारत से बहुत से व्यापारी विदेश को जाते थे। सुपारा और ब्रोच नामक बन्दरगाहों से एक-एक समय में एक साथ ५०० व्यापारी जाते थे।

यहाँ यह विशेषरूप से उल्लेखनीय हैं कि गुप्तकाल अपनी धार्मिक सहिष्णुता के लिए प्रसिद्ध है। यह कहना भूल होगा कि उस युग में ब्राम्हण धर्म का प्रादुर्भाव हुआ। यद्यपि यह सच है कि ब्राह्मण मत को इन सम्राटों से प्रोत्साहन मिला, पर इन्होंने अन्य धर्मों को किसी प्रकार की क्षति नही पहुँचाई। इस युग में यज्ञों का पुंनः आयोजन हुआ और समुद्रगुप्त ने स्वयं अश्वमेंध यज्ञ किया था और विशेषरूप से भक्ति की भावना भी इस काल में अपनायी गयी, जिसके अन्तर्गत दान और धार्मिक उदारता को विशेष स्थान था। इस प्रवृत्ति का प्रत्यक्ष उदाहरण हमें इस बात से मिलता है कि गुप्त सम्राट् वैष्णव थे पर उन्होंने शैवों और बौद्धों को भी उच्च पदों पर रखा। ब्राह्मणों देवी देवताओं, जैनतीर्थंकरों बुद्ध जी, तथा बोधिसत्वों के प्रति आदर सत्कार की भावना थी।

फाइयान का कथन है कि गांधारी निवासी धार्मिक क्षेत्र में एक ओर तो अध्ययन करते थे और दूसरी ओर उत्सव इत्यादि मनाते थे। बौद्ध धर्म में भी इस काल में प्रगति की ओर असंग, वसुबंध कुमारजीव तथा दिग्नाग इत्यादि बौद्ध दार्शनिक इस युग में हुए। यद्यपि हूणों के आक्रमणों से बौद्ध विहारो को बहुत क्षति पहुँची फिर भी यह धर्म नष्ट नहीं हुआ। हां ! भक्ति की भावना ने बुद्ध जी को हिन्दू अवतारों में स्थान दे दिया। बौद्ध, शैवि अथवा वैष्णव राजाओं के पारस्परिक वैवाहिक सम्बन्धों से धार्मिक स्पर्द्धा की भावना जाती रही ।

कालिदास और उनकी कृतियाँ

इस युग में साहित्य, कला तथा भारतीय संस्कृति का सुदूर पूर्व में प्रवेश करना विशेषतया उल्लेखनीय है। साहित्य के क्षेत्र में कालिदास और उनकी कृतियों का उल्लेख करना आवश्यक है ! समुद्रगुप्त स्वयं ही काव्य प्रेमी था और बह कवियों तथा विद्वानों का बड़ा आदर करता था। उसका प्रशस्तिकार हरिक्षेण था। चन्द्रगुप्त द्वितीय का कालिदास से विशेष रूप से सम्बन्ध दिखाया जाता है। कालिदास के विषय में विद्वानों की यह धारणा रही है कि यह विक्रमादित्य के नवरत्नों में से एक थे। पर यही नहीं कहा जा सकता है कि कालिदास उस विक्रम सम्राट् के यहाँ थे जिसने शको को भारत से भगाया अथवा वे चन्द्रगुप्त की राज्य सभा में थे। हाँ ! यह अवश्य प्रतीत होता है कि कालिदास को गुप्त युग में रक्खा जा सकता है, क्योंकि उनका उल्लेख सप्तम् शताब्दी के पुलकेसिन के लेख में मिलता है। कालिदास स्वयं बड़ा विद्वान था और वह समस्त वैदिक साहित्य, दर्शन, मुख्यतः सांख्य और योग, धर्म शास्त्र तथा न्यायशास्त्र में पारंगत था। इस बड़े विद्वान की महानता उसके ग्रन्थों से प्रतीत होती है जिसमें उनकी विनय की भावना विशेषतया उल्लेखनीय है। इसके ग्रन्थों में मुख्यता शकुन्तला, मालविकाग्नि मित्र, रघुवंश, मेघदूत, कुमारसम्भव तथा विक्रमोवर्शी हैं। सब ग्रन्थों में शकुन्तला सबसे श्रेष्ठहै और संसार के साहित्य में भी इसका एक अपना

स्थान है। यद्यपि इसकी कथा महाभारत से उद्धृत है तथापि कालिदास नें इसमें नवीनता डाल दी और दुर्वासा का श्राप, मुद्रा का खोना, मछुये का उसको लाना तथा सुखद अंत पहिले तो असंमजस और अंत में प्रसन्नता और सन्तोष की भावना दर्षक के हृदय में डाल देते हैं। इस ग्रन्थ में सम्राट् के लिये उसके कर्त्तव्यों का विशेष रूप से चित्रण किया गया गया है। कालिदास की अन्य कृतियों से यह ज्ञात होता है कि अपने यग का यह प्रकांड पंडित था। नाटक और काव्य रचना में वह अद्वितीय है। कालिदास के 'रघुवंश' और 'कुमारसम्भव' संस्कृति महाकाव्य के रत्न माने जाते हैं। रघुवंश में रामायण और पुराणों के आधार पर रघु के वंशज और सम्राट् दिलीप और उनकी गोसेवा का चित्रण है, पर यह सम्पूर्ण नहीं है। कुमारसम्भव में शिव और पार्वती के पुत्र कुमार की उत्पत्ति का उल्लेख है। इसके कुछ अंशों पर आनंद-वर्धन ने टिप्पणी की है। नाटकों में 'मालविकाग्निमित्र' और 'विक्रमोंवशी' विशेषतया उल्लेखनीय हैं। पहिले नाटक का विषय शुंग सम्राट अग्निमित्र का मालविका के साथ प्रेम और उसको पाने के लिये विदर्भ का संघर्ष तथा अन्त में दोनों में वैवाहिक सम्बन्ध स्थापित होना है। विक्रमोंवशी में विक्रम का गंधर्व कन्या उर्वशी के साथ प्रेम का उल्लेख है। कदाचित् यह कालिदास का अंतिम ग्रन्थ था। इनके अतिरिक्त मेघदूत में कालिदास ने अपनी काल्पनिक प्रवृत्ति को जागृत किया। कालिदास अपने युग का महान साहित्यिक था जिसकी तुलना आज भी संसार के बड़े-बड़े विद्वानों से की जाती है।

सुदूरपूर्व में भारतीय संस्कृति

ईसवी को पहली शताब्दी में भारत से ओपनिवेशिक विदेशो में जाकर बस गये थे ओर वहाँ पर उन्होंने अपना राज्य भी स्थापित कर लिया था, जैसा कि हमको कम्बुज तथा जावा में मिले लेखों से पता चलता है, पर गुप्तकाल से यह धारा ओर वेग से बहने लगी। भारत के मुख्य बन्दरगाहों से, जिनमें ब्रोच, सुपारा तथा ताम्रलिप्त और मसूलीपट्टम के निकट पलोरा थे, भारतीय

विदेश के लिये प्रस्थान करने लगे। इसका मुख्य कारण कोई राजनैतिक परिस्थित न थी जिसके अन्तर्गत उनको देश छोड़ना पड़ा, पर व्यापार और धार्मिक प्रवृतियों ने इनको प्रेरित किया कि वह विदेशों में भी जाकर अपनी संस्कृति और सभ्यता को स्थापित करें। सौभाग्यवश उनके लिये क्षेत्र खाली था और उन्होंने वहाँ पहुंचकर भारतीय राज्य स्थापित करना आरम्भ किया। सामुद्रिक मार्ग के विषय में यह कहना उचित होगा कि वे पहले मलय देश गये जो व्यापार का एक केन्द था और बाद में तकोला नामक स्थान पर उतरे जहाँ से स्थल मार्ग द्वारा उन्होंने आगे प्रवेश किया। कुछ तो दक्षिण मलाया की ओर बढ़े और कुछ पूर्व में स्याम, कम्बोडिया तथा आनाम की ओर गये। मलय देश के वेलेजली नामक प्रांत में प्राचीन भग्नावशेष प्राप्त हुए हैं जिनसे इन यात्रियों के आगमन पर प्रकाश डाला जा सकता है। एक लेख में बुद्ध गुप्त नामक एक महान नाविक के दान का उल्लेख है जिसको उसने अपनी सफल यात्रा के लिये किया था। यह रेगामति नामक स्थान का रहने वाला था जो पश्चिमी बंगाल के मुर्सिदाबाद नामक जिले में है। मलाया में बहुत से छोटे-छोटे हिन्दू राज्य थे, । जिनका उल्लेख कुछ चीनी ग्रन्थों में भी मिलता है। टुएन सुएन में ५०० वणिक् कुटुम्ब रहते थे और कोई एक हजार ब्राह्मण भी थे। इनके अतिरिक्त लगभग एक लाख बौद्ध लिगपान में रहते थे। पैनपान अथवा वानदांग में ब्राह्मणों की प्रधानता धी। बर्मा और स्यान में भी भारतीय औपनिवेश के अंश प्राप्त हुए हैं यद्यपि इनका कोई विस्तृत इतिहास नहीं है श्रीक्षेत्र, इारावती इत्यादि प्रमुख राज्य थे जिनका उल्लेख बाद में हुएनसुएन ने भी किया है। यहाँ एक बात विशेषतया उल्लेखनीय है कि भारतीय औपनिवेशिकों ने अपने देश के नाम भी इन स्थानों को दिये जैसे चम्पा, अमरावती, गंधार, विदेह, कम्बुज, कलिंग, गोमती, चन्द्रभागा इत्यादि।

दक्षिण सुदूरपूर्व में कम्बुज राज्य में विशेष रूप से भारतीय गये और यहां पर उनका राज्य एक सहस्त्र वर्ष से अधिक काल तक रहा। सर्वप्रथम कौन्डिन्य नामक ब्राह्मण ने ईसा की पहिली अथवा दूसरी शताब्दी में वहाँ पहुँचकर अपना राज्य स्थापित किया और वहाँ की रानी से

विवाह कर अपना वंश चलाया। इनके वंशजों ने भारतीयों से सम्पर्क स्थापित रक्खा और यहाँ राजदूत भी भेजे। इस समय में भारत का इस देश के साथ व्यापारिक सम्बन्ध भी स्थापित हो गया था और किय-सि-ली नामक एक पश्चिमी भारत का व्यापारी सूनोग पहुँचा और वहाँ से कोई ३ वर्ष पश्चात् वह लौटा। वहाँ के सम्राट् फनयान ने सू-वू नामक एक राजदूत को भारत भेजा और वह यहाँ से बहुत सा सामान भेंट के रूप में ले गया। यह नाम चीनी वृतांतों में मिलते हैं, और इनसे यह न समझना चाहिये कि वहाँ के रहने वाले चीनी थे। गुप्तकाल में कौन्डिय नामक एक ब्राह्मण वहाँ पर गया और उसे वहाँ के लोगों ने अपना सम्राट् चुन लिया। उस समय से भारतीय वंश का पूर्णतया इतिहास मिलता है। वहाँ से बहुत से विद्वान भारत में अध्ययन करने आए और भारत से भी बहुत से विद्वान वहाँ जाकर बस गए, और उन्होंने वहाँ के उच्च कुलों में विवाह किया। जावा में भी इस काल में भारतीय राज्य स्थापित हो चुका था। एक लेख के अनुसार देववर्मन् नामक जावा के एक सम्राट् ने एक राजदूत चीन भेजा था। इसके अतिरिक्त सुमात्रा बोर्नियों तथा बाली में भी हिन्दू औपनिवेशिक अपने राज्य स्थापित कर चुके थे। सुमात्रा में श्री विजय, जिसकी समानता वर्तमान पैलंगपाग से की जाती है, की स्थापना ईसवी की चौथी शताब्दी में हुई थी और जब ईतसिंह नामक चीनी यात्री यहाँ आया तो उसने इसको विद्या का एक बड़ा केन्द्र पाया। जावा में कई और छोटे राज्य थे जिनमें दो प्रमुख थे और पूर्णवर्मन् के लेख से पता चलता है कि यहाँ पर भारतीय पहुँच गये थे। बोर्नियों में अश्ववर्मन् के पुत्र मूलवर्मन् ने एक यज्ञ किया जिसमें उसने बीस सहस्त्र गायें वपुकेश्वर नगर में ब्राह्मणों को दीं। यह लेख जिनमें इनका उल्लेख है ईसवी के चौथी शताब्दी के हैं। बाली में भी छठी शताब्दी के पहले हिन्दू राज्य की स्थापना हो चुकी थी। एक किंवदन्ती के अनुसार शुद्धोधन की स्त्री इसी देश की थी। इन सूत्रों के आधार पर यह प्रतीत होता है कि गुप्त काल में तीव्र गति से भारत से लोग सुदूर पूर्व में जाने लगे, और वहाँ उन्होंने भारतीय संस्कृति और सभ्यता की स्थापना दृढ़ता से की। पुरातत्व भग्नावशेषों, जिनमें कुछ मंदिरों के

अंश भी मिलते हैं, से ज्ञात होता है कि वे गुप्तकालीन मंदिरों की भाँति बनाए गये थे, जिनमें गर्भगृह अर्थात् मूर्ति स्थापन का स्थान, प्रदक्षिणापथ और बाहर का मिला हुआ तोरण गुप्तकालीन मंदिर की याद दिलाता है। कुछ मूर्तियां भी मिली जिनकी समानता मथुरा और सारनाथ की मूर्तियों से की जा सकती हैं। इसके अतिरिक्त संस्कृति भाषा में मिले बहुत से लेख इस बात के प्रतीक हैं कि सुदूर पूर्व में भारतीय संस्कृति और सभ्यता भली-भाँति फली-फूली । उस समय में जब कि भारत में विदेशियों के आक्रमण हो रहे थे इन देशों में भारतीय संस्कृति के विकास में किसी प्रकार की अड़चन न थी।

गुप्त कला, स्थाप्य, शिल्प तथा चित्र

गुप्तकाल की एक विशेषता यह भी है कि कलात्मक क्षेत्र में विशेष रूप से प्रगति हुई और स्थाप्य, शिल्प, तथा चित्र कला में बड़ी उन्नति हुई और इनके अतिरिक्त हमको अजन्ता की गुफाएँ, भीटरगाँव, दिगावा तथा टेर और साँची के मंदिर, उदयगिरि में चट्टान काट कर वैष्णव मंदिर, मथुरा तथा सारनाथ की प्रसिद्ध प्रतिमायें, तथा अजन्ता की गुफाओं के कुछ चित्र भी इस काल में प्रतीक हैं। चट्टानों को काटकर गुफायें बनाने की प्रथा तो पहिले से प्रचलित थी । बौद्धों ने पश्चिमी घाट के चुने हुये स्थानों में चट्टाने काटकर रहने के लिये बिहार और पूजा के लिये चैत्यों का निर्माण किया। गुप्तकाल में एक ओर तो इस दिशा में प्रगति हुई और इन चैत्य तथा गुफाओं के द्वारों को अलंकृत किया गया और दूसरी ओर बहुत से मंदिरों का भी निर्माण हुआ। चैत्यों में मुख्यतया १९ वीं तथा २६ वीं गुफा इस काल की हैं जो अपनी सुन्दरता के लिये प्रसिद्ध हैं। बाहरी भाग में पत्थर में कटी हुई सुन्दर मूर्तियों और अन्य प्रकारों से आभूषित फलक तथा फाटक के आन्तरिक भाग में खुदे हुये स्तम्भों की कतारें विशेषतया उल्लेखनीय है। इन्हीं फलकों पर भी भिन्न प्रकार के चित्र खुदे हुये हैं। बुद्ध की मूर्ति भी इन्हीं चट्टानों से काटकर बिहारों में रख दी गई है। इससे प्रतीत होता है कि कलाकार कितने उच्च

कोटि के थे कि उन्होंने अपनी छेनी से पत्थर को काटकर सुन्दर प्रतिमाएँ बनाई। ब्राह्मण गुफाओं में उदयगिरि में जो कि विदिसा से थोड़ी दूर पर है चन्द्रगुप्त द्वितीय के समय में दो मंदिर बनाये गये । यहाँ विष्णु की बराह अवतार की मूर्ति विशेषतया उल्लेखनीय है । अन्य अवशेषों में इस काल के गुप्त युग के साँची, टेर, दिगावा तथा भीटर गाँव के मन्दिर हैं। इस युग में विशेषतया पक्की ईंटों का प्रयोग किया गया और मंदिरों को स्थायी रूप से बनाया गया जिससे वहाँ पर मूर्ति स्थापित हो सके। इन मंदिरों में सभा मंडप इत्यादि न थे और याचक केवल बाहर से ही दर्शन और प्रदक्षिणा करके चले जा सकते थे। यह मंदिर अधिकतर चौकौर होते थें, और इनकी छते साधारण थी। बाहर का फाटक मंदिर में मिला हुआ होता था और चार स्तम्मों का तोरण अलंकृत रहता था । कुछ मंदिरों में शिखर भी बनाये जाते थे। स्थाप्य कला से मूर्तिकला में विशेषतया प्रगति हुई। इसमें मनुष्य की प्रतिमाओं को बनाने का विशेष रूप से आयोजन किया गया और इसमें कुषाण काल की भाँति मादकता का अभाव है। यह मूर्तियाँ ब्राह्मण, बौद्ध तथा जैनिपों के लिये बनाई गई और इनमें अध्ययन की भावना को विशेष महत्व दिया गया। सारनाथ में मिली बुद्ध जी की ध्यानावस्था की मूर्ति विशेषतया उल्लेखनीय है जिसमें चादर की चुन्नटें प्रथमबार सुन्दरता के साथ दिखाई गई हैं। इस समय के मिट्टी के खिलौने भी बहुत से स्थानों में मिलते हैं जिनमें बालों की सवाँरने की रीतियाँ दिखाई गई हैं। गुप्त युग में चित्र कला को भी विशेष महत्व दिया गया है और अजंता की बहुत सी कृतियाँ इसी काल में बनाई गई हैं।

गुप्तकाल वास्तव में भारतीयसंस्कृत और सभ्यता का स्वर्ण युग था। इस युग में एक ओर राजनैतिक एकता स्थापित हुई और दूसरी ओर कला, साहित्य तथा सामाजिक और आर्थिक क्षेत्र में बड़ी प्रगति हुई। यह बात विशेषतया उल्लेखनीय है कि इस युग शें भारतीय औपनिवेष स्थापिश हुए जो भारतीय संस्कृति और सभ्यता के प्रतीक हैं। उनकी स्थापना में राजनैतिक सत्ता की

भावना न थी। वहाँ पर पूर्णतया स्थानीय स्वतंत्रता थी और उनका भारत से साँस्कृतिक सम्बन्ध स्थापित रखना उनके लिये हितकर था। भारत उनकी जन्मभूमि थी और इस बात का उन्हें गर्व था। उन्होंने इस संस्कृति और सभ्यता की ज्योतिय विदेशों में जलाई जो बहुत काल तक प्रज्जवलित रही। मध्य काल में जब कि भारत नें राजनैतिक उथलपुथल मची हुई थी, यह देश पूर्णतया शान्ति से अपना कार्य कर कर रहे थे, और उस समय में यहाँ पर भारतीय साहित्य तथा कला के क्षेत्र में भी बड़ी प्रगति हुई। यह कहना केवल भ्रम है कि सुदूरपूर्व में बौद्धों के कारण ही भारतीय संस्कृत की स्थापना हुई। वास्तव में बौद्धों से पहिले हिन्दू यहाँ आये और उन्होंने अपनी वर्ण व्यवस्था स्थापित की जिसका संकेत हमको लेखों से मिलता है।

अध्याय ११

हर्ष युग

गुप्त राज्य के अन्तिम काल में भारतवर्ष पर दो विपत्तियां आयी–हूणों का बाहर से आक्रमण तथा आन्तरिक उपद्रव। स्कन्दगुप्त ने अपने पुरुषार्थ के बल पर इन दोनों विरोधी शक्तियों को दबाया। उसने हूणों का आगे बढ़ना रोक दिया पर यह थोड़े समय बाद फिर बढ़े और उन्होंने भारतीय राजनीति तथा सामाजिक क्षेत्र में बड़ी उथल-पुथल मचाई। हूण लोग एक उजड्ड जाति के लोग थे जो मध्य एशिया के निवासी थे और ईसा की पांचवी शताब्दी में उन्होंने पश्चिम में फारस और भारत की ओर बढ़ना आरम्भ किया। फारस में यह पूर्णतया सफल हुए और भारत में पहिले तो वह आगे न बढ़ सके पर स्कन्दगुप्त की मृत्यु के पश्चात् कोई ऐसा गुप्त सम्राट् नहीं हुआ जो इनको रोक सकता। थोड़े से काल में पश्चिम और मध्य भारत में ये अपना राज्य स्थापित करने में सफल हुये और गुप्त सम्राट् के आधिपत्य में मध्य भारत के जो छोटे-छोटे राज्य थे वे सब हूणों के अधिकार में आ गये। इन हुणों में दो सम्राट् उल्लेखनीय है। एक तोरमाण और दूसरा उसका पुत्र मिहरकुल था। तोरमाण ईशा की छठी शताब्दी तक रहा और उसके बाद उसके पुत्र मिहरकुल ने राज्य किया, जिसके विषय में हमें विशेष रूप से लेखों में तथा हुएनसांग के वृतांत से जानकारी प्राप्त हुई। हुएनसांग के कथनानुसार मिहिरकुल ने बौद्धों का संघार किया और वह मगध की ओर बढ़ा। उस समय में वहां का राजा बालादित्य था जिसने उसके आमक्रण को रोका, तथा उसे पकड़ लिया पर अन्त में उसे छोड़ दिया। मिहरकुल भागकर कश्मीर आया और वहां उसने धोखे से वहां का राज्य हड़प कर लिया। मैन्डासोर (मध्य भारत) के दो लेखों से पता चलता है कि हूणों के

हमले रोकने का श्रेय यशोधर्मन् नामक सम्राट् को था जिसका राज्य गुप्त साम्राज्य से भी बड़ा था और ब्रह्मपुत्र से लेकर पश्चिमी सागर तक फैलाहुआ था और उसने उत्तर और पूर्व में अन्य राजाओं को भी हराया था। चीनी वृतान्तों और लेखों में मतभेद होने के कारण यह कहना कठिन है कि बालादित्य और यशोधर्मन् में से किसे हूणों को हराने का श्रेय हैं। पर यह बात निश्चित है कि हूण लोग आगे न बढ़ सके और न इनका राज्य ही स्थायी हो सका। जितनी जल्दी यह बढ़े थे उतनी तेजी से यह नष्ट भी हुये। सामाजिक क्षेत्र में अन्य विदेशियों की भांति हूण भारतीय वर्ण व्यवस्था में बहुत काल तक स्थान न पा सके और एक नवी शताब्दी के लेख से भी यह पता चलता है कि विशद नामक एक वीर ने हूणों को हराकर भारतीय भूमि को पवित्र बनाया। हूणों ने भारतीय इतिहास में अपनी बर्बरता के कारण एक स्मृति छोड़ दी है, पर इनके आक्रमणों से राजनैतिक क्षेत्र में एक विशेष जागृति उठी और उसके फलस्वरूप वहां पर जो छोटी छोटी शक्तियां गुप्त राज्य के पतन के बाद स्थापित हो चुकी उनको संतुलन करने का प्रयास किया गया। इस विषय में कुछ विद्वानों का विचार है कि वास्तव में यह वही विक्रमादित्य था जिसने शकों को हराया था और जिसके दरबार में कालिदास इत्यादि नवरत्न थे। दूसरा व्यक्ति पुष्पभूति कुल का हर्ष का पिता प्रभाकरवर्धन था जिसे उसके लेख में हूण मृगों के लिये सिंह की उपमा दी गई है। यशोवर्मन् के बाद का उसके वंशजों का इतिहास नहीं मिलता है। प्रभाकर वर्धन ने मौखरीकुल में अपनी लड़की राजश्री का विवाह करके इन दोनों राज्यों में एकता स्थापित की। भारतवर्ष में उस समय आधिपत्य के लिये पाल राजाओं, उत्तर के स्थानेश्वर वंश और दक्षिण के चालुक्य राजाओं के बीच संघर्ष होना स्वाभाविक था। अतः जब हर्ष राज. गद्दी पर बैठा तब उसके सामने बड़ी विपत्तियां थीं।

हर्ष में समुद्रगुप्त की भांति शौर्यता थी और अशोक की भांति दान शीलता। इन दोनों गुणों के मिश्रण से उसने अपने राज्य काल में एक ओर

तो उत्तरी भारत में अन्य राज्यों को जीतकर अथवा उनसे अपना आधिपत्य स्वीकार कराकर राजनैतिक एकता स्थापित की, और दूसरी ओर अपनी दानशीलता से उसने संसार के सामने एक आदर्श स्थापित किया। इस युग की विशेषताओं में चीनी यात्री हुएनसांग का भारत भ्रमण, नालंदा विश्वविद्यालय का उत्कर्ष, धार्मिक सहिष्णुता और प्रयाग में पंचवर्षीय दान सभायें हैं और इन पर हम सूक्ष्म रूप से प्रकाश डालेंगे।

हुएनसांग का भारत भ्रमण और नालन्दा

ईसवी के ६०८ से ६२७ तक का युग उत्तरी भारत में विशेष रूप से उपद्रव का काल था। भारतीय श्रोत्रों के अनुसार जिस समय हर्ष राजगद्दी पर बैठा तो परिस्थित गंभीर थी। उसके बड़े भाई तथा बहनोई गृहवर्मन् मौखारी का बध कर दिया गया था और उसके लिए यह अनिवार्य था कि वह शशांक, गुप्त, तथा मालवराजा की मिश्रित शक्तियों का नाश करें। एक बड़ी सेना लेकर उसने ६ वर्ष तक उत्तरी भारत में अपनी वीरता का परिचय दिया और उन विपत्तियों से अपने को मुक्त करा सका। शशांक के अंत का प्रमाण नहीं मिलता है पर हर्ष ने अन्य क्षेत्रों में अपना अधिपत्य स्थापित किया इस राजनैतिक एकता के कारण उत्तरी भारत में सुव्यवस्था और शान्ति पुनः स्थापित हुई। चीनी यात्री हुएनसांग ने भारत आकर यहाँ का आँखों देखा हाल लिखा जिससे हमको तत्कालीन राजनैतिक तथा सांस्कृतिक परिस्थित का पता चलता है। यह चीनी यात्री बौद्ध धार्मिक ग्रंथों की खोज और नालन्दा विश्वविद्यालय में अध्ययन के हेतु यहाँ आया था और इसने यहाँ पर कोई १५ वर्ष व्यतीत किये। इतने समय में उसने भारत के प्रमुख राज्यों का भ्रमण किया तथा नालन्दा विश्वविद्यालय में रहा। वह हर्ष का अतिथि था और सम्राट् ने उसके आदर सत्कार हेतु कन्नौज में एक परिषद् की तथा इस चीनी यात्री ने प्रयाग के पंचवर्षीय धार्मिक सम्मेलन में भी भाग लिया। इस यात्री द्वारा नालन्दा विश्वविद्यालय का वृत्तान्त विशेषतया उल्लेखनीय है। नालन्दा बख्तयारपुर से राजगिरि जाते समय बीच

में पड़ता है और यहाँ पर खुदाई कराकर प्राचीन विश्वविद्यालय के भग्नावशेष निकले हैं। इसमें कोई ११ विहार हैं जिनमें पहिला बिहार सबसे प्राचीन है और इसमें भिक्षु रहते थे। विहार के चारो ओर स्तूप थे। नालन्दा न तो मगध की राजधानी ही थी और न यह बड़ा नगर ही था, पर यह छोटा सा गांव था और यहाँ पर बुद्ध जी भी आये थे। ईसा से ५ वीं शताब्दी बाद तक उसकी विशेष उन्नति न हो सकी और जब चीनी यात्री फाह्यान यहाँ आया था तो उसने इसे केवल एक ग्राम के रूप में पाया। शक्रादित्य, जिसकी समानता कुमारगुप्त से की जाती है, ने यहाँ पर एक बड़े विहार की नींव डाली और उसके बाद नरसिंहगुप्त बालादित्य और बुद्धगुप्त ने एक एक बिहार बनवाया। बालादित्य के बाद बज्र नाम के एक राजा ने भी यहाँ दो विहार बनवाये। हर्ष शशांक के युद्ध से यहाँ बड़ी क्षति पहुँची। हर्ष ने भी इस विश्वविद्यालय की बड़ी सहायता की। बाद में यह विश्व-विद्यालय पाल राजाओं के समय में उन्नति के शिखर पर पहुँच गया। देवपाल नालन्दा विश्वविद्यालय का संरक्षक था। यह विश्वविद्यालय १३ वीं शताब्दी तक अपनी उन्नति के शिखर पर पहुँच चुका था। बख्तयार खिलजी के आक्रमण से यह नष्ट हो गया और यहाँ की पुस्तकें जला दी गयी।

इस विश्वविद्यालय के विद्यार्थी जीवन के विषय में चीनी यात्री हुएनसांग ने लिखा है कि हर एक विद्यार्थी को नवीन और प्राचीन पुस्तकों का अध्ययन करना पड़ता था। इसमें वेद, उपनिषद, तथा हीनयान और महायान ग्रन्थ पढ़ाये जाते थे। विद्यार्थियों की शिक्षा का स्तर इतना ऊँचा था और विश्वविद्यालय की ख्याति इतनी दूर-दूर फैली हुई थी कि चीन, तिब्बत, जावा और सुमात्रा इत्यादि देशों से विद्यार्थी यहाँ अध्ययन करने आते थे। विश्वविद्यालय में प्रवेश के लिए यह अनिवार्य था कि प्रार्थी द्वारपाल को अपनी परीक्षा दे जो इतनी कठिन थी कि १० में से कोई एक विद्यार्थी सफल होकर प्रवेश करता था। विद्यार्थियों की संख्या १० हजार से अधिक थी और हर एक को भोजन और वस्त्र मिलता था। यहाँ कोई एक हजार

विद्वान शिक्षक थे जो भिन्न विषयों पर भाषण देते थे। इस विश्वविद्यालय में एक बहुत बड़ा पुस्तकालय था और चीनी यात्री ने बहुत से ग्रन्थों की प्रति लिपियांकी। विद्यार्शी आठ दश वष तक यहाँ पर अध्ययन करते थे और बहुत ही साधारण जोवन व्यतीत करते थे। गुरू प्रत्येक शिष्य के ऊपर ध्यान देता था और उसकी उन्नति में उसका भी भाग रहता था। उस काल में नालन्दा के अतिरिक्त विक्रमशिला तथा वलभी में भी विद्यालय थे और इनसे प्रतीत होता है कि बौद्धिक विकास और मानसिक स्तर ऊँचा करने के लिए उच्च शिक्षा केन्द्र थे। यह उस युग की विशेषता है जिसने सांस्कृतिक तथा बौद्ध साहित्य के लिए बड़े-बड़े ग्रंथकार उत्पन्न किये। वाणभट्ट की कृतियाँ उल्लेखनोय हैं। हर्ष स्वयं भी है एक प्रसिद्ध विद्वान था और उसके ग्रन्थ 'नागानन्द' 'प्रियदर्शिका' इत्यादि प्रसिद्ध हैं।

कन्नौज की परिषद्

हुएनसांग के सम्मान में हर्ष ने कन्नौज में विशाल परिषद् का आयोजन किया। सम्राट् स्वयं कामरुप के राजा कुमार तथा अपने जामातृ वलाभी के राजा ध्रुवसिंह सहित ६० दिन में अपनी राजधानी स्थानेश्वर से कन्नौज पहुंचा, जहाँ पर ४००० बौद्ध भिक्षु, जिनमें से १००० नालन्दा विश्वविद्यालय के थे, और कोई ३००० जैन और बाह्मण विद्वान एकत्रित हुये थे। एक बहुत बड़े विहार का निर्माण किया गया और १०० फिट ऊंचे मचान पर एक बहुत बड़ी बुद्धजी की स्वर्ण मूर्ति स्थापित की गई। इसके अतिरिक्त एक बुद्ध जी की छोटी प्रतिमा भी हर्ष अपने कन्धों पर लेकर उसे स्थान तक गया। मूर्ति पूजा के पश्चात् सम्राट् ने वाद-विवाद आरम्भ किया। इस प्रकार यह आयोजन बहुत दिनों तक चलता रहा और इसी बीच में बिहार में विरोधी पक्ष ने आग लगा दी और इन विरोधियों का हर्ष ने दमन किया। अन्त ने हर्ष ने चीनी विद्वान का सम्मान कर प्रयाग की ओर प्रस्थान किया जहाँ पर पंचवर्षीय दान सम्मेलन का आयोचन हुआ था। इसमें वह अपनी पाँच

वर्ष में संचित सम्पत्ति को दान दे देता था। यह छठा समारोह ६४७ ई० में हुआ था। इसमें हर्ष का लोहा मानने वाले सम्राट् सम्मिलत हुए और जनसमूह की संख्या भी कोई ५ लाख थी। उत्तर भारत के ब्राह्मण यति तथा अन्य व्यक्ति भी थे। यह आयोजन कोई ७५ दिन तक चलता रहा। इसमें विशेष रूप से हर्ष ने अपनी धार्मिक सहिष्णुता का परिचय दिया। प्रथम दिन बुद्ध जी की मूर्ति की स्थापना हुई और बहुत से वस्त्र तथा बहुमूल्य वस्तुएं दान की गई और प्रत्येक को १०० सोने की मुद्रायें, एक मोती, एक वस्त्र, तथा सुन्दर भोजन पुष्प इत्यादि दिए। इसके बाद २० दिन तक बहुत से ब्राह्मणों को इस प्रकार का दान दिया गया और फिर जैनिनों तथा और सम्प्रदाय के व्यक्तियों को १० दिन तक दान दिया गया। दूर से आये हुए व्यक्यिों के लिए भी समय निर्धारित था और उनके पश्चात् गरीब तथा अन्य याचकों को सम्राट् ने जी खोलकर दान दिया। इस प्रकार ५ वर्ष का संचित धन द्रव्य तथा बहुमूल्य पदार्थ, सब कुछ सम्राट् बाँट देता था और उसके पास केवल देश को रक्षा के साधन घोड़े, हाथी, तथा सैनिक वस्तुएं ही रह जाता थीं। इस दान में सम्राट् बहुमूल्य मणिमुक्ता, आभूषण और वस्त्र इत्यादि सब कुछ दे देता था और अन्त में वह राजश्री से वस्त्र माँग कर पहनता था और तब वह बुद्ध जी की अन्तिम उपासना करता था। इस प्रकार का यह छठा पंचवर्षीय आयोजन हुएनसांग को बिदा देकर समाप्त हो गया। इन दोनों समारोहों से यह प्रतीत होता है कि सम्राट् के हृदय में धार्मिक सहिष्णुता, उदारता तथा एक दूसरे के प्रति सम्मान की भावना कूट कूट कर भरी थी। यद्यपि और उस युग में परस्पर धार्मिक विरोध का भाव न था फिर भी यह मानना पड़ेगा कि हर्ष ने उसको अपने तक नहीं आने दिया। शशाँक ने तो विशाल बौद्धी वृक्ष को ही उखाड़ डाला था जैसा कि ऊपर लिखा जा चुका है। ब्राह्मणों ने भी कन्नौज में आयोजित हुएनसांग के सम्मान में सभा भंग करने का इसी प्रकार का प्रयत्न किया था। उनको सफलता न मिल सकी पर हर्ष

ने इस घटना से ब्राह्मणों का बहिष्कार नहीं किया वरन् सदा की भांति उसने प्रयाग में कार्यक्रम के अन्तर्गत ब्राह्मणों को भी दान दिया ।

भारत और नैपाल तथा तिब्बत

हर्ष के समय में भारत का नैपाल और तिब्बत के साथ सम्बन्ध स्थापित हुआ । नैपाल के विषय में समुद्रगुप्त ने अपने लेख में लिखा है और उसने इस देश के साथ मित्रता स्थापित की थी, पर तिब्बत अभी तक अंधकार से बाहर नहीं आया है । कुछ विद्वानों का विचार है कि हर्ष ने नैपाल को अपने अधिकार में कर लिया था पर यह ठीक नहीं प्रतीत होता है । नैपाल एक स्वतंत्र देश था और उसका तिब्बत के साथ भी सम्बन्ध स्थापित हो चुका था । तिब्बत में शंकरसांग नामक एक सम्राट ईसवीं के ५८१ से लेकर ६०० तक में हुआ और उसने तिब्बत की बिखरी हुई जातियों को अपने संरक्षण में रखने का प्रयास किया । यह कहा जा सकता है कि उसने विशाल सेना लेकर बिहार तथा आसाम, जिसे मध्य भारत कहकर सम्बोधित किया गया है, पर आक्रमण किया । पर इसका वृतान्त हमको भारतीय सूत्रों में नहीं मिलता है । इसके बाद उसका पुत्र शंकरसांग गैमपो हुआ जो तिब्बत का सबसे बड़ा सम्राट् और उस देश का निर्माता था । यह हर्ष का समकालीन था इसने नैपाल के सम्राट् अश्ववर्मन् की पुत्री से विवाह किया और एक चीनी सम्राट् की पुत्री से भी विवाह किया । इन दोनों के प्रभाव से यह तिब्बत सम्राट् स्वयं बौद्ध हो गया और उसने अपने देश में बौद्ध धर्म को फैलाने का पूरा प्रयास किया । उसने अपने देश में लिपि चलाने के लिए एक विद्वान को वहां पर भेजा और उसने लिपिदत से भारतीय लिपियों का ज्ञान प्राप्त किया । तिब्बत पहुंच करउ सने सम्राट के समक्ष भारतीय लिपियों को रक्खा और अन्त में सम्राट् ने तत्कालीन भारतीय लिपि को अपनाया जो आज भी वहां पर प्रचलित हैं । हर्ष की मृत्यु के पश्चात् चीनी सम्राट् ने एक राजदूत भारत भेजा था पर तिरक भुक्ति के अर्जुन ने उसको लूट

लिया। अन्त में नैपाली और तिब्बती सहायता से इसको पकड़ा गया। लेवी के मतानुसार इस तिब्बती सम्राट् ने आसाम और नैपाल पर अधिकार कर लिया। यद्यपि इसमें पूर्ण सत्यता न हो फिर भी यह मानना पड़ेगा कि उस समय में भारत का इस देश के साथ सम्बन्ध स्थापित हो गया था। भारत ने तिब्बत को अंधकार युग से निकाल कर सभ्यता के क्षेत्र में पदार्पित किया। तिब्बत में भी बहुत से भारतीय ग्रन्थों का अनुवाद हुआ और वे वहां सुरक्षित रह सके।

भारत और ईरान

जिस समय हर्ष उत्तरी भारत में राज्य कर रहा था उसी समय दक्षिण भारत में उसका समकालीन सम्राट् पुलकेसिन था। उसके आईहोल के लेख से पता चलता है कि उसका लोहा दूर दूर तक अन्य भारतीय राजा मानते थे। हर्ष केसाथउसका युद्ध होना स्वाभाविक था। यद्यपि यह कहा जाता है कि उसने हर्ष को हराया पर इतना अवश्य मानना पड़ेगा कि हर्ष का राज्य नर्मदाके आगे नहीं बढ़सका और दक्षिणी सम्राट् अपने क्षेत्र का स्वामी था। इसके समय में विदेश तथा ईरान से सांस्कृतिक तथा राजनैतिक सम्पर्क स्थापित हुआ। इसका प्रत्यक्ष प्रमाण अजन्ता की प्रथम गुफा के एक चित्र से मिलता है। जिसमें ईरानी सम्राट् खुसरू के यहां से पुलकेसिन के पास भेजे गये राजदूत का चित्रण किया गया है। कुछ विद्वानों का विचार हैं कि यह चित्र केवल मादकता का प्रतीक है पर उस व्यक्ति की नुकीली दाढ़ी और चेहरा तथा वेश भूषा इस बात का प्रत्यक्ष प्रमाण हैं कि वास्तव में ईरान से राजदूत वहां आया होगा। भारत और ईरान का सांस्कृतिक सम्बन्ध तो बहुत प्राचीन है और इसका पहिले उल्लेख भी हो चुका है। थोड़े समय बाद ७३५ ईसवीं में बहुत से ईरानी, जो जराथूसरा के अनुयायी थे, धार्मिक प्रतिबन्धों के कारण ईरान से भारत में आये, और बम्बई प्रदेश के थाना जिले में साजन नामक स्थान में वे बस गये। वर्तमान पारसी उन्हीं की सन्तान हैं। भारत और ईरान का सांस्कृतिक सम्बन्ध

दृढ़ होता गया, और भारतीय दर्शन, धर्म, तथा साहित्य ने भी ईरानी साहित्य पर बड़ा प्रभाव डाला और बहुत से ग्रन्थ अरबी और फारसी में अनुवादित हुए।

हर्ष युग प्राचीन इतिहास में अपना महत्व रखता है। इस काल में बिखरी हुई शक्तियों का संतुलन हुआ जिसका श्रेय यशोवर्मन् तथा स्वयं हर्ष को है। जिन विदेशों से सम्पर्क स्थापित हुए उनमें मुख्यता चीन, तिब्बत तथा ईरान है। भारतवर्ष में दो चक्रवर्ती सम्राट् थे और इन दोनों ने उत्तरी और दक्षिणी क्षेत्र में अपनी अपनी वीरता का परिचय दिया। इस काल में कला तथा साहित्यिक क्षेत्र में भी प्रगति हुई। स्वयं हर्ष का बहुत सा समय युद्ध में बीता था पर उसकी विचारधाराएँ अशोक की भाँति धार्मिक सहिष्णुता और दानशीलता को लेकर प्रवाहित हो रही थी। उसने मानव जाति का स्तर ऊँचा करने के लिये उन धार्मिक सम्मेलनों का आयोजन किया जिनको धर्म महा मंगल कह सकते हैं। हर्ष के कोई पुत्र न था और इसकी मृत्यु के पश्चात् भारतीय राजनैतिक क्षेत्र में एक भारी खाई पड़ गई, जिसके फलस्वरूप इतिहास अंधकारमय प्रतीत होता है। सामाजिक क्षेत्र में भी अरब के भारत आने से विषम परिस्थित उत्पन्न हो गई थी। इस राजनैतिक और सामाजिक विपदाओं को टालने के लिए यह अनिवार्य था कि भारत में फिर से एक समृद्धिशाली राज्य स्थापित हो सके, जो देश की बिखरी हुई शक्तियों का संतुलन करे और विदेशियों को आगे बढ़ने से रोके तथा सामाजिक क्षेत्र में जो संकट उत्पन्न हो गया था उसको दूर कर सके। इसके बाद का इतिहास गुर्जर प्रतिहार राजाओं का इतिहास है और उस युग में देवल ऋषि की प्रधानता थी, जिसने सामाजिक क्षेत्र में एक विशेष भावना जागति कर दी।

अध्याय १२

उत्तर मध्यकालीन संस्कृति

हर्ष की मृत्यु के पश्चात् उत्तरी भारत के राजनैतिक तथा समाजिक क्षेत्र में एक बड़ी खाई उत्पन्न हो गई थी। उस समय कोई प्रबल राज शक्ति न थी जो विरोधी भावनाओं को रोक सकती और हर्ष के विस्तृत साम्राज्य को एक सूत्र में बांधती, और थोड़े समय बाद भारतवर्ष में एक नयी समस्या उत्पन्न हुई जिसने राजनैतिक और सामाजिक क्षेत्र में उथलपुथल मचा दी, इसका कारण अरबों का भारतवर्ष में आना, अपने धर्म का प्रचार करना और यहाँ पर अपना राज्य स्थापित करने का प्रयास करना था। यह बात ध्यान देने योग्य है कि यद्यपि ७११ ईसवीं में मुसलमानी राज्य की नींव भारतवर्ष में पड़ी पर १२०६ ईसवीं के पहिले उत्तरी भारत में मुसलमानों का राज्य पूर्ण रूप से स्थापित न हो सका। इस ५०० वर्ष के लम्बे काल में मुसलमानी शक्ति और इस्लाम धर्म को बढ़ाने में बड़ी अड़चनें हुईं। देश में गुर्जर-प्रतिहार राजाओं के उत्कर्ष ने अरबों की बढ़ती हुई शक्ति को रोका, तथा दूसरे सामाजिक क्षेत्र में एक नवीन भावना का उद्गार हुआ जिसके फलस्वरूप वे भारतीय जिन्होंने इस्लामी धर्म स्वीकार कर लिया था पुनः अपने पूर्वजों के धर्म में लौट सकते थे। इन दो भारतीय शक्तियों में विदेशियों की सत्ता पांच सौ वर्ष तक इस देश में स्थापित न होने दी और यहाँ इस्लाम धर्म की प्रगति मंद पड़ गई। ऐसी विपदायें होते हुए भी यह कहना भूल होगा कि हर्ष के बाद का भारतीय इतिहास अंधकारमय है और हमको किसी ओर से प्रकाश नहीं मिलता है। वास्तव में इस युग के राजनैतिक तथा सामाजिक और धार्मिक क्षेत्र में बड़ी प्रगति हुई जिस पर हम विचार करेंगे। इस अध्याय में हम इस्लाम की मंद प्रगति, देवल

स्मृति, बौद्ध धर्म का पतन, शंकराचार्य और ब्राह्मण धर्म की विजय, जैन धर्म का उत्कर्ष और प्राकृति साहित्य, तथा दक्षिण भारत और इलौरा इत्यादि विषयों पर प्रकाश डालेंगे।

इस्लाम की मंद प्रगति--

अरबों के भारतीय क्षेत्र में प्रवेश से एक नवीन सामाजिक और धार्मिक भावना का विकास हुआ। इस्लामी धार्मिक विचारधारा के अन्तर्गत ईश्वर की एकता और मनुष्यों के भ्रातव्य भाव को प्रधानता दी गई थी। भारत की प्रचलित धार्मिक प्रवृत्तियों के विपरीत उनमें धार्मिक उदारता का अभाव था। अरब केवल तलवार के बल पर अपने धर्म का प्रचार कर रहे थे। भारत में आकर उन्हें ईश्वर के पूर्ण स्वरूप, मूर्ति पूजा, तथा वर्ण व्यवस्था का सामना करना पड़ा। अन्य विदेशियों की भाँति उन्होंने न तो भारतीय देवताओं को माना और न भारत के सामाजिक अंग में मिलने का प्रयास ही किया। ऐसी अवस्था में दो विरोधी शक्तियों में संघर्ष होना स्वाभाविक था। भारतीय राज-नैतिक क्षेत्र में उस समय ३ प्रबल शक्तियाँ सम्पूर्ण भारत में अपना आधिपत्य स्थापित करने में लगी हुई थीं? उत्तर में गुर्जर-प्रतिहार तथा पाल, और दक्षिण में राष्ट्रकूट। मुसलमानों ने इस परिस्थिति से अवश्य लाभ उठाया और उन्होंने उनकी सहायता ली। जैसा कि मसूदी ने लिखा है, भारत और सिंध के राजाओं में केवल बल्लड़ राजा हैं जिसके यहाँ इस्लाम मान्य है और मुसलमानों को आश्रय मिलता है। उनकी जामा मस्जिद बहुत से स्थानों में बनी थी। मुसलमानों ने भी सर्वप्रथम भारतीय धर्म में अधिक हस्तक्षेप नहीं किया। प्रारंभ में उन्होंने थोड़ी सी उदारता दिखाई जैसा कि अलबिरादुरी ने लिखा है कि सिंध में अरब शासक ब्राह्मणों की मूर्तियों के प्रति वैमनस्य की भावना नहीं रखते थे और कभी-कभी ब्राह्मणों को अपने मंदिर पुनः बनवाने की आज्ञा दे देते

थे। ऐसी अवस्था में हिन्दू और इस्लाम तथा भारतीय और अरब शक्तियों में संघर्ष न हो सका पर यह परिस्थिति अधिक काल तक नहीं रही। जुनैद नामक अरब ने भारतवर्ष के भीतरी भागों में लगातार आक्रमण करना आरम्भ किया और उसकी सेना दक्षिण में नवसावरी और उत्तर में उज्जैन तक पहुँची। पर नौसारी के एक लेख से पता चलता है कि दक्षिण में बातापी के अवनिजनाश्रय पुलकेशिन नामक चालुक्य ने उस अरब सेना को हराकर अरबों के प्रयास को असफल कर दिया और उत्तर पूर्व में भीनमाल के सम्राट नागभट्ट ने अरबों को हराकर अपनी सत्ता स्थापित की। यह ईसा की नवीं शताब्दी की घटना है। वास्तव में प्रतिहार सम्राट् अरब शासकों से अधिक शक्तिशाली थे और इसलिये अरब आगे बढ़ने में सफल न हो सके पर अरब लोगों के पास एक ऐसा शस्त्र था जिसके कारण हिन्दू शासक अरबों को यहाँ से उखाड न सके।

मुलतान में सूर्य की एक बहुत बड़ी विशाल मूर्ति थी और इसका मन्दिर सारे भारतवासियों का तीर्थ स्थान था। उस मूर्ति की रक्षा केवल मुसलमानों के प्रथम आक्रमण के समय ही नहीं हुई वरन् वह अलमसूदी के समय लगभग ९४३ ई० तक सुरक्षित थी। अलमसूदी का कहना है कि मूर्ति को सुरक्षित रखने का कारण यह था कि वहाँ के मुसलमान शासक को राज्य कर का अधिकांश भाग उन बहुमूल्य भेंटों द्वारा ही मिल जाता था जो तीर्थ यात्रियों द्वारा मूर्ति पर चढ़ाया जाता था। अलमसूदी ने लिखा है कि जब कभी हिन्दुओं ने मुलतान जीतने की इच्छा से उस पर चढ़ाई की और यदि मुसलमानों की शक्ति क्षीण पड़ने लगी तो उन्होंने हिन्दुओं को मूर्ति भंग कर देने की धमकी दी जिससे हिन्दू सेना को बिना लड़े ही लौटना पड़ता था। इस प्रकार उन्होंने कूटनीति से काम लिया। यद्यपि अरबों का आक्रमण ७११ में भारत में हुआ था और वे मुहम्मद साहब की मृत्यु के थोड़े दिन बाद संसार के अन्य

भागो में शक्तिशाली हो गये थे किन्तु भारतवर्ष में गुर्जर प्रतिहार राज्यों के कारण वे दो शताब्दी तक सिंध के आगे नहीं बढ़ सके। प्रतिहार वंश की शक्ति जब घटने लगी और साम्राज्य छिन्न-भिन्न होकर छोटे-छोटे राजाओं के हाथों में चला गया तो अरबों को भारत में आगे बढ़ने का अवकाश लगा। गुर्जर राज्य के पतन के कारण देश में जो अशान्ति-हो गई थी वह कुछ समय बाद दूर हो गई, और दो राजपूत राजवंश शक्तिशाली हो गये। पंजाब में कोई ऐसी शक्ति न थी जो मुसलमानों को आगे बढ़ने से रोकती। इन असुविधाओं के होते हुये भी यह दोनों राजपूत वंश लगभग एक सौ वर्ष से अधिक तक मुसलमानों के आक्रमण को रोकने में सफल हुये और इसका मुख्य कारण यह था कि उनमें वीरता और पराक्रम कूट कूट कर भरा था। इसका वृतांत हमें बहुत से श्रोतों से मिलता है और जैसा कि ललितनिग्रह राजा नामक नाटक से मालूम होता है ? विशालदेव ने मुसलमानों की अगणित संख्या की कुछ परवाह न की उनसे लोहा लिया। राजपूत वीर अवश्य थे और अपने जीवन की बाजी लगाकर रण भूमि में उन्होंने मुसलमान विरोधियों को नीचा दिखाया, किन्तु उनमें एक कमजोरी थी और वह यह कि वे सुअवसर का लाभ नहीं उठा सकते थे। यह उदासीनता, तथा दुर्बलता उनमें उत्पन्न हो गई थी जिसके कारण उत्तरी भारत में मुसलमानों के पैर ११९३ ईसवी में तराई की लड़ाई के बाद पूर्णतया जमे और १२०६ ईसवी में दिल्ली पर अधिकार कर उन्होंने अपना वृहत् राज्य स्थापित किया। अत: यह मानना पड़ेगा कि इस्लाम की मंद प्रगति का श्रेय गुर्जर प्रतिहार राजाओं तथा राजपूतों की वीरता और शौर्यता को है।

देवल स्मृति

अरबों के लगातार आक्रमणों से भारतीय सामाजिक क्षेत्र में उथल पुथल मच गई थी। उनका ध्येय अपने धर्म को बढ़ाना था और यह अन्य प्राचीन आगन्तुक जातियों से भिन्न था। वे हिन्दू पुरूष और स्त्रियों को

मुसलमान बना लेते थे और उनको दास के रूप में रखते थे। भारतीय समाज मे यह प्रश्न उठा था कि अपहरण किये व्यक्तियों को पुनः हिन्दू धर्म में वापस लिया जा सकता है अथवा नहीं। यह हिन्दू जबर्दस्ती मुसलमान बनाये गये थे और पहिले के स्मृतिकारों ने ऐसी समस्या पर कोई प्रकाश नहीं डाला है। इस विषय में अरबी इतिहासकारों का स्वयं कहना है कि ऐसे बहुत से उदाहरण मिलते हैं कि इस्लाम धर्म ग्रहण करने पर भी पुनः हिन्दू धर्म में वापस आने की भावना जागृत हुई थी। उतबी का कहना है कि नवासासाह, जो कि पहिले सेवलपाल अथवा सुकपाल नाम से जयपाल का सम्बन्धी था, इस्लाम धर्म ग्रहण करने के पश्चात् भी पुनः हिन्दू धर्म में वापस आने के लिये ब्राह्मणों से विचार विनमय कर रहा था। इस शंका का समाधान देवल स्मृति से होता है जो केवल ९० श्लोकों में है। इसके निर्माता सिंध निवासी देवल ऋषि थे। जब बहुत से ब्राह्मण और अन्य वर्णो के व्यक्ति उनके पास आये और उनसे जबर्दस्ती मुसलमान बनाये गये व्यक्तियों को पुनः हिन्दू धर्म ग्रहण करने के बारे में पूछा तो देवल ने इस विषय में बहुत सुन्दर उत्तर दिया और उन्होंने उन व्यक्तियों के लिये भी सलाह दी है जिनके माता अथवा पिता मुसलमान हो गयें थे, तथा उन स्त्रियों के बारे में भी कहा है जो मुसलमानों द्वारा गर्भित कर दी गई थी। देवल ने म्लेच्छों के स्थान सिंध और सौवीर्य में जाने की भी मनाई की है। स्त्रियों के विषय में उनका कहना है कि तीन दिन के उपवास के पश्चात् वे पवित्र हो जाती थीं और यदि किसी स्त्री के गर्भ रह गया है तो जिस प्रकार शरीर से काँटा निकाल कर फेक दिया जाता है उसी प्रकार से बच्चे के पैदा होने के बाद वह मलेच्छ काँटा जब निकल जाता है तो रजस्वला होने के पश्चात् वह स्त्री पुनः हिन्दू धर्म में प्रवेश कर सकती थी। इस विषय में कई प्रायश्चित भी निर्धारित किये हैं। अरब इतिहासकारों में विलादुरी और अलबरूनी का कहना है कि हिन्दू लोग पुनः अपने उन भाइयों और बहिनों को आश्रय देने के लिये प्रयास कर रहे थे जो इस्लाम धर्म स्वीकार कर चुके थे।

जिस समय हकीम सिंध का गवर्नर था हिन्दुस्तान के निवासी जो मुसलमान हो गये थे वे हिन्दू धर्म से प्रवेश कर रहे थे और मुसलमानों के लिये कोई स्थान सुरक्षित न था। अलबरूनी का भी कथन है कि जब हिन्दू दास भागकर अपने देश पहुंचते थे तो वे फिर से अपने धर्म में प्रवेश कर जाते थे। इस प्रकार हम यह देखते हैं कि उस समस्या को हल करने के लिये देवल ऋषि ने एक सरल सुझाव दिया था जिसके फलस्वरूप इस्लाम धर्म की प्रगति बहुत समय तक धीमी पड़ गई।

बौद्ध धर्म का पतन

ब्राह्मणों की बढ़ी हुई शक्ति और उनकी उदार तथा नवीन विचार धारा से बौद्ध धर्म को बड़ी क्षति पहुँची। जिस समय हुवेनसांग यहाँ पर आया था भारतवर्ष में बौद्ध धर्म अच्छी तरह से फैला हुआ था पर नवीं शताब्दी के बाद यह केवल कुछ ही स्थानों में सीमित रह गया। बौद्ध धर्म यहाँ से लोप नहीं हुआ था क्योंकि उत्तर में पाल राजाओं ने और दक्षिण भारत के कुछ राजाओं ने भी इसको प्रोत्साहन दिया। दक्षिण में शोलापुर में कांपिल और थाना जिले के कर्नरी नामक स्थानों में इस धर्म के मुख्य केन्द्र थे पूर्वी भारत में पाल राजाओ ने बंगाल और मगध के बौद्ध संघारामो को बहुत कुछ दान दिया और बख्तयार खिलजी के समय तक उनमें से बहुत से केन्द्र स्थापित रहे पर बौद्ध धर्म की विचारधारा अन्य दिशा में प्रवाहित होने लगी। तन्त्रवाद के फलस्वरूप इसमें बहुत सी कुरीतियाँ आ गई और हिन्दू तन्त्रिकों और बौद्ध तन्त्रिकों की दृष्टि में कुछ भिन्नता नहीं रही। यहीं बौद्ध धर्म के पतन का एक बहुत बड़ा कारण था। इनके अतिरिक्त बौद्ध मठों में भी व्यभिचार की भावना प्रबल हो उठी और बौद्धों ने राजनीति में भी भाग लेना आरम्भ किया जिससे यह अपने धार्मिक अस्तित्व को धीरे-धीरे छोड़ने लगे। इधर शंकर की दिग्विजय ने बौद्धों की बहुत ही क्षति पहुंचाई, फिर भी ईसा की १२ वीं शताब्दी के अन्त तक नालन्दा बौद्धों का बड़ा केन्द्र बना रहा। अतिश नामक

एक प्रसिद्ध विद्वान भारत से तिब्बत गया और वहाँ पर उसने बौद्ध धर्म का प्रचार ही नहीं किया, वरन् बहुत से बौद्ध ग्रंथ तिब्बती भाषा में अनुवादित हुए और यह देश बौद्ध संस्कृति और साहित्य को उस समय में सुरक्षित रख सका जब भारत में राजनैतिक परिस्थिति प्रतिकूल थी।

शंकराचार्य और ब्राह्मण धर्म का उत्कर्ष

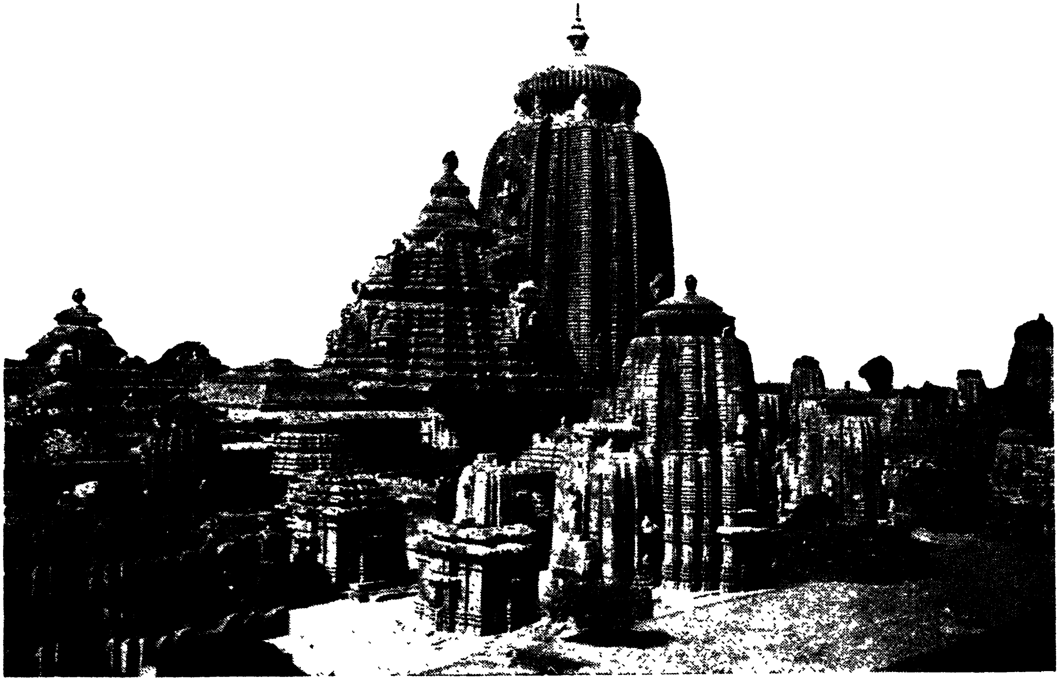
ईसा की आठवी शताब्दी में मालावर प्रदेश में एक विद्वान हुआ जो शंकराचार्य के नाम से प्रसिद्ध है। वह शैव मत का प्रख्यात निर्देशक था और हिन्दू दर्शन का प्रकांड पंडित था। ब्राह्मण कुल में पैदा होने पर वेदों का अध्ययन किया और अद्वैतवाद के सिद्धाँत को लेकर इन्होंने उपनिषद्, भगवद्गीता और ब्रह्म सूत्रों की व्याख्या की। यह केवल दार्शिनक ही न थे वरन् क्रियात्मक क्षेत्र में भी इन्होंने बहुत काम किया और मैसूर के संधेरी काठियावाड़ के द्वारका, उड़ीसा के पुरी और हिमालय में बद्रीनाथ में इन्होंने चार शैविपीठ स्थापित किये जो आज भी प्रसिद्ध हैं। शंकराचार्य ने बहुत कम अवस्था में शैविमत को बहुत ही ऊँचा स्तर प्रदान किया और यह इतना आगे बढ़ गया कि कम्बुज देश में मिले एक लेख से पता चलता है कि शिवशोम नामक एक व्यक्ति वहाँ से भारत आया और उसने भगवान शंकर के चरणों में शास्त्रों का अध्ययन किया। शंकर ने शैविमत को जो ख्याति प्रदान की, उसका प्रकाश भारत के अन्य प्रान्तों में भी हुआ। कश्मीर में नवीं दशवीं शताब्दी मे शैविमत, तथा इसके दर्शन और साहित्य के कई एक विख्याता हुए। तामिल और कन्नढ़ देश में भी शैवि धर्म ने जोर पकड़ा, कर्नाटक देश में वीर शैविमत फैला। इन शैवियों ने ब्राह्मण धर्म की अन्य शाखाओं, जैसे वैष्णव और शाक्य सम्प्रदाओं, को क्षति नहीं पहुँचाई। इस युग में एक बात विशेषतया उल्लेखनीय है कि शैवियों और वैष्णवों में प्रतिद्वन्दता नहीं रह गई थी और कई लेख मिलते हैं जिनमें इन दोनों मतों से सम्बन्धित मंदिरों का भारत

के शैवि मत के सम्प्रदाओं को दिया गया था । वैष्णव धर्म ने भी इस काल में उन्नति की ओर वैष्णव आचार्य भी हुये। वैष्णवों, भागवतों और पँचरात्रि नामक वासुदेव और नारायण के उपासक थे । भागवत पुराण के अनुसार दक्षिण भारत भी वैष्णवों का बड़ा केन्द्र बना दिया था । उन्होंने भक्तिवाद पर जोर दिया । जैनियों ने भी इस युग में प्रगति की और उनके बहुत से आचार्यों को राज्य की ओर से प्रोत्साहन मिला । कुमार पाल चालुक्य के समय में आचार्य को राज्य की ओर से प्रोत्साहन मिला। आचार्य हेमचन्द्र के पाँडित्य और शिक्षा के फलस्वरूप जैन धर्म गुजरात, काठियावाड़, कच्छ, और मालवा में तेजी से बढ़ा । इस युग में धार्मिक स्पर्धा और एक धर्म के सम्राट् का विपक्षी धर्मों को दबाने की भावना न थी। ऐसे उदाहरण हो सकते हैं कि कुछ राजाओ ने केवल अपने धर्म को प्रोत्साहन दिया हो । विदेशियों के भारतीय आगमन, मुख्यता इस्लाम, ने इन धार्मिक प्रवृतियों को परस्पर विरोधी होने से रोका; और इनमें स्वाभाविक रूप से वह शक्ति आ गई कि विरोधियों से अपने धर्म की रक्षा की जा सके ।

दक्षिण भारत और इलौरा

उत्तरी भारत की राजनीतिक, सामाजिक तथा धार्मिक विचारधाराओं पर हम प्रकाश डाल चुके हैं। पर यह न समझना चाहिए कि दक्षिण भारत अंधकार युग में था। आर्यावर्त का दक्षिण के साथ बराबर सम्बन्ध रहा। उत्तर का प्रभाव दक्षिण पर अधिक पड़ा, पर उस युग में दक्षिण के राष्ट्रकूटों ने उत्तरी भारत में आकर यहाँ के राजनीतिक क्षेत्र में अपना प्रभाव दिखाया और इन सम्राटों का उत्तरी भारत के प्रतिहार राजाओं के साथ कई शताब्दियों तक संघर्ष चलता रहा। राजनैतिक तथा धार्मिक जागृति यहाँ भी अच्छी तरह से हो चुकी थी। दक्षिण के राजाओं ने तो सुदूरपूर्व के द्वीपों पर अधिकार करने का प्रयास भी किया। इनका मुख्य ध्येय व्यापारिक रहा हो

पर यह मानना ही पड़ेगा कि उनमें संघर्ष करके वहाँ पर राज्य स्थापित करने की भावना भी थी। पल्लव राजा नरसिंहवर्मन् ने सातवीं शताब्दी में सीलोन की ओर आँखें उठाई थी। १० वीं शताब्दी में सीलोन पर आक्रमण हुआ और ११ वीं शताब्दी के आरम्भ में राज राज चोल ने यहाँ के उत्तरी भाग को जीत लिया और इसी सम्राट् के उत्तराधिकारी राजेन्द्रचोड़ कोंड ने १०१७ ई० में सम्पूर्ण सीलोन पर अधिकार कर लिया। उसने एक बहुत बड़ा बेड़ा बंगाल की खाड़ी को पार कर मलय देश की स्वर्णभूमि की ओर भी भेजा और संग्राम विजयतुंग वर्मन् को हराकर उसने मलाया में कडेरम पर अधिकार कर लिया। यह सुदूरपूर्व में हिन्दू औपनिवेशिक सत्ता स्थापित करने का उदाहरण है। इन राजनैतिक भावनाओं के साथ-साथ दक्षिण भारत में साहित्यिक तथा कलात्मक क्षेत्र में भी हम प्रगति देखते हैं जिनसे यह ज्ञात होगा कि उस समय में इन दोनों क्षेत्रों में भी पहिले सी प्रगति हुई। दक्षिणी भारत में कला के क्षेत्र में चालुक्यों में राष्ट्रकूटों, चोलों, तथा पल्लवों का बड़ा हाथ रहा। चालुक्यो राजाओं के समय में अजन्ता की प्रसिद्ध गुफाएँ बनीं थीं। राष्ट्रकूटों में कृष्ण प्रथम ने आठवीं शताब्दी मे इलोरा का प्रसिद्ध मंदिर बनवाया जो कला का सुन्दर प्रतीक है। पल्लव राजाओं ने कांजी अथवा कांजीवरम के अतिरिक्त मामल्यपुरम में समुद्र के तट पर चट्टानों को काटकर बहुत से मन्दिर बनाये गये जो रथों के नाम से प्रसिद्ध हैं। पल्लव कला में शिखर को प्रधानता दी गई है और यही जावा, कम्बोडिया अथा आनाम में भी मिलता है।।इसके बाद चोल राजाओं में राजराज चोल का बनाया हुआ कांजी का प्रसिद्ध शैव मन्दिर कला का सुन्दर प्रतीक है। इसके शिखर १९० फीट ऊंचे हैं। चोल कला में अब गोपुरम् का महत्व धीरे-धीरे बढ़ा। बीच दक्षिण प्रान्त में चालुक्यों की राजधानी बदामी में भी बहुत सी चट्टानों को काटकर ब्राह्मण मन्दिर बनाये गये और, जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है, कृष्ण का बनवाया इलौरा का कैलाश मन्दिर भारतीय कला क्षेत्र में अनुपम और श्रेष्ठ हैं। यह मन्दिर चट्टानों को काट कर बनाया गया है। इलौरा



भुवनेश्वर—लिंगराज मन्दिर (भारतीय पुरातत्व विभाग के सौजन्य से)

में कुछ बौद्ध और जैन गुफायें भी हैं। होयसलों का द्वार समुद्र का मन्दिर शिल्पकला तथा स्थाप्यकला का अनुपम प्रतीक है।

जिस समय दक्षिण भारत में कलात्मक क्षेत्र में प्रगति हो रही थी उत्तरी भारत भी पीछे न था। उड़ीसा के प्रसिद्ध मन्दिर जिनमें भुवनेश्वर के लिंगराज, मुक्तेश्वर तथा कोनारक का सूर्य मन्दिर है कलात्मक दृष्टि से सर्वश्रेष्ट है। खजुराओं का कंदरिय महादेव का मंदिर, काश्मीर में ललितादित्य द्वारा निर्माणित मारतंड का मंदिर तथा दिलवाड़ा का प्रसिद्ध जैन मन्दिर उत्तर भारतीय कला क्षेत्र में अपना विशेप स्थान रखते हैं। इस कला ने भारत से बाहर भी विदेशी कलाकारों को प्रभावित तथा प्रोत्साहित किया।

साहित्यिक युग

अंत में इस युग की साहित्यिक प्रगति पर हम प्रकाश डाल सकते हैं। बाण के बाद बहुत से विद्वान हुए हैं जिन्होंने पद्य काव्य, नाटक, दर्शन तथा अन्य क्षेत्र अपने ग्रंथों में लिखे हैं। विल्हण का 'विक्रमांक देव चरित्र', कल्हण की राजतरंगिणी, जयदेव 'का गीत गोविन्द' मम्मट का 'काव्य प्रकाश', 'राजेश्वर की 'कव्यमीमांसा' तथा 'बालभारत' और 'बालरामायण' बाण का 'सरस्वती कंठाभरण', भवभूति का 'मालती माधव' और कृष्णमूर्ति का 'प्रदोधचन्द्रोदय' काव्य तथा नाटक प्रमुख ग्रंथ है। दर्शन में कुमारिल, मंडन मिश्र, वाचस्पति, शंकराचार्य, रामानुज तथा माधवाचार्य की कृत्तियाँ विशेषतया उल्लेखनीय हैं। इनके अतिरिक्त व्याकरण, न्याय, वेद, तथा शब्दकोष इत्यादि विषयों पर भी बड़े-बड़े ग्रंथ लिखे गये हैं। दक्षिण भारत में भी प्रादेशिक भाषाओं में बहुत सी कृत्तियाँ लिखी गई। स्त्रियों ने भी इस युग में बहुत कुछ कार्य किया। मंडन मिश्र की स्त्री ने तो शंकराचार्य के साथ शास्त्रार्थ किया था। राजशेखर की स्त्री अवन्ती सुन्दरी बड़ी विद्वान थी, तथा लीलावती ने गणित पर पुस्तक लिखी। इन सब उदाहरणों को ध्यान में रखते हुये हम इस निष्कर्ष पर पहुंचते ह कि यहकहना भ्रम होगा कि हर्ष के बाद का समय राजनैतिक दृष्टिकोण से अन्धकारमय युग था। वास्तव में इस काल में भी प्रत्येक क्षेत्र में अन्वेषणों और साहित्यिक रूप से प्रगति हुई जिसको हम सूक्ष्म रूप से कर विवरण चुके हैं।

अध्याय १३

विदेशियों का राज्य स्थापन

हिन्दू राज्य का पतन और विदेशी मुसलमान राज्य का भारत में स्थापन देश के राजनैतिक और सामाजिक क्षेत्र में विशेष महत्व रखता है। यहाँ पर छोटे-छोटे राज्यों का अस्तित्व नष्ट होचुका था। उनकी पारस्परिक वैमनस्य और विरोधी भावना ने देश का द्वार विदेशियों के लिये खोल दिया था, और इस्लाम, जो कि ५०० वर्ष तक भारत में आगे न बढ़ सका था, अब भारत के ऊपर छाने लगा। इसका श्रेय महमूदगज़नी और मोहम्मदगोरी को तो है ही पर इसके साथ-साथ भारतीय राजनैतिक एकता का अभाव भी उनके लिये सहायक हुआ। यह बात भी भलीभाँति विदित है कि किस प्रकार से मुसलिम आक्रमणकारियों ने कूटनीति से काम लिया। यह कहना भूल होगा कि देश में वीरता का अभाव हो गया था। वास्तव में सच बात तो यह है कि न तो देश में वीर पुरुषों की कमी थी और न यहाँ पर साधनों का अभाव ही था। यदि ऐसी बात होती तो महमूदगज़नी भारत पर १८ बार आक्रमण करके यहाँ से असंख्य धन लूटकर न ले जाता। यदि वीरों का अभाव होता तो भारतीय एक बार पराजित होकर फिर सिर उठाने का प्रयास न करते। मोहम्मदगोरी के समय में भी वीर शासकों की भारत में कमी न थी। वास्तव में उन्होंने जिस नीति को अपनाया वह उनके लिये घातक सिद्ध हुई। पृथ्वीराज का मोहम्मदगोरी को हरा कर उसे छोड़ देना, जयचंद का पृथ्वीराज के विरुद्ध गोरी को सहायता देना और अंत में स्वयं उसके जाल में फंसना, इस बात का संकेत करता है कि हिन्दू शासकों में आपस में वैमनस्य अवश्य था। उनमें कूटनीति का अभाव था और वे वीरता और शौर्यता के आगे अन्य परिस्थितियाँ से अनिभिज्ञ थे। वास्तव में यदि उस समय कोई

चाणक्य होता तो यहाँ की परिस्थिति बिलकुल विपरीत होती। कुछ इतिहासकारों का यह विचार रहा है कि मुसमान लोग ठंडे देश के निवासी थे और माँस भक्षी थे तथा उनकी धार्मिक भावना भी इतनी प्रबल थी कि उनकी शौर्यता और कर्त्तव्यनिष्ठता के आगे भारतीय वीर नहीं ठहर सके। यह भूल है कि यदि भारतीय हारे तो इसका कारण उनमें धार्मिक प्रवृति का अभाव था, अथवा देश भक्ति की कमी थी, या किसी की वीरता में क्षति आगई थी। वास्तव में उनकी हार का कारण उनकी शक्तियों का संतुलन न होना था। बिखरी हुई शक्तियाँ एक सूत्र में नहीं बंधी थी यद्यपि कुछ राजाओं ने इसका प्रयास भी किया और उन्होंने एक साथ मिल कर महमूद से लोहा लिया। यह युग वीर गाथा काल कहलाता है क्योंकि इसमें बहुत से ऐसे वीर हो गये हैं जिनकी शौर्यता का परिचय हमको ग्रन्थों से लगता है। मुख्यतया चन्द्रवरदाई का 'पृथ्वीराजरासों' ग्रन्थ है। राजपूत का वैभव बढ़ा चढ़ा था। मुसलमानी राज्य स्थापित होने से देश में बिगड़ी हुई शक्तियों को धीरे-धीरे समेट कर इस्लाम के झंडे में लाया गया। इस अग्नि में पूर्व के पाल और सेन राज्य मध्यभारत के राजपूत और दक्षिण भारत के हिन्दू राज्य भी जले। दिल्ली राज्य धीरे-धीरे बढ़ने लगा और अलाउद्दीन के समय में राज्य विस्तार सुदूर दक्षिण में पाँड्य को छोड़कर बाकी सम्पूर्ण भारत पर फैला था। इसमें यादव, काकतिया, होयसलों तथा चौलों के राज्य समा गये थे। राज्य काल के प्रमुख राजाओं में बलवन, अलाउद्दीन खिलजी तथा मुहम्मद तुगलक विशेषतया उल्लेखनीय हैं, क्योंकि इन्होंने देश में मुसलमानी राज्य को तलवार के ज़ोर पर बढ़ाया और देश में राजनैतिक एकता स्थापित की जिसका बहुत समय से अभाव था। इस अध्याय में हम राज्य काल की कुछ प्रमुख प्रवृतियो पर विचार करेंगे, जैसे राजनीतिक एकता का प्रयास और उसका भारतीय क्षेत्र में प्रभाव, वीर गाथा काल जिसमें चन्द्रवरदायी की कृतियाँ तथा राजपूतों का जौहर और उनका वैभव, देश में धार्मिक असहिष्णुता, मुसलमानों का सामाजिक जीवन और उनकी संस्कृति का भारतीय संस्कृति पर प्रभाव इत्यादि।

राजनीतिक एकता—

मुसलमानों के आगमन और भारत में छोटे-छोटे राज्यों की स्थापना एक ही समय की बात है। राजपूतों के विषय में भिन्न प्रकार की किंवदन्तिया हैं जिसमें अग्निकुल की कथा उल्लेखनीय है। कुछ विद्वानों का विचार है कि यह सब विदेश से आये थे और हूण अथवा गुर्जर की सन्तान थे और भारतीय संस्कृति में स्थान देने से पहिले इनकी शुद्धि हुई थी, इसीलिये यह कहा जाता है कि विश्वामित्र ने आबू पहाड़ पर एक विशेष यज्ञ किया जिसमें से यह वीर निकले। वास्तव में यह काल्पनिक कथा अथवा किंवदन्ती बहुत परम्परा से चली आती है और इसका अब कोई विशेष महत्व नहीं है। हूण विदेशी अवश्य थे और उनको भारतीय समाज में में स्थान मिलने में बड़ी देर लगी जैसा कि पहिले कहा जा चुका है। ५ शताब्दी तक भारत में रहने के बाद भी वे विदेशी ही समझे जाते थे। हमको लेखों में ऐसे बहुत से उदाहरण मिलते हैं जिसमें यहाँ के राजाओं ने हूण कन्याओं से विवाह किया पर ऐसा एक भी उदाहरण नहीं मिलता है कि किसी भारतीय राजा ने हूण के साथ में अपनी लड़की का विवाह किया हो। हूण की स्त्रियाँ अपनी सुन्दरता के लिये प्रसिद्ध थीं और इसका उल्लेख राजशेखर ने भी किया है। राजपूतों का हूणों के साथ कोई सम्बन्ध नहीं था और न हम गुर्जरों को ही विदेशी कह सकते है। यह सब राजपूताने के निवासी थे और बहुत काल तक अंधकार युग में रहे। समय आने पर यह देश से बाहर निकले अपने और भिन्न-भिन्न स्थानों में उन्होंने अपने राज्य स्थापित किये। राजपूत शब्द संस्कृति भाषा के राज्यपुत्र शब्द का अपभ्रंस है। अतः यह कहा सकता है कि राजपूत वास्तव में यहीं के क्षत्रियों की सन्तान थे। उन्होंने उत्तरी भारत के भिन्न-भिन्न स्थानों में अपना राज्य स्थापित किया। महमूद के आक्रमणो से पहिले उत्तर भारत में ऐसे बहुत से राजपूत अथवा हिन्दू राज्य थे जो आपस में स्पर्धा की भावना भी रखते थे और कभी-कभी साथ में मिलकर भी उन्होंने विदेशी शक्तियों का सामना किया।

सुल्तान महमूद के आक्रमणों के बाद भी हिन्दू राजाओं का उत्तरी भारत में राज्य था। दिल्ली और अजमेर चौहानों के अधिकार में था और बुन्देलखंड में चन्देल राज्य करते थे। कन्नौज में गाहड़वालों का राज्य था। गोरी का संघर्ष सबसे पहिले पृथ्वीराज से हुआ और फिरिस्ता के कथनानुसार इस भारतीय सम्राट् को जयचंद के अतिरिक्त अन्य राजपूत राजाओं की सहायता प्राप्त थी। उसने गोरी को पराजय दी और उसको घायल भी किया। गोरी भाग कर अपने देश पहुँचा पर एक वर्ष बाद वह फिर यहाँ आया और उसन पृथ्वीराज को हराकर मुसलमान साम्राज्य की नींव डाली। उसके बाद धीरें-धीरे मुसलमान साम्राज्य उत्तर भारत में आगे बढ़ा। १२०६ ई० में कुतुबुद्दीन गद्दी पर बैठा और उसने अपना नवीन वंश चलाया। इस काल के राजनीतिक क्षेत्र में मुसलमानों का राज्य काफी बढ़ चुका था और उसके वंशजों में मुख्यतः इल्तुमस तथा बलबन ने अपने राज्य की सीमा को और विस्तृत किया। इसी समय में १२८५ में मंगोलो का प्रथम आक्रमण हुआ जिससे मुसलमान साम्राज्य के उत्तरी पश्चिमी भाग को कुछ क्षति पहुँची। खिलजी वंश के अलाउद्दीन ने अपनी नीति सम्पूर्ण भारत पर अधिकार करने की बनाई और उसको पूरा करने के लिये मलिककाफूर ने पूरी शक्ति लगाई। वास्तव में अलाउद्दीन के समय से मुसलमानो राज्य के विकास का युग आरम्भ होता है, जो लगभग ५० वर्ष तक रहा! इस काल में गुजरात, मेवाड़, चित्तौड़, देवगिरि, द्वारसमुद्र तथा मदुरा और टिनेवैली तक उसका राज्य विस्तृत हो गया। साम्राज्य अपनी चरम सीमा पर पहुँच चुका था पर अलाउद्दीन खिलजी ने तलवार के जोर से अपने साम्राज्य का निर्माण किया था जिससे वह जनता का विशेष कृपा पात्र न बन सका। एक ओर तो कुछ मुसलमान मुल्ला और नये मुसलमान उसके विरुद्ध हो गये और दूसरी ओर राष्ट्र अपनीखोई हुई स्वतंत्रता प्राप्ते करने का प्रयास करने लगे। काफूर के कारण राज्य दरबार में क्षोभ और वैमनस्य फैला हुआ था। अतः इस राजनैतिक इमारत को नष्ट होने में अधिक समय न लगा। इसके बाद के अन्य शासक कमजोर थे और

दिल्ली के शासन की बागडोर तुग़लकों के हाथ में आ गई। तुग़लकों में मुहम्मद तुग़लक का इस युग के इतिहास में विशेष स्थान है। वह न तो पागल था और न काल्पनिक, उसने अपने राज्य को विस्तृत करना चाहा और ठीक तरह से शासन किया। उसने भारत से बाहर खुरासान तक अपना राज्य बढ़ाना चाहा पर इसमें उसे असफलता का मुंह देखना पड़ा। राज्य में विद्रोह की भावना बढ़ने लगी। तुग़लकों के समय में तैमूर का आक्रमण भी हुआ और वह १३९८ ई० में दिल्ली के बाहर तक पहुँच गया। दिल्ली में वह १५ दिन तक रहा और यहाँ पर अपनी बर्बरता का परिचय दिया, उसने तुग़लक साम्राज्य को छिन्न-भिन्न कर दिया और देश के अन्य प्रान्त स्वतंत्र हो गये। राजनैतिक एकता जो अलाउद्दीन ने यहाँ पर स्थापित की थी अब नष्ट हो चुकी थी और भारत में बहुत से शक्तिशाली मुसलमान राष्ट्र स्थापित हुये तथा हिन्दुओं ने भी अपनी बिखरी हुई शक्ति को फिर से संचय करने का बीड़ा उठाया।

वीरगाथा काल

मुसलमानों की बढ़ती हुई शक्ति ने हिन्दू साम्राज्य को धीरे धीरे नष्ट कर दिया हो पर न तो यह भारतीय संस्कृति को नष्ट कर सके और न इनकी आत्मा को ही कुचल सके। हिन्दुओं में वीरता, शौर्यता तथा देश भक्ति को अभाव न था। यह भूल है कि उन्होंने तन, मन और आत्मा को बेंच दिया था और वे बहुत ही कमजोर पड़ गये थे। वास्तव में इस युग में दो प्रवृतियाँ आगे बढ़ी, एक ओर तो हिन्दुत्व और वीरता की भावना ने उन्हें इस बात के लिये प्रेरित किया कि वे मुसलमान शासकों के साथ समय समय पर लोहा लें सकें और पुन: अपनी सत्ता स्थापित करें। दूसरी ओर इन मुसलमान राज्यओं ने भी अपनी नीति से कहीं-कहीं पर उदारता भी दिखाई। शासकों ने जब मुसलमान उलमाओं का तिरस्कार किया और अपनी नीति पर चले तो देश में आर्थिक और सामाजिक क्षेत्र में प्रगति हुई। इस काल में सूफी सम्प्रदाय का प्रादु-र्भाव हुआ और उन सन्तों ने इस्लाम में वह उदारता डालने का प्रयास किया

जिसके अन्तर्गत हिन्दुओं तथा मुसलमानों के बीच बड़ी लम्बी धार्मिक खाई को पाटा जा सके। प्रेम मार्ग के अनुयायी होने के कारण उनकी विचारधारा भक्ति मार्ग की ओर बढ़ने लगी। वीरगाथा काल के अन्तर्गत हम चन्द्रवरदाई के पृथ्वीराज रासो ऐसे ग्रन्थ रख सकते हैं। वीरता का सबसे सुन्दर परिचय तो हमको जौहर प्रथा से लगता है जिसके अन्तर्गत स्त्रियाँ अपने प्राणों की आहुति देकर अपने सतीत्व की रक्षा करतीं थी। ऐसे बहुत से उदाहरण मिलते हैं जिसमें राजपूत स्त्रियों ने जौहर दिखाया। यह प्रथा प्राचीन काल में भी कहीं कहीं प्रचलित थी और इसका उल्लेख यूनानी इतिहासकारों ने एक स्थान पर किया है जिसमें कठों के साथ में संघर्ष करते समय बहुत सी स्त्रियों और बच्चों तथा पुरुषों ने अपने प्राण की आहुति अग्नि में प्रवेश करके दी। अलाउद्दीन के काल में राणा रतनसिंह की रानी पद्मिनी ने अन्य स्त्रियों सहित चित्तौड़ में जौहर का अनुपम उदाहरण दिया। इस प्रकार की प्रथा से हमको उस काल की स्त्रियों की वीरता और शौर्यता का पता चलता है। राज पूतों का वैभव इतना बढ़ा हुआ था कि वे राजनीतिक क्षेत्र में मुसलमानी सहायता को सहर्ष स्वीकार करने के लिए तैयार न थे। अतः वे केवल समय की प्रतीक्षा कर रहे थे।

सूफी संत

भारत में सूफी संत का प्रादुर्भाव इसी युग में हुआ था। यह संत समाज से अधिक हृदय की पवित्रता पर ज़ोर देते थे। इनके नेता मशायक कहलाते थे। यह सूफी योगियों की भाँति कुछ क्रियायें भी करते थे और गुरू शिष्य की परम्परा को मानते थे। उनमें प्रगति की भावना का ज़ोर था और वे कुरान हदीस तथा इस्लाम और अपने पैगम्बर मोहम्मद को मानते हुये भी रहस्यमयी कविता भजन इत्यादि से परमात्मा को प्रसन्न करते थे। उनमें कठोरता नहीं थी वरन् प्रेम भावना भरी हुई थी। सूफी मत की कई शाखाएं हो गई थीं जिनमें मुख्यतया मोइनुदीन चिस्ती का अजमेर में केन्द्र था। इसके बाद दिल्ली में भी उनका केन्द्र बना। चिस्तियों में कुतुबुद्दीन, फरीदुदीन,

निजामुद्दीन औलिया, तथा अमीर खुसरू प्रधान हो गये हैं। चिस्तियों के अतिरिक्त शहरवर्दीया सम्प्रदाय भी एक और सूफी शाखा थी जिसमें कलन्दर मस्त और सोहागिया आदि थे। सूफी मत ने इस्लाम धर्म में एक नवीन भावना जागृति कर दी थी और यह संत आगे युग के कबीर, नानक और चैतन्य आदि हिन्दू भक्ति विचारधारा वालों के लिये एक प्रकार से पथप्रदर्शक हुए।

भक्ति युग

जिस प्रकार सूफियों ने मुसलमानों में प्रेम और भक्ति की भावना प्रज्वलित की उसी प्रकार हिन्दुओं में भी इस युग में भक्ति मार्ग के बड़े-बड़े प्रदर्शक हो गये हैं। निर्गुण विचारधारा वाले घूम घूम कर भजनों, वाणियों तथा उपदेशों द्वारा अपने विचार फैला रहे थे। यह श्रुति या स्मृति को प्रधानता नहीं देते थे और न बौद्धिक विकास की ओर ही उनका ध्यान था, वरन् सत्य द्वारा ज्ञान प्राप्त करने के लिये वे भक्ति भाव से भजन करते थे। ऐसे संतों में कबीरदास का विशेष स्थान है जो रामानंद के शिष्य थे। कबीर का जन्म १४ वीं शताब्दी में हुआ और इनका सम्पर्क साधुओं, वैरागियों तथा सूफियों आदि से था। वे स्वतंत्र विचार के थे और हिन्दू मुसलमान आदि के भेदों को नहीं मानते थे। उन्होंने राम और रहीम का एक ही स्वरूप माना। उनके विचार से इन्द्रियों का दमन कर काम, क्रोध, मोह, लोभ आदि को त्याग कर तप सत्य, दया, अहिंसा को अपनाकर पूर्ण रूप से आत्मिक शक्ति प्राप्त हो सकती है। वे अवतार, मूर्ति पूजा, तीर्थयात्रा, हज्ज इत्यादि को नहीं मानते थे; और गुरू भक्ति और सतसंग को ही महत्व देते थे। कबीर के सिद्धांतों ने आगे चलकर बहुत से लोगों को प्रभावित किया जिस पर पुनः विचार आगे किया जायेगा। दक्षिण भारत में भी भक्ति की भावना जोर पकड़ रही थी। रामानुज आचार्य ने, जो ११ वी सदी में दक्षिण के कांची में हुये थे, वैष्णव मत का प्रचार कर रहे थे। उन्होंने श्रीसम्प्रदाय को जन्म दिया और राम और कृष्ण को ईश्वर का अवतार माना। उनके कर्म,

ज्ञान और उपासना के मिश्रण से सम्प्रदाय में आगे चलकर भेद भावना उत्पन्न हो गई। लोकाचार्य कर्म ज्ञान और वेद को व्यर्थ समझते थे, और केवल भक्ति की ओर ही उन्होंने जोर दिया था। १३ वीं शताब्दी में माधवाचार्य वैष्णव सम्प्रदाय के गुरू हुए। उन्होंने शैवि मत का विरोध नहीं किया। ईश्वर को साकार माना और संयम नियम इत्यादि पर ज़ोर दिया। श्रीमद्भागवत् के पठनपाठान का क्रम दक्षिण भारत में हुआ और रामकृष्ण के गुणों की व्याख्या, कीर्तन एवम् भजन से उन्होंने समाज में एक नई स्फूर्ति डाल दी। रामानुज तथा माधवाचार्य के सम्प्रदायों का प्रचार केवल दक्षिण भारत तक ही सीमित न रहा। उत्तर भारत में भी रामानुज के सम्प्रदाय में से रामानंद, और माधवाचार्य के सम्प्रदाय में श्री चैतन्यमहाप्रभु ऐसे महापुरुष हुए। इनके अतिरिक्त इस युग में बल्लभाचार्य भी हुए हैं जो बालकृष्ण को ही भगवान् और ब्रह्म समझ कर अपना इष्टदेव मानते थे और श्री मद्भागवत् को सबसे बढ़कर माननीय ग्रन्थ समझते थे। चैतन्य महाप्रभु भी इसी युग में हुये। उनका जन्म स्थान नदिया था। इनका समागम माधव सम्प्रदाय से हुआ। यह ज्ञान मार्ग को छोड़ कर भक्ति मार्ग में समा गये और भागवत लीला प्रदर्शन करने लगे। यह कृष्ण को परमात्मा का स्वरूप मानते थे क्योंकि उनकी भक्ति से ही प्रेम भाव प्रगट होता है। कृष्ण भक्ति में सत्यता, दया, इत्यादि का होना आवश्यक था। इनके अनुसार सत्संग, राधाकृष्ण की मूर्ति की पूजा और श्रीमद्भागवत् का श्रवण करना चाहिये। जिस प्रकार से राधा ने कृष्ण के साथ आत्मिक रूप से आदर्श प्रेम किया उसी भक्ति भावना की स्फूर्ति का होना आवश्यक था। भारत के अन्य प्रान्तों में महाराष्ट्र में ज्ञानदेव तथा नामदेव और गुजरात में नरसीभगत ने वैष्णव धर्म और कृष्ण भक्ति का प्रचार किया। इस युग में शैवि मत के स्थान पर वैष्णव मत की प्रधानता हो गई और बौद्धिक विकास के स्थान पर भक्ति भावना ने ज़ोर पकड़ा। यही भक्ति भावना हिन्दुओं तथा मुसलमानों दोनों ही में पायी जाती थी जैसा कि सूफी संत और वैष्णव सम्प्रदाय के प्रवर्तकों ने किया।

मुसलमानों का सामाजिक जीवन

इस युग में हम मुसलमानों के सामाजिक जीवन, तथा भारतीय संस्कृति का इस्लाम के क्षेत्र में प्रभाव इत्यादि विषयों पर विवेचना करेंगे। यह बात सच है कि मुसलमानों ने भारत में आकर अपने सामाजिक जीवन में कोई परिवर्तन नहीं किया। उनके यहाँ पर्दा प्रथा और बालविवाह प्रचलित था जिसका पता हमको कई सूत्रों से चलता है। नवागन्तुक और भारतीय संस्कृति में इतनी भिन्नता थी कि उनमें आपस में संतुलन होना अस्वाभाविक था, फिर भी हिन्दुओं की उदारता ने मुसलमान संतों के प्रति आदर की भावना दिखलाई, और इसका उन मुसलमानों के ऊपर भी प्रभाव पड़ा जो सूफी मत को मानते थे और उन्होंने हिन्दू संतों के प्रति उसी प्रकार का आदर दिखाया। इससे सत्यपीर अथवा सत्यसंत की उपासना की भावना हुई। इसके फलस्वरूप हिन्दू धार्मिक साहित्य का अध्ययन हुआ औरउनका मुसलमानों ने अनुवाद भी किया। हिन्दू दर्शन, जिसमें योग और वेदान्त है, का भी मुसलमानों ने अध्ययन किया। फारसी, अरबी और संस्कृति शब्दों के मिश्रण से एक नई भाषा निकली जो उर्दू कहलाई। कुछ मुसलमानों ने भी हिन्दी और हिन्दी भाषा में ग्रन्थ लिखे जैसे मलिक मोहम्मद जायसी, अमीर खुसरो इत्यादि। कुछ मुसलमानों ने हिन्दुओं के साथ सम्पर्क में आकर हिन्दू प्रथाओं को भी अपनाने का प्रयास किया। इसका कलात्मक क्षेत्र में भी कुछ प्रभाव अवश्य पड़ा। सच तो यह है कि हिन्दू धर्म इस्लाम को अपने में मिला न सका और इस्लाम के धार्मिक परिवर्तन की भावना ने हिन्दुओं के अन्दर एकांकी और दृढ़ता की भावना बढ़ा दी।

मध्यकालीन सल्तनत युग भारतीय इतिहास और संस्कृति में अपना स्थान रखता था। इस काल में राजनैतिक एकता स्थापित हुई और इन राजाओं ने भारत में दूर-दूर तक विजय प्राप्त कर विस्तृत शक्तियों को एक सूत्र में बांधने का प्रयास किया। हिन्दुओं की शक्ति क्षीण हो गई थी पर उनकी आत्मा सजीवित थी और वे पुनः उठने का प्रयास कर रहे

थे। एक ओर तो वीरता की भावना कूट कूट कर भरी हुई थी और इसका प्रदर्शन पुरुषों तथा स्त्रियों ने, जिनमें मुख्यता राजपूत हैं, समय समय पर दिया; और दूसरी ओर एक अन्य धारा बह रही थी जिसके अन्तर्गत उत्तरी तथा दणिक्षी भारत में भक्ति की भावना ने ज़ोर पकड़ा और उन्होंने विपदामय संसार में कष्ट निवारण का केवल एक ही साधन माना और वह था भक्ति तथा प्रेम भावना से निर्गुण स्वरूप की उपासना करना। इसी भावना के अन्तर्गत उत्तरी भारत में भी बहुत से संत हुए और दक्षिण भारत में रामानुजाचार्य, वल्लभाचार्य इत्यादि ने इस भावना को बढ़ाया। मुसलमानों ने भी देखा कि इस्लाम को तलवार के ज़ोर से बढ़ाना सफल नहीं हो सकता है, अत: उन्होंने भी प्रेम भाव से काम लिया और भक्ति तथा उपासना का मार्ग ग्रहण किया। इन मुसलमान संतों को विशेष स्थान प्राप्त है क्योंकि उन्होंने हिन्दुओं तथा मुसलमानों के बीच एक गहरी खाई को पाटने का प्रयास किया और इसमें वे सफल हुए। इस युग में हिन्दू मुसलमान एक दूसरे से राजनीति में बहुत दूर थे पर मानव समाज का अंग होने के कारण वे एक दूसरे के पास आने का प्रयास कर रहे थे। आगे चलकर मुग़ल काल में सम्राट् अकबर की नीति ने किसी प्रकार से उनको एक दूसरे के निकट लाने में सफलता दी जो थोड़े ही काल रही। बाद में औरंगज़ेब की नीति ने किसी प्रकार से देश में पुन: राजनैतिक और धार्मिक जागृति उत्पन्न कर दी इस पर आगे विचार किया जायेगा।

अध्याय १४

मध्यकाल में सुदुरपूर्व में भारतीय संस्कृति

जिस समय उत्तरी भारत में राजनैतिक उथल पुथल मची हुई थी सुदूरपूर्व में भारतीय संस्कृति फलफूल रही थी। कम्बुज, अनाम अथवा चम्पा, मलयदेश शैलेन्द्र राजाओं का वृहत् साम्राज्य, तथा माताराम का एक अन्य हिन्दू राज्य भारतीय सभ्यता के प्रतीक थे। यह तो पहले ही कहा जा चुका है कि ईसा की पहिली शताब्दी में भारत से व्यापारी और धर्म प्रचारक ब्राह्मण गये और उन्होंने वहाँ पर अपना साम्राज्य स्थापित किया। यह साम्राज्य मध्यकाल में १५वीं शताब्दी तक रहा जब कि मुसलमानों के आने से जावा, सुमात्रा में तो धीरे-धीरे उनका प्रभाव पड़ने लगा और कम्बुज तथा चम्पा में यह स्वयं नष्ट हो गये। आज भी बाली में हिन्दू सभ्यता वैसी ही बनी हुई है जैसे पहले थी। अन्य देशों में यह केवल स्मृति चिन्ह के रूप में है और इसकी स्थानीय संस्कृति और सभ्यता पर बड़ी गहरी छाप पड़ी है। भारत और सुदुरपूर्व का व्यापारिक सम्बन्ध तो था ही, राजनैतिक क्षेत्र में भी चोल राजाओं नें मलाया प्रदेश पर अधिकार किया और यह कुछ समय तक रहा। इन भारतीय उपनिवेशों का वृतांत अरव इतिहासकारों ने भी दिया है। यहां पर हम केवल इन देशों की भारतीय संस्कृति का दिग्दर्शन संक्षिप्त रूप से करेंगे जिससे यह प्रतीत होगा कि एक ओर तो भारतीयों ने उन प्रदेशों में जाकर अपनी संस्कृति और सभ्यता स्थापित की और दूसरी ओर उन्होंने उसकी उस समय में रक्षा की जब भारत में मुसलमानों के आक्रमणों से राजनैतिक क्षेत्र में क्रान्ति मची हुई थी और भारतीय संस्कृति को इसकी ओर से बहुत ही भय था।

शैलेन्द्र राज्य

सुदुरपूर्व में शैलेन्द्र का विशाल राज्य था और यह बहुत काल तक स्थापित रहा। यद्यपि यह ईसा की आठवीं शताब्दी में अपनी चरम सीमा पर पहुँच चुका था और उसके बाद नवीं शताब्दी में इसका पतन आरम्भ हो गया पर यह बहुत काल तक चलता रहा। यहां के राजाओं ने भारत के साथ सम्पर्क स्थापित रक्खा और, जैसा कि नालन्दा के एक लेख से पता चलता है,, स्वर्णद्वीप के शैलेन्द्र सम्राट् बालपुत्रदेव ने इस विश्वविद्यालय में एक विहार का निर्माण किया जिसके व्यय के लिये पालसम्राट् देवपाल ने ५ गांव दिये। चीनी वृतान्त के अनुसार शैनफोची अथवा शैलेन्द्र राज्य १२वीं शताब्दी तक रहा, और इसका राजनैतिक और व्यापारिक महत्व स्थापित रहा। ११वीं शताब्दी में शैलेन्द्र और चोल राजराज तथा राजेन्द्रचोल ने अपना साम्राज्य बढ़ाया और उसने सुमात्रा और मलाया में कडेर और श्री विजय पर अधिकार कर लिया। यह कोई १०२५ ई० की बात है। १०९० ई० तक चोल और शैलेन्द्रों की आपस में मित्रता स्थापित हो गई और शैलेन्द्रों को उनका राज्य फिर वापस मिल गया। शैलेन्द्र राज्य जिसको कि चीनियों ने शैनफोची के नाम से सम्बोधित किया है १३७७ ई० तक कायम रहा,. और फिर जावा का इस पर पूरा अधिकार हो गया। १५वीं शताब्दी से यह ऐतिहासिक दृष्टिकोण से लुप्त हो गया।

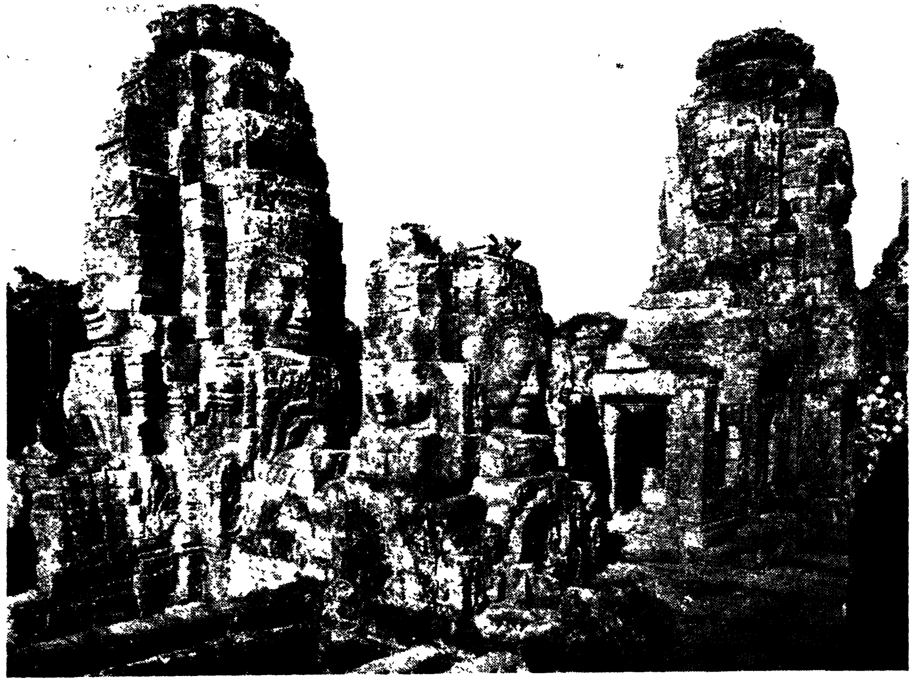
जावा के हिन्दू राष्ट्र

जावा का इतिहास ७३२ ईसवी से शरू होता है जब कि माताराम ने एक हिन्दू राज्य स्थापित किया था। इस वंश के राजा संजय ने जावा और बाली पर अधिकार कर सुमात्रा की ओर आँख उठाई इस। समय में मध्य जावा भारतीय सभ्यता का केन्द्र था। पूर्व जावा धीरे-धीरे आगे बढ़ रहा था। उसके बाद शैलेन्द्रो का पश्चिम और मध्य जावा में अधिकार हो गया। यह कोई ५०० वर्ष तक हिन्दू सभ्यता का बड़ा केन्द्र रहा। पूर्व जावा

में सिंडाक नामक प्रथम राजा हुआ जो लगभग ६२६ ई० में राजसिंहासन पर बैठा। यहाँ एर्रलिंग को विष्णु का अवतार मानते थे। इन दो के अतिरिक्त एक कडेरी का भी राज्य था और उसका प्रथम राजा श्रीजयचन्द था, जिसने ११०५ ई० में राज्य किया और १०० वर्ष बाद यह राज्य नष्ट हो गया। इस समय में यहां पर कला और साहित्य में बड़ी प्रगति हुई। अंतिम राज्य मजपहित का था। यहां का सम्राट् राजसंगर बहुत महान हो गया है और उसकी मत्यु १३८६ ई० में हुई। १५वीं शताब्दी के आरम्भ तक जावा का पतन हो गया। सुमात्रा में १२वीं शताब्दी तक शैलेन्द्रों का पतन हो चुका था और मलाया में अन्य राज्य स्थापित हो चुका था जो जावा पर अवलम्बित था। इसमें अपितवर्मन् नामक एक तांत्रिक हो गया है जिसने लगभग १३४७ से १३७५ तक राज्य किया है। इसका उल्लेख मारको पोलो ने भी किया है। यहाँ पर मुसलमान व्यापारियो ने प्रवेश कर इस्लाम का प्रचार किया। जिस समय १३४५ में इब्नवतूता आया तो यहां के मुसलमान सम्राट् ने उसका स्वागत किया। १६वीं शताब्दी से सम्पूर्ण मलय देश में मुसलमान राज्य हो गया।

कम्बुज और चम्पा

सुदूरपूर्व में केवल कम्बुज और चम्पा ही हिन्दचीन के दो हिन्दू राज्य थे जहां पर मुसलमानों का प्रवेश न हो सका। कम्बुज देश का उल्लेख पहिले हो चुका है अतः यहाँ केवल उस देश की मध्यकालीन राजनैतिक स्थिति पर संक्षिप्त रूप से विवेचना करेगें। अंगकोर राज्य की स्थापना ८७७ ई० में हुई थी और इस समय से लेकर १००१ तक कोई ७ शासक हुये जिन्होंने इसके उत्थान में बड़ा सहयोग दिया। इनमें मुख्यतया यशोवर्मन् और राजेन्द्र वर्मन् थे। इस राज्य की सीमा विस्तृत हो गयी थी और उत्तर में चीन के आधीन टोंकिन पर अधिकार कर कम्बुज की सीमा चीन देश की सीमा तक मिल गयी थी। पश्चिम में कम्बुज राज्य स्याम तक पहुँच गया था। इसके बाद १००१ से वृहत् कम्बुल राज्य आरंभ होता है और इस युग का



कम्बुज—बेयोन का मन्दिर (सुदूर पूर्व के फ्रांसीसी स्कूल के सौजन्य से)

सर्व प्रथम सम्राट् सूर्यवर्मन् था जिसने इस देश की उन्नति में बड़ा भाग लिया। सूर्यवर्मन् द्वितीय ने आनाम और चम्पा की ओर भी आंख उठाई और लगभग ११४५ ई० में वह कुछ समय के लिये चम्पा पर अधिकार कर सका। यद्यपि विदेशी सूत्रों से हर समय उसकी पराजय ज्ञात होती है परन्तु स्वयं उसके लेखों में लिखा है कि अपनी दिग्विजयों के कारण वह रघु से भी आगे बढ़ गया था। यहाँ का अन्तिम सम्राट् जयवर्मन् सप्तम् था जो ११८२ ई० में राजसिंहासन पर बैठा। इसने चम्पा के राजा पर आक्रमण किया और फिर उसके सम्राट् को हराकर छोड़ भी दिया। चम्पा का राज्य दो भागों में विभाजित कर दिया गया। उसके पश्चात् का राज्य पूर्णतया स्वतंत्र हो गया। जयवर्मन् अपने दान के लिये प्रसिद्ध था और उसने जनता के हित के लिये १०२ अस्पताल बनवाये और बहुत सी धर्मशालायें स्थापित की। कम्बुज के अन्तिम सम्राट् विशेष रूप से उल्लेखनीय नहीं हैं। सबसे अन्त में श्रीइन्द्र जयवर्मन् था जिसकी तिथि १३०८ ई० थी। १३२७ में एक जयवर्मन् परमेश्वर नामक सम्राट् हुआ पर उसके वंश का पता नहीं है। कम्बुज का अन्तिम इतिहास दो शक्तियों के साथ संघर्ष का चित्रण है। एक तो सुखोदय राज्य के बाद आयुतिया में १३५० में स्थापित किया गया राज्य था ओर दूसरा आनाम का राज्य था जिसका अधिकार चम्पा पर हो गया था। कम्बुज देश के समाट् इतने शक्तिशाली न थे कि वे इन शक्तियों पर काबू पा सकते। अन्त में इन्हें फ्रांसीसियों की शरण जाना पड़ा।

भारतीय संस्कृति

इस देश की भारतीय संस्कृति का ज्ञान वहाँ के लेखों तथा मन्दिरों इत्यादि से मिलता है। यहाँ से जो औपनिवेशिक वहां गये उन्होंने अपने देश की संस्कृति को कायम रक्खा। इसीलिये हमको बहुत से भारतीय नगरों के नाम भी मिलते हैं जैसे मिथला, अमरावती, कपिलवस्तु इत्यादि। उनका भारत के साथ बराबर सम्पर्क स्थापित रहा है। भारतीय वर्ण व्यवस्था इन सब देशों में स्थायी रही। यद्यपि ब्राह्मण और क्षत्रिय राजवंश में वैवाहिक संबन्धस्थापित

होते थे तथापि जाति पांति पर विशेष जोर था। ब्राह्मणों की प्रधानता सब कोई स्वीकार करते थे और भारत से जितने भी ब्राह्मण गये उन्होंने राजवंश में विवाह किया। कुछ समाटों ने भी ब्राह्मणों की कन्यायों से विवाह किया। सामाजिक क्षेत्र में उनकी वेशभूषा खानपान, आमोद प्रमोद, तथा परिवारिक जीवन इत्यादि भारतीय ढंग का था, और वे अपने देश को इस देश का एक अंग समझते थे। आर्थिक क्षेत्र में भारतीय सामाजिक विकास तथा व्यवसायियों का श्रेणी के अन्तर्गत कार्य करना भारतीय प्रणाली के आधार पर था। अनुपात, तौल नाप में भी भारतीय बटखरों का प्रयोग होता था और लेखों में खारिका, द्रव्य प्रस्थ, पाद घटिका इत्यादि का उल्लेख है। भारतीयों से इनका व्यापारिक सम्बन्ध बराबर स्थापित रहा। यह देश आर्थिक श्रेत्र में पीछे न थे इसी कारणवश इन देशों की राष्ट्र सम्पति इतनी बढ़ गई थी कि विदेशों से व्यापारियो ने आकर यहां सम्बन्ध स्थापित किया। शिक्षा और साहित्यिक क्षेत्र में इन देशों में भारतीय प्रणाली का प्रयोग होता था। वेदांक, छंद, व्याकरण, निरुक्त, इत्यादि विषयों का अध्ययन होता था और एक लेख में तो लिखा है कि यशोवर्मन् नामक एक कम्बुज सम्राट् ने पतञ्जलि के महाभाष्य पर व्याख्या की। इनके अतिरिक्त तर्क, न्याय तथा दर्शन का भी अध्ययन होता है। भारतीय ग्रन्थों की बहुत सी सामग्री इन देशों में मिलती है और वहाँ साहित्यिक क्षेत्र में बड़ी ही प्रगति दिखाई गई।

भारतीय दृष्टिकोण

इन देशों में ब्राह्मण और बौद्ध दोनों ही धर्मों ने अपना स्थान बनाया। ब्राह्मणों ने शैवि तथा वैष्णव मतों को प्रधानता मिली, और भारत से बड़े-वड़े विद्वान वहाँ पर गये। एक ने तो कम्बुज देश में पहुँच कर शिवकैवल्य को ताँत्रिक विद्या सिखाई। बौद्ध धर्म में पहिले महायान और फिर हीमयान मत का इस देश में प्रवेश हुआ। यहाँ पर तन्त्रवाद विशेष रूप से उल्लेखनीय है और बंगाल के तन्त्रवाद जिसमें बौद्ध और हिन्दू विचारों का सम्मिश्रण

था इन सब देशों में भिन्न-भिन्न नामों से फैला, जैसे ब्रह्मा में आरी मत, जावा सुमात्रा में महाकाल, तथा कम्बुज में देवराज, जिसके अन्तर्गत शिवशक्ति की उपासना की जाती थी। भक्ति मार्ग ने भी इन देशों में अपना प्रभाव डाला। अंगकोरवट में तो श्रीभद्भागवत् के बहुत से चित्र पत्थर पर उद्धृत हैं और इस प्रकार की गैलेरी जिसमें राम और कृष्ण की लीला दिखाई हैं बहुत दूर तक फैली है। जावा और बोरूबुदूर बौद्धों के लिये विशेष महत्व रखता है और कला का यह सबसे सुन्दर प्रतीक है। जावा में ब्राह्मणों के भी बहुत से मंदिर स्थापित हुये हैं जैसे चंडीभीम इत्यादि। भारतीय संस्कृति और साहित्य ने प्रत्येक क्षेत्र में अपना प्रभाव दिखाया। आज भी उन देशों के लोग इस्लाम धर्म स्वीकार कर चुके हैं, पर भारतीय त्योहार उसी प्रकार मनाये जाते हैं और उन्होंने अपने पूर्वजों की धार्मिक परम्परा को कायम रक्खा है। भारत का इन देशों के साथ राजनैतिक और साँस्कृतिक सम्बन्ध एक हजार वर्ष से ऊपर स्थापित रहा है। १५ वीं १६ वीं शताब्दी में भारत का इनसे विच्छेद हो गया और विदेशियों ने यहाँ आकर अपना प्रभाव स्थापित किया। यह देश विशेष महत्व रखते हैं क्योंकि इन्होंने भारतीय संस्कृति की रक्षा की है और आज भी ये साँस्कृतिक क्षेत्र में उस प्राचीन सभ्यता के प्रतीक हैं।

अध्याय १५

अकबर युग

दिल्ली सल्तनत का अन्त बाबर के आने से हुआ था और इस विदेशी मुग़ल ने यहाँ पर आकर एक नये राज्य की स्थापना की। बाबर का समय राज्यस्थापन में ही बीता पर बिखरी हुई राजनैतिक शक्तियों को एक सूत्र में बाँधने के लिए हुमायु भी सफल न हो सका। उसका अधिकांश समय भारतीय शक्तियों से संघर्ष में लग गया। उसे देश से भागना भी पड़ा और जब उसने पुनः भारत पर अधिकार किया तो देश में अन्य समस्यायें उत्पन्न हो गयी थीं। ऐसी परिस्थिति में जब अकबर राजगद्दी पर बैठा तो उसके सामने राजनैतिक परिस्थितियाँ अंधकारमय थी। उसे तो देश में सर्वप्रथम राजनैतिक एकता स्थापित करनी थी और दूसरी ओर विद्रोह और वैमनस्य की बढ़ती हुई भावना को प्रेम रूप में बदलना था। एक छोटे से शासक ने इस प्रकार से अपने लम्बे शासनकाल में विरोधी शक्तियों का दमन कर प्रेम ओर मित्रता के भाव से वैमनस्य की भावना को बदल कर एक सुदृढ़ और शक्तिशाली साम्राज्य का निर्माण किया जिसके कारण भारतीय इतिहास में अकबर को विशेष स्थान प्राप्त है। इस अध्याय में न तो हम अकबर की विजय पर विवेचना करेंगे और न उसके सुधारों पर विचार करेंगे। यहाँ पर केवल हम उसकी सांस्कृतिक क्षेत्र में उस नीति पर प्रकाश डालेंगे जिसके फलस्वरूप उसने भारत में एक विशेष जागृति उत्पन्न कर दी थी जिसके अन्तर्गत हिन्दू तथा मुसलमान सभ्यताओं का सम्मिश्रण होने लगा। देश में भक्ति भावना और आगे बढ़ी और एक ओर तो तुलसीदास, सूरदास, मीरा बाई इत्यादि हिन्दू भक्त हुए और दूसरी ओर मुसलमानी संत जैसे शेखसलीम चिस्ती इत्यादि ने उस प्राचीन सूफी संत परम्परा को अपनाया। अकबर

ने स्वयं इस बात का प्रयास किया कि उसने उन सब धर्मों का सार लेकर एक विश्व धर्म चलावे जिसका नाम उसने दीन इलाही रक्खा। अशोक की भाँति उसने भी इस विश्व धर्म के प्रचार के लिए महामंगल अथवा धार्मिक समारोहों का आयोंजन किया जिसका वह स्वयं अध्यक्ष होता था। वास्तव में यह धर्म केवल सम्राट् तक ही सीमित रहा और उसके बाद फिर यह लुप्त हो गया। धार्मिक क्षेत्र में भक्ति की भावना सभी दिशा में बढ़ी और दक्षिण में भी बहुत से वैष्णव संत हुए, जिन्होंने ईश्वर की प्रेम और भक्ति भाव से उपासना करने पर जोर दिया। साहित्यिक क्षेत्र में भी बड़ी प्रगति हुई। अमीर खुसरू, मीरसहान देहल्वी, अब्दुल रहीम खानखाना इत्यादि बड़े-बड़े विद्वान हुए हैं, और मुसलमानों ने भी हिन्दी साहित्य की प्रगति में सहयोग दिया। इस युग की स्थाप्य तथा निर्माण कला और चित्रकला को मुग़ल सम्राटों से बड़ा प्रोत्साहन मिला। अंत में हम उन विदेशियों का भी उल्लेख करेंगे जो मध्यकाल तथा मुग़लयुग में यहाँ आये और उन्होंने यहाँ की संस्कृति का चित्रण किया।

अकबर की धार्मिक नीति और सांस्कृतिक समिश्रण

अकबर ने समझ लिया था कि वास्तव में एक मुसलमान शासक और हिन्दू प्रजा की प्रधानता तभी चल सकती है जब शाशक प्रजा का विश्वास पात्र बने और धार्मिक वैमनस्य की भावना का अंत हो। अतः उसने उस नीति का विरोध किया जिसको कि उसके पूर्व के शासकों ने अपनाया था। हिन्दुओं को द्वितीय श्रेणी का नागरिक समझना और इस्लाम को राजधर्म मानना बड़ी भूल थी। इससे तनाव बढ़ता था और विरोधी शक्तियों ने किसी भी मुसलमान वंश को आगे बढ़ने से रोका, और उनकी सदैव ही यह नीति रही कि किसी प्रकार से उस वंश का अन्त हो और कोई दूसरा उदार शासक हो अथवा वे स्वतन्त्र हो जाये। अकबर ने मुग़ल साम्राज्य स्थापित रखने के लिए बुद्धि और उदारता से काम लिया। जैसा वह योग्य और वीर था वैसा ही वह राजनीतिज्ञ और विचारशील भी था। इसलिए उसने

इस बात का प्रयास किया कि सामाजिक और सांस्कृतिक क्षेत्र में हिन्दू और मुसलमान बहुत निकट आ जायें। इस सिद्धान्त को समझ कर सर्व प्रथम उसने हिन्दुओं के साथ समुचित व्यवहार किया; उनके ऊपर से जज़िया हटा लिया। सम्राट् स्वयं अपने को प्रजा का अंग मानता था और इसीलिये वह स्वयं हिन्दुओं के त्योहारों में भी भाग लेता था। उसने हिन्दुओं को अच्छे-अच्छे पदों पर नियुक्त किया और टोडरमल, मानसिंह, बीरबल तथा भगवान दास ऐसे कुशल हिन्दू मंत्रियों तथा सेनापतियों ने उसके राज्य की नींव मजबूत की। धार्मिक झगड़ों को निपटाने के लिए सम्राट् ने विभिन्न धर्म और उनके सिद्धान्तों का सम्मिश्रण कर तथा अपने को ईश्वर का प्रतिनिधि मान कर विरोधी धार्मिक गुत्थियों सुलझाना चाहीं। अशोक की भाँति वह यह मानता था कि हरएक धर्म में कुछ न कुछ सच्चाई है और प्रत्येक में विद्वान तथा भले मनुष्य भी हैं। इसीलिये उदारता से एक दूसरे के प्रति व्यवहार करना अति आवश्यक है। यदि ध्येय एक ही है तो मार्गों की भिन्नता का कोई महत्व नहीं है। उसने हिन्दुओं के कई मुख्य धार्मिक ग्रंथों का फ़ारसी में अनुवाद कराया और सब धर्मों के विद्वानों को सुनने और समझने तथा आपस के भेदभाव भूलकर मेल और प्रेम बढ़ाने के लिए फतेहपुर सीकरी में एक पूजाघर अथवा इबादतखाना भी बनवाया। धर्म प्रचार के लिए उसने दीनइलाही चलाया जो वास्तव में एक मत था और उसके अन्तर्गत उन सब धर्मों के सिद्धान्तों को लेकर एक प्रेम की विचारधारा अकबर ने प्रवाहित की। धार्मिक क्षेत्र में सम्राट् के व्यक्तित्व का बड़ा प्रभाव था। अतः उसकी मृत्यु के पश्चात् दीनइलाही धर्म आगे न बढ़ सका और विरोधी भावनाएँ फिर प्रबल हो उठी। यह कोई आश्चर्यजनक बात नहीं है। जिस प्रकार से अशोक की मृत्यु के पश्चात् ५० वर्ष के अन्दर धार्मिक भावना ने इतना जोर पकड़ा कि ब्राह्मण सम्राट् पुष्यमित्र ने अपने धर्म को फिर से चढ़ाय, और किम्मवंदन्तियों के अनुसार ब्राह्मणों ने बौद्ध धर्म को हानि पहुँचाई, उसी प्रकार अकबर की मृत्यु के पश्चात् भी उसका धर्म क्षीण हो गया और कट्टर मुसलमानों ने उसे मुसलमान विरोधी कह कर उसकी नीति के विपरीत

अपने धर्म का प्रचार किया। इसी के कारण इसके विशेष पात्र अब्बुल फज़ल और फैज़ी को भी कष्ट भोगना पड़ा।

भक्ति भावना—जिस समय में सम्राट् अपने धर्म का प्रचार कर रहे थे, और उन्होंने भारतीय संस्कृति में एक विचारधारा फिर से जागृति कर दी थी जो भारतीयों के लिए नवीन न थी पर उस युग में वह आवश्यक थी, यहाँ पर भक्ति भावना ने बड़ा जोर पकड़ा और सूर, तुलसी, मीरा विशेष रूप से इसके प्रवर्तक हुए। यों तो यह भावना और सूफी मत का प्रादुर्भाव सुल्तान युग में ही हो चुका था, जैसा कि पहले ही कहा जा चुका है, पर इस युग में यह धारा बहुत ज़ोर से बही। तुलसीदास बनारस जिले के निवासी थे और वे केवल साहित्यिक ही नहीं वरन् उत्तर भारत के एक धार्मिक और आध्यात्मिक नेता भी थे जिन्होंने जनता के हृदय में राम भक्ति की भावना कूट-कूट कर भर दी और उनका ग्रंथ 'रामचरित मानस' करोड़ों हिन्दुओं की इंजील है, और राजप्रसाद से लेकर गरीब की कुटिया तक में यह ग्रंथ पाया जाता है। जिस प्रकार तुलसीदास ने राम भक्ति की भावना प्रेरित की, उसी प्रकार कृष्ण की भक्ति सूरदास तथा मीरा ने अपने भजनों में ओत-प्रोत कर दी। बल्लभाचार्य और बिट्ठलनाथ तथा एक मुसलमान रसखान कृष्ण भक्ति सम्प्रदाय के विशेष प्रवर्तक थे। बंगाल में भी चैतन्य के बाद राधाकृष्ण की भक्ति की भावना को लेकर बहुत से ऐसे विद्वान हुए जिन्होंने ग्रंथ भी लिखे। कृष्णराज ने 'चैतन्यचरित्रामृत' लिखा, वृन्द्राबन दास ने 'चैतन्यभागवत्' की रचना की और जयानन्द ने 'चैतन्यमन्दिर' ग्रंथ लिखा। इसके अतिरिक्त भागवत का भी अनुवाद हुआ। इस भक्ति के सम्बन्ध में उस युग में बहुत से ग्रंथों की रचना हुई और वास्तव में यह हिन्दी साहित्य के लिये महत्पूर्ण युग था जिसमें हिन्दू और मुसलमान दोनों ने मिल कर केवल भक्ति मार्ग की ओर ही नहीं वरन् अन्य क्षेत्रों में भी बहुत से ग्रन्थ लिखे हैं जैसे मलिक मोहम्मद जायसी ने, 'पदमावत' लिखा। बीरबल और मानसिंह ने भी ग्रन्थ लिखे।

इसी युग में पंजाब में गुरू नानक का जन्म हुआ जिन्होंने सिख धर्म की नींव डाली। यह धर्म उपनिषद् की शिक्षाओं के आधार पर बनाया गया था और उसमें ईश्वर के एक ब्रह्म स्वरूप को माना है। इस धर्म में सैनिक शिक्षा का सर्वप्रथम स्थान न था और धार्मिक उदारता ही इसका मुख्य ध्येय था। कबीर की भांति नानक ने भी हिन्दू और इस्लाम धर्मोंकी श्रेष्ठ शिक्षाओं के आधार पर अपने मत का प्रचार किया। उनका ध्येय यही था कि परस्पर धार्मिक विरोधी भावना का अंत हो और उन्होंने तत्कालीन धार्मिक रूढ़िवादी प्रवृतितों का खंडन किया। उनकी शिक्षा में धर्म में कट्टरता के स्थान पर कर्त्तव्य और भ्रातव्य की भावना भरी हुई थी और न तो विदेश में जाने से और न तीर्थ स्थानों में नहाने से ही मुक्ति मिल सकता है। उन्होंने मध्यममार्ग को अपनाया और कपट, असत्यता इत्यादि के परित्याग पर जोर दिया। नानक के धर्म को बहुत से मुसलमानों ने भी ग्रहण किया और यह बढ़ने लगा। सूफी संतों ने भी उस पर अपना बड़ा प्रभाव डाला और इसका मुख्य कारण सम्राट् की धार्मिक उदारता और सूफी संतों की भक्ति भावना की और जोर देना था। मोइनूदीन चिस्ती अजमेर के एक बड़े सूफी संत थें। दक्षिणी भारत में भी वैष्णव संतों ने इस दिशा में बड़ा कार्य किया और उनका उल्लेख पहले ही हो चुका है। बल्लभाचार्य इत्यादि ने भक्ति भावना को लेकर इस ओर बड़ी ही प्रगति दिखाई। उनका मध्य प्रान्त में जन्म हुआ था पर उनकी कीर्ति विजयनगर राज्य में सबसे पहिले फैली और वे बालकृष्ण ही को भगवान और ब्रह्म समझकर अपना इष्टदेव मानते थे। उन्होंने मंदिरों तथा हर घर में भगवान की मूर्ति रखने के महत्व को बताया, पर एकत्रित होकर भजन, कीर्तन इत्यादि को भी अपनाया। उस युग में भारतीयों के जीवन में एक प्रकार की नवीन भावना उत्पन्न हो रही थी। राजनैतिक सम्बन्धों को धार्मिक विधानों से हल करने का सबसे सुन्दर साधन ईश्वर में दृढ़ भक्ति की भावना का होना था। लोगों में युद्ध के प्रति एक प्रकार से उदासीनता सी हो गई थी और वे सद्भावना स्थापित करने के लिये एक ऐसे मार्ग को दूढ़ रहे थे जिससे मनुष्य को

शाँति मिल सके और वह था भक्ति तथा प्रेम का मार्ग । इस भक्ति मार्ग ने जातीयता, ऊंचनीच और धार्मिक विरोधी भावनाओं को स्थान न दिया । सूफी और भक्तों में सहानुभूति और आदर का भाव रहता था । धर्म, ठाकुर और सत्यपीर जैसे सम्प्रदाय भी थे जिनके हिन्दू, मुसलमान तथा अछूत तक सदस्य हो सकते थे । इनमें सभी विभिन्न सम्प्रदायों में धार्मिक विचारों का सम्मिश्रण पाया जाता था और इस भक्ति के आँदोलन ने समाज को सजीव बना दिया तथा उनकी भक्ति क्रियात्मक तथा धार्मिक क्षेत्र की ओर बढ़ी ।

साहित्य

दिल्ली सल्तनत काल में तो साहित्यिक क्षेत्र में अच्छी प्रगति हुई थी और बहुत सी प्रादेशिक भाषाएँ, जिनमें मुख्यता बृजभाषा थी, में बहुत से ग्रन्थ लिखे गये जैसे रामानन्द और कबीर ने सरल हिन्दी में अपने दोहे और साकियों की रचना की। राधाकृष्ण सम्प्रदाय के ग्रन्थ बृजभाषा में लिखे गये । नामदेव ने मराठी साहित्य लिखा । नानक ने पंजाबी को अपनाया, और चन्द्रदास तथा चैतन्य ने बंगाली में अपने भजनों की रचना की । चंडीदास, विद्यापति ठाकुर ने मैथिली भाषा में अपने ग्रन्थों को लिखा बंगाल में मुसलमान शासकों ने रामायण तथा महाभारत का बंगला में अनुवाद करवाया और मालाधर वासु ने भागवत का बंगाली में अनुवाद किया । सुल्तान हुसेनशाह ने 'गुणराजावन' की पदवी प्राप्त की। इनके अतिरिक्त साँस्कृतिक क्षेत्र में भी बड़ी ही प्रगति हुई । स्मृति और व्याकरण तथा साहित्यिक और दार्शनिक क्षेत्र में बहुत से ग्रन्थ लिखे गये । फारसी के ग्रन्थकारों में मौलाना मोइनुद्दीन उमानी, फीरोजशाद तथा मिनाजुद्दीन जिन्होंने 'तवकातनासरी' नामक ऐतिहासिक प्रन्थ लिखा, विशेषतया प्रसिद्ध है । अमीर खुसरू के ऐतिहासिक मस्नवियों में अलाउद्दीन खिलजी के समय का विस्तृत वृत्ताँत मिलता है । इनके अतिरिक्त जियाउद्दीन वरनी, जिनको तुग़लक सम्राटों का समकालीन मानते हैं, ने भी ऐतिहासिक ग्रन्थ लिखे ।

सुल्तान युग की भाँति मुगलकाल में भी साहित्यिक क्षेत्र में बड़ी प्रगति हुई। मुग़लसम्राट् स्वयं साहित्य के बड़े प्रेमी थें और इसलिये उन्होंने इस ओर बहुत प्रोत्साहन दिया। राज्यवंश में शिक्षा का विशेष रूप से प्रबन्ध था। बाबर की पुत्री गुलबदन बेगम का 'हुमायुँनामा' विशेष रूप से उल्लेखनीय है। अकबर के समय में फारसी साहित्य में भी बहुत काम हुआ। मुल्ला दाउद, अब्बुल फज़ल, जिन्होंने 'आइने अकबरी' तथा 'अकबरनामा' नामक ग्रन्थ लिखे, और फैजी उस युग के साहित्यिक रत्न थे। अकबर के नवरत्नों में अब्बुल फज़ल तो बड़ा भारी साहित्यिक था। साँस्कृतिक ग्रन्थों का भी इस समय फारसी में अनुवाद हुआ और बदायुनी ने रामायण का, हाजी इब्राहीम सरहिन्द ने अर्थववेद का, तथा फैजी ने लीलावती नामक एक गणित ग्रन्थ का अनुवाद फारसी में किया। अकबर के बाद भी साहित्यिक क्षेत्र में कृतियों की कमी नहीं हुई। जहाँगीर के समय में कई ग्रन्थों का निर्माण हुआ जिसमें 'तुजुकात जहाँगीरी' विशेषतया उल्लेखनीय है। शाहजहाँ के समय में भी इसी प्रकार बहुत से ग्रन्थ लिखे गये। शाहजहाँ का पुत्र दाराशिकोह अरबी, फारसी और संस्कृति का बड़ा विद्वान था और उसने उपनिषद्, भगवद्गीता, योगवशिष्ठ तथा रामायण का फारसी में अनुवाद किया। वह स्वयं बनारस के पंडित कबीन्दचार्य का शिष्य था। औरंगजेब के समय में साहित्यिक क्षेत्र में प्रगति नहीं हो सकी क्योंकि उसे साहित्य और कला से प्रेम न था, और ऐतिहासिक ग्रन्थों की रचना का वह विरोधी था। इसीलिये उसके समय में केवल छिपकर ही कुछ ग्रन्थ लिखे जा सके। उर्दू में भी ग्रन्थों की रचना अधिक न हो सकी। औरंगजेब के समय में हिन्दी को बहुत धक्का पहुँचा और यहाँ तक कि उर्दू को भी किसी प्रकार का प्रोत्साहन न मिलसका।

मुगलयुग की स्थाप्य, शिल्प तथा चित्रकला

मुगलकाल में भवन निर्माण क्षेत्र में बड़ी ही प्रगति हुई। कुछ विद्वानों का विचार है कि इस कला का विकास विदेश में हुआ था पर वास्तव में

यह न तो विदेशी थी और न शुद्ध भारतीय। भवन निर्माण कला किसी एक परिपाटी के अन्तर्गत न थी और भवनों का निर्माण शासक की रुचि पर निर्भर था। अकबर के समय तक इस पर ईरानी प्रभाव अधिक रहा और इसमें शृंगार और सुन्दरता का विशेष स्थान है, पर बाद में यह बिलकुल साधारण हो गई। अकबर के लिय पहिले समय की इमारतें कोई महत्व नहीं रखती हैं मुग़ल सम्राट् ने अपनी इमारतों में भी अपनी धार्मिक सहिष्णुता को स्थान दिया। आगरा और फतेहपुर सीकरी के महल हिन्दी-शैली के अनुसार बनाये गये। फतेहपुर सीकरी की इमारतें १२ वर्ष में बनीं और यहाँ का बुलन्द दर्वाज़ा ससार में सबसे ऊँचा है। यहाँ की जामा मस्जिद भी विशेष रूप से उल्लेखनीय है। इसके अतिरिक्त अन्य इमारतों में बीरबल का महल, अम्बर का महल तथा दीवाने ख़ास हैं। इनके निर्माण पर अकबर ने बहुत धन व्यय किया और इसे सबसे सुन्दर बनाया पर आज यह नगर उजड़कर केवल स्मृति चिन्ह के रूप में हैं। इसके अतिरिक्त आगरे और दिल्ली का किला भी अकबर ने बनवाया था जो सम्राट् के हृदय की भावना का प्रतीक है; और इसमें उस महापुरुष के मानसिक विकास की एक झलक दिखाई पड़ती है। जहांगीर और शाहजहाँ के समय में भी बहुत सी इमारतें बनवाई गईं जिनमें प्रथम का बनवाया हुआ एतमादुदौला और शाहजहाँ का ताजमहल तथा मोती मस्जिद, किले के दीवाने आम और दीवाने खास इत्यादि सर्वश्रेष्ठ हैं। ताज का नक्शा कुछ लोगों के विचार में वेनिस के निवासी बोटोनियों ने बनाया था और अन्य विद्वानों के विचार से यह भारतीय स्थाप्य कला की देन है। वास्तव में इस पर ईरानी शैली का प्रभाव पड़ा और इसके बनवाने में हिन्दू कलाकारों का बड़ा हाथ था। यह ऐशियाई और योरोपीय विद्वता के मिश्रण का प्रतीक माना जाता है। शाहजहाँ की मृत्यु के पश्चात् भवन निर्माण कला का पतन होने लगा। औरंगजेब की इस ओर कोई रुचि न थी और उसकी मृत्यु के पश्चात् कला को बहुत क्षति पहुँची। यहां एक बात विशेष रूप से उल्लेखनीय है। उस समय में विदेशियों का आगमन हो चुका था और इसीलिये कलात्मक क्षेत्र में भी उनका प्रभाव पड़ा।

स्थाप्य कला की भांति चित्रकला में भी मुग़ल सम्राटों का बड़ा हाथ था। मुग़ल चित्रकला ईरान से भारत में आयी और यहाँ पर आकर पूर्णतया भारतीय हो गई। हिन्दू चित्रकारों ने तो साहित्य तथा भक्ति ग्रन्थों से प्रेरणा लेकर ऐसे चित्र बनाये जिनसे भक्ति भावना प्रतीत हों, किन्तु फारस में चित्रकारों की शैलियों का विषय बिलासितामय जीवन का प्रदर्शन था। अकबर ने चित्रकला के लिये ख्वाजा अबदुल सत्तार के आधिपत्य में एक विशेष विभाग बनवाया और भिन्न धर्मों और जाति के कलाकारों को आमंत्रित किया। इसके समय में चित्रकला में बहुत उन्नति हुई और विदेशी कलाकारों को भी प्रोत्साहन मिला। हिन्दू कलाकारों में दशवंत, सम्भलदास, जगन्नाथ इत्यादि हुए हैं। अकबर के बाद जहांगीर के समय में भी इस काल में प्रगति हुई और इसका उल्लेख मिलता है। इस काल में यह शैली मुख्यता भारतीय हो गई। हिन्दी कलाकारों में विशनदास, केशव, महादेव, तुलसी इत्यादि हैं। जहाँगीर के पश्चात् इसका केन्द्र दिल्ली से हटकर लखनऊ, पटना, मुर्शिदाबाद मैसूर और हैदराबाद हो गया, जहाँ पर प्रान्तीय शासकों नें इस कला के दीपक को जलता रक्खा। इस युग में राजपूत चित्रकला में भी बड़ी प्रगति हुई। यह जनसाधारण है और इसमें मुख्यता धार्मिक विषयों को लिया गया जो शिव पार्वती और राधाकृष्ण तथा धार्मिक कथाओं और जनसाधारण के जीवन से सम्बन्धित है। अकबर के समय के संगीतकारों में तानसेन सर्वश्रेष्ठ था। इसी समय में कई नये रागों की भी रचना हुई। संगीतज्ञों में रामदास तथा बैजूबावरा प्रमुख थे। अन्य मुग़ल सम्राटों में जहाँगीर और शाहजहाँ के यहां भी बहुत से संगीतज्ञ थे। शाहजहाँ स्वयं संगीतप्रेमी था और संगीतज्ञों का बड़ा आदर करता था। रामदास तथा जगन्नाथ इसके मुख्य गवैये थे। औरंगजेब के समय में संगीत कला को भी बहुत धक्का पहुँचा।

विदेशी यात्री

भारत का विदेशों के साथ आदि काल से सम्बन्ध स्थापित हो चुका था और यहां से विदेशों के लिये व्यापारी जाते थे तथा वहाँ से भी बहुत

से आते थे, जैसा कि हमको प्राचीन ग्रन्थों और यूनानी तथा रोम के ऐतिहासकारों के वृतांतों से पता चलता है । इस युग में योरोप से भारत में व्यापार करने के लिये विदेशी आये । इन विदेशियों में सबसे प्रथम पुर्तगाली आये जिन्होंने अकबर और जहांगीर के समय में सम्राटों की सहानुभूति प्राप्त कर ली । उनके कुछ दुर्व्यवहार से जहांगीर ने १६१३ में उनके गिरिजा घर बंद करवा दिये, जिससे अंग्रेजों को लाभ हुआ । हाकिन्स सर्वप्रथम यहाँ आया था और उसे व्यापारिक सुविधाएं दी गई । इसके बाद सर टामसरो १६१५ ई० में आया और उसने अंग्रेजों के पैर भारतीय भूमि पर जमाने के लिये जहाँगीर से व्यापारिक सुविधायें प्राप्त की । भौगोलिक अन्वेषणों के कारण भारत का योरुप के साथ जलमार्ग द्वारा सम्बन्ध स्थापित हो चुका था । भारत में पुर्तगालियों, डचों तथा अंग्रेजों ने अपनी अपनी कोठियां बनानी आरम्भ की । फ्रांसीसियों ने सबसे बाद में पदार्पणकिया और वे सबसे जल्दी नष्ट हुये । इन वैदेशिक शक्तियों का भारत में आगमन मुग़ल साम्राज्य के लिये बाद में अहितकारी सिद्ध हुआ । यद्यपि यह व्यापारी के रूप में आये पर इन्होंने राजनीति में हस्तक्षेप कर धीरे-धीरे अपनी शक्ति बढ़ाई और अंत में अंग्रेज भारत के ऊपर छा गये ।

मुगलकालीन संस्कृति और सभ्यता वास्तव में अकबर के समय में ही बहुत फली फूली । शाहजहां के बाद से मुगलों का इतिहास स्पर्धा, वैमनस्य और विरोधी शक्तियों के प्रबल होने का युग है । औरंगजेब का साम्राज्य बहुत बड़ा था पर उसकी नीति, विशेषतया धार्मिक कट्टरपन, ने भारतीय शक्तियों को प्रेरित किया कि समय पाकर उठें और अपनी गुमी हुई स्वतंत्रता को प्राप्त करें । देश में राजनैतिक जागृति शुरू हो गई और इसमें सिख, मराठों, तथा राजपूतों ने बड़ा भाग लिया । उन्होंने मुग़ल राज्य को तो खोखला कर ही दिया पर उनकी अपनी शक्तियों का संतुलन न होने के कारण वे परिस्थिति से पूरा लाभ न उठा सके ।

—:०:—

अध्याय १६

मध्यकालीन दक्षिण भारत और इस्लाम

उत्तरी भारत में तो इस्लाम की प्रगति मंद थी ही और यहाँ पर पाँच शताब्दी तक मुसलमानी राज्य की स्थापना न हो सकी। दक्षिण भारत में भी हिन्दू राजाओं और वहाँ की जनता ने, जो अपनी धार्मिक भावनाओं में बड़े दृढ़ थे, न तो इस्लाम और न मुसलमानी शक्ति को बहुत काल तक आगे बढ़ने दिया। हाँ! मलावार में कुछ अरब व्यापारी अपने धर्म का प्रचार करते थे। दक्षिण के शक्तिशाली चोल सम्राट् और उनके बाद विजयनगर के काकतिया राजाओं ने कृष्णा के नीचे इस्लाम और मुसलमानी राज्य की प्रगति को रोका। चोल राजाओं के विषय में पहिले ही कहा जा चुका है। इन्होंने ३०० वर्ष तक दक्षिणी भारत में महत्वपूर्ण राज्य किया। इनकी दिग्विजय का पताका दूर-दूर तक फहराई और उत्तर में इनके राज्य की सीमा उड़ीसा तक पहुँच गई। दक्षिण में इन्होंने सीलोन तक पर अधिकार कर लिया और पूर्व में बंगाल की खाड़ी में उनका बेड़ा घूमने लगा तथा १०० वर्ष तक उन्होंने सामुद्रिक क्षेत्र में अपना पूर्ण प्रभाव स्थापित रक्खा। उनके मलाया पर अधिकार और शैलेन्द्र राजाओं से संघर्ष का उल्लेख पहिले ही हो चुका है।

राजनैतिक शक्ति का अभाव

१३ वीं शताब्दी के अंत में यह वृहत् साम्राज्य नष्ट हो चुका था और दक्षिण में कोई इतनी बड़ी राजनैतिक शक्ति न रह गई जो उत्तरी भारत के मुसलमान आक्रमणकारियों का सामना कर सकती। छोटे छोटे राज्य, जैसे देविगिरि के यादव, बारंगल के काकतिया, और कर्नाटक प्रदेश के होयसल

उस समय में राज्य कर रहे थे जब कि अलाउद्दीन का सेनापति मलिक काफूर दक्षिण की ओर बढ़ा। इन तीनों शक्तियों ने एक साथ मिलकर इसका विरोध न किया जिसका परिणाम यह हुआ कि इनको भारी क्षति पहुँची। यादव का राज्य तो उसने जीत ही लिया। काकेतिया सम्राट् ने अलाउद्दीन खिलजी का आधिपत्य स्वीकार किया और मलिक काफूर को होयसलों से संघर्ष करना पड़ा, जिन्होंने चोलों के पतन से अपने राज्य की सीमा बढ़ा ली थी, पर उनकी शक्ति इतनी न थी कि डट कर सामना कर सकती। मलिक काफूर मदुराई तक पहुँच गया और बहुत सा धन लूटकर दिल्ली लौटा।

कोएलेन के राजा रविवर्मन् ने मुसलमानी सेना रक्षकों को दक्षिण से हटाकर राज्य की बागडोर अपने हाथ में सम्भाली। इस समय में कुछ अन्य छोटी-छोटी शक्तियाँ भी ऊपर उठने का प्रयास कर रही थीं और मुसलमानी आधिपत्य से अपने को स्वतन्त्र बनाने की सोच रहीं थीं। इनमें सोमदेव नामक एक चालुक्य था तथा दो मुख्य नेता हरिहर और बुक्का थे जिन्होंने पुनः वृहत् राज्य की नींव डाली जो विजयनगर नाम से से प्रसिद्ध हुआ।

विजयनगर राज्य

इस राज्य का उल्लेख कुछ विदेशी यात्रियों ने भी किया है। यह राज्य उत्तर में कृष्णा नदी से आगे नहीं बढ़ सका क्योंकि हसनगंगु ने १३४७ में बाहमनी राज्य की नींव डालकर दक्षिण में मुसलमानी राज्य की स्थापना कर दी। यह दोनों शक्तिशाली राज्य थे और इनका आपस में संघर्ष होना स्वाभाविक था। विजयनगर राज्य में एक वृहत् सेना थी और इसका विदेशियों से भी सम्बन्ध था। अब्दुल रजाक, जो फारस से राजदूत होकर यहाँ आया था, ने उसका वृतान्त लिखा है। इस वंश में कृष्णदेव रैया सबसे महान् सम्राट् हो गये हैं और उन्होंने उड़ीसा तक अपने राज्य को बढ़या। बाहमनी राज्य का अन्त हो चुका था और मध्य १६ वीं शताब्दी में इस राज्य की नींव पर छोटे-छोटे मुसलमानी रियासते जिनमें बीजापुर, गोल-

कुंडा प्रधान थी, की स्थापना हो चुकी थी। इस्लामी शक्ति क्षीण हो गयी थी और इसीलिए इसकी प्रगति आगे न हो सकी। उधर विजय नगर राज्य ने अपने राज्य को संगठित बनाया और उसकी रक्षा के लिए समुचित प्रबन्ध किया तथा विदेशियों के साथ भी सम्पर्क स्थापित किया। ऐसी परिस्थिति अधिक काल तक न रह सकी, और मुसलमानी शक्तियों ने मिलकर १५६५ में विजयनगर की सेना को हराकर दक्षिण के विशाल हिन्दू राष्ट्र, जिसने इस्लाम की राजनैतिक और धार्मिक धाराओं को आगे बढ़ने से रोका था, की बड़ी क्षति पहुँचाई। इस राज्य की नींव मजबूत थी। अतः इस पराजय से इसका अन्त नहीं हुआ और यह पुनः जागृति हो उठा और बहुत काल तक चलता रहा। इसका उल्लेख मुसलमान और पुर्तगीज लेखकों ने किया है। विजयनगर राज्य दक्षिण में राजनैतिक शक्तियाँ को मिल कर बनाया गया था और इसने मुसलमानी विरोधी शक्तियों को आगे बढ़ने से रोका। सांस्कृतिक तथा साहित्यिक क्षेत्र में इस राज्य ने बड़ी प्रगति दिखाई। ऋग्वेद के अन्तिम टीकाकार शायणाचार्य बुक्का के मन्त्री थे और इस राज्य में बैष्णव धर्म को बड़ा प्रोत्साहन मिला। यहाँ के सम्राट् साम्राज्ञी स्वयं सुशिक्षित थे, अतः साहित्यिक क्षेत्र में भी बड़ी प्रगति हुई। कला की दिशा में भी विजयनगर पीछे न था। इस विस्तृत साम्राज्य का शासन प्रबन्ध भी सुगठित था जिसके फलस्वरूप यह लगभग ३०० वर्ष तक चल सका और दक्षिण भारत के इतिहास में उसका अद्वितीय स्थान है।

इस्लाम का प्रभाव

यद्यपि यह राजनैतिक परिस्थितियाँ इस्लाम धर्म और मुसलमानी राज्य के प्रतिकूल थीं तथापि साधारण जनता में इस्लाम धर्म को बढ़ाने का भार अरब व्यापारी और उत्तरी भारत के सूफी सन्तों पर पड़ा। आरंभ में यह अरब व्यापारी दक्षिण भारत में इस्लाम धर्म का प्रचार कर रहे

थे। इनके अतिरिक्त मुसलमान सूफी संतों ने इस धर्म को बढ़ाने के लिए एक नयी स्फूर्ति डाल दी जिसने को व्यवहारिक जीवन में स्थान दिया। साधारण जनता–हिन्दुओं और मुसलमानों – में परस्पर इतना विरोध नही था जितना कि धार्मिक वैमनस्य के कारण होना चाहिये था। इसका कारण यह था कि जो अरब उत्तरी भारत में अपने धर्म प्रचार के लिये आये उनका उत्साह उतने क्षेत्र तक ही सीमित रहा और दक्षिण पहुँचते पहुँचते न तो उनमें कुछ जोर रह गया और न दक्षिणी भारत को इस्लामी रंग में रंगने की शक्ति ही थी। राजनैतिक परिस्थिति भी उनके प्रतिकूल थी और उधर दक्षिण भारतीय संस्कृति और सभ्यता इतनी बढ़ी चढ़ी थी कि उसने इस्लाम के वेग को धार्मिक तथा राजनैतिक दोनों क्षेत्रों में आगे बढ़ने से रोका।

—:०:—

अध्याय १७

मुग़ल राज्य का पतन और देश में राजनीतिक जागृति

अंग्रेजों का भारत में पदार्पण हो चुका था और उन्होंने अन्य विदेशी शक्तियों की अपेक्षा यहां पर अपने पैर अच्छी तरह जमा लिये थे। जब औरंगजेब अपने अन्य भाइयों को हराकर पिता के राज्यकाल में ही दिल्ली के राज्य सिंहासन पर बैठा तो उसने जो अपनी नीति चलाई वह साम्राज्य के लिए घातक थी। इसने धर्म और राजनीति को अलग अलग क्षेत्रों में नहीं रक्खा वरन् इस्लाम को राज्य धर्म माना, तथा अन्य धर्मों के प्रति उदारता का भाव नहीं दिखाया। राजनीति में आरम्भ से ही उसने धर्म को विशेष ध्यान दिया। इसका परिणाम यह हुआ कि वे शक्तियाँ जिनको अकबर ने अपनी ओर खींच लिया था अब पुनः विरोधी हो गयीं और उन्होंने इस प्रसिद्ध साम्राज्य की नींव को खोखला कर इसे नष्ट करने का प्रयास किया। उसने शक्तिशाली राजपूतो से अनबन की जो मुगल साम्राज्य के स्तम्भ थे। उत्तर में वह शक्ति जो नानक के समय में केवल धार्मिक प्रेम भावना लेकर बढ़ी थी अब एक शक्तिशाली सैनिक के रूप में बदल गई। दक्षिण पश्चिम की ओर मराठे लोग थे जिनमें देश भक्ति और हिन्दुत्व की भावना कूट-कूट कर भरी हुई थी। औरंगजेब ने ऐतिहासिक घड़ी की सूई पीछे की ओर मोड़ दी और वह साम्राज्य जो कि बाबर की वीरता, अकबर की उदारता, और जहाँगीर तथा शाहजहाँ की समान और प्रगतिशील नीति के आधार पर बना था अब अपने अंत के दिन गिनने लगा। इस अध्याय में हम औरंगज़ेब की उस नीति की विवेचना करेंगे जिसके अन्तर्गत धर्म को राजनीति में हस्तक्षेप करने का अवकास मिला तथा जिसका परिणाम मुगल साम्राज्य के लिए विनाशकारी हुआ, और उन राजनैतिक

शक्तियों के विकास पर भी कुछ प्रकाश डालेंगे जिन्होंने राष्ट्रीयता की भावना को लेकर अपने देश में पुनः स्वतन्त्रता प्राप्त करने का प्रयास किया। इस द्वन्द के फलस्वरूप वह विदेशी शक्तियाँ, जो मुख्यता अंग्रेज तथा फ्रांसीसी थीं, को भी अपने मन्सूबे पूरे करने का अवकास मिला। यदि भारत में उस समय अकबर ऐसा सम्राट् होता तो देश की विरोधी शक्तियों का संतुलन करके देश में फिर से एकता स्थापित करता तथा ब्रिटिश राज्य की नींव भारत में इतनी जल्दी न पड़ने पाती। इतिहासकार के लिए यह एक गम्भीर विचार है। १७०७ ई० में औरंगजेब की मृत्यु हुई और १७५७ ई० में प्लासी की लड़ाई के बाद अंग्रेजों के राज्य की नींव भारत में मजबूत हो गयी। क्या यह केवल मुग़ल सम्राट् की धार्मिक नीति का फल था अथवा इसके और कुछ कारण भी हो सकते हैं? यहाँ पर हम उन राजनैतिक शक्तियों के विषय में भी कुछ कहेंगे जिन्होंने भारतवर्ष में राष्ट्रीयता की भावना प्रदर्शित की। अन्त में हम आर्थिक परिस्थिति से भी विमुख नहीं हो सकते है क्योंकि साम्राज्य के पतन में इसका भी बड़ा हाथ था। देश की आर्थिक परिस्थिति बिगड़ चुकी थी और इसी कारणवश जाटों तथा शतनामियों ने भी विद्रोह किया जिसे दबा तो दिया गया पर वह आग बराबर जलती रही और समय आने पर वह फिर प्रज्वलित हो उठी।

धर्म का राजनीति में हस्तक्षेप

औरंगज़ेब का राज्य काल प्रायः दो भागों में विभाजित किया जाता है। पहिला १६५८ से १६८१ तक का, जिसमें उत्तर भारत ही राजनैतिक केन्द्र था और दक्षिण की तरफ सम्राट् ने उपेक्षा दिखाई। दूसरे भाग में सम्राट् केवल दक्षिण में ही व्यस्त रहा और उसने एक बड़ी भारी सेना लेकर सम्पूर्ण दक्षिण पर विजय प्राप्त करनी चाही। सम्राट् बीजापुर और गोलकुंडा के मुसलमानी राज्यों को तो हरा सका पर मराठा शक्ति से लोहा लेना उसके लिये घातक सिद्ध हुआ, और दक्षिण में ही हताश होकर वह १७०७ ई० में मर गया। औरंगज़ेब ने आरम्भ से ही उग्र नीति का सभी क्षत्रों में अनुसरण किया।

उत्तर पश्चिम में उसे उन मुसलमान कबालियों से संघर्ष करना पड़ा जो अपनी आर्थिक परिस्थिति के कारण मुगल साम्राज्य की शान्ति भंग किये हुए थे। वे अवसर पाकर बराबर लूटमार करते थे। यद्यपि औरंगजेब उनके साथ संघर्ष में किसी प्रकार सफल भी हो गया पर इसका उसके राज्य की परिस्थिति पर बुरा प्रभाव पड़ा। इसके फलस्वरूप अफगान मुगल सेना में भरती न हो सके। सम्राट् की धार्मिक नीति ने हिन्दुओं और मुसलमानों के बीच में एक बहुत बड़ी दिवाल खड़ी कर दी थी। कट्टर सुन्नी होने के कारण उसने शियाओं की कुछ प्रथाएँ और उनके त्योहारों को बंद करा दिया जिसका ईरान से सम्बन्ध था, जैसे नवरोज इत्यादि, और उसने मुहतसित नामक अधिकारियों की नियुक्ति की जो जनता को कुरान की नीति के अनुसार अपने धार्मिक जीवन व्यतीत करने पर बाध्य करते थे। इस प्रकार उसने मुसलमानों की जीवन चर्या में भी हस्तक्षेप किया। जज़िया फिर से लगाया गया इससे जनता में असंतोष फैला। अपने निजी धर्म को जनता के ऊपर बल प्रयोग से लादना और जनता को अपनी इच्छानुसार जीवन न व्यतीत करने देना, तथा धार्मिक भावना को राजनीति में कूट कूट कर भरना साम्राज्य के लिये अहितकर था।। इसने केवल हिन्दुओं को ही नहीं वरन् उन मुसलमानों को भी सम्राट् का विरोधी बना दिया जो यातो शिया थे, अथवा उदार विचार वाले थे। धर्म ने राष्ट्र की नींव में तेल डाल दिया और वे शक्तियाँ जो अकबर के साथ में राज्य के साथ थी अब विपक्षी हो गई। उनमें से मुख्यता राजपूत, सिख, जाट, बुन्देला तथा सतनामी थे।

राजपूत आरंभ से ही विदेशी मुगल सत्ता के विरोधी रहे पर अकबर ने अपनी कुशल नीति तथा उनके साथ वैवाहिक सम्बन्ध स्थापित कर, और उनको अच्छे पद पर नियुक्ति करके उनके हृदय में संतोष की भावना प्रदान की। यह नीति उसके बाद भी अपनाई गई पर औरंगजेब की आँखें मारवाड़ की ओर लगी हुई थी। जमरूद के युद्ध में जयसिंह को वीरगत्ति प्राप्त हुई। उसकी रानियां तथा पुत्र अजीतसिंह को देहली लाया गया पर राजपूत उनको भगाकर अपने देश ले गये। सम्राट् ने माड़वार पर आक्रमण कर उस

पर अधिकार कर लिया और वहाँ अपने अधिकारी भी नियुक्ति किये । इससे राजपूतों के हृदय में बड़ा क्षोभ पहुँचा । राजपूतों ने अपने देश की स्वतंत्रता की रक्षा के लिये हर प्रकार का प्रयास किया । इस समय राजपूताने में दुर्गादास नामक एक व्यक्ति हुआ जिसने राजपूतों में राष्ट्रीय स्फूर्ति डाली और अपनी नीति से उनको संगठित किया । औरंगजेब ने फिर मेवाड़ पर आक्रमण कर दिया और चितौड़ पर अधिकार किया । राजपूतों ने गुरेला युद्ध आरंभ कर दिया और मुगलों को बड़ी कठिन परिस्थिति में डाल दिया । उन्हें राजपूतों के विरुद्ध सफलता न मिल सकी और मुगल मेवाड़ से वापस चले आये । दुर्गादास के नेतृत्व में मुगलों की सेना पर बराबर आक्रमण होता रहा । राजपूतों के साथ संघर्ष से मुगल राज्य की साख तो जाती ही रही इसका बुरा आर्थिक प्रभाव भी हुआ । औरंगजेब के लिये राजपूतों को अपनी धार्मिक नीति से उत्तेजित करना धातक सिद्ध हुआ । उसने अपने राज्य के स्वामिभक्तों को, जिन्होंने पहिले मुगल साम्राज्य की सेवा की थी, हाथ से खो दिया, और दक्षिण की लड़ाई में औरंगजेब के साथ न तो अफगानी ही रहे और न राजपूत ही ।

मराठों से संघर्ष

दक्षिण के मराठों ने भी मुगलराज्य के प्रति घृणा की भावना उत्पन्न हो गई थी और इसका कारण औरंगजेब की नीति थी जिसने उनको अपने धर्म की रक्षा के लिये बाध्य किया और उन्होंने अपनी राजनैतिक सत्ता धीरे-धीरे बढ़ाना शुरू की । इसका श्रेय मुख्यता तो शिवाजी को है किन्तु राष्ट्रीयता की भावना को प्रेरित करना संत तुकाराम, रामदास इत्यादि का काम था । उन्होंने भक्ति के साथ कर्म योग पर भी जोर दिया । इसीलिए राष्ट्र निर्माण के लिये वे बहुत ही सहयोगी सिद्ध हुए । उनका धार्मिक आन्दोलन भक्तिवादी था, इसके अतिरिक्त इस धार्मिक संगठन में जनसाधारण का भाग अधिक था, और जाति वर्ण व्यवस्था अथवा सामाजिक भेदभाव को हटाकर राष्ट्र निर्माण के लिये एकीकरण होने की नवीन स्फूर्ति जागृति

हो उठी। मराठों में साहस की भावना भरी हुई थी जिसके फलस्वरूप वे संगठित हो सकें, और उन्होंने मुगल साम्राज्य से लोहा लिया जिसमें वे सफल ही नहीं हुये वरन् औरंगजेब को राजनैतिक और आर्थिक क्षेत्र में बहुत धक्का पहुँचा। समाट् का बीस वर्ष का लम्बा राज्य काल दक्षिण में ही बीता, फिर भी उसे सफलता न मिली, और अन्त में अहमदनगर में उसका देहान्त हो गया। मराठों का उत्साह किसी भी प्रकार कम नहीं हुआ और न तो शिवाजी की मत्यु, अथवा सम्भा का बध और साहु की बिलासिता से किसी प्रकार मराठों की उस राजनैतिक भावना और देश के प्रति अटूट भक्ति में किसी प्रकार की कमी आई। १८वीं शताब्दी तक मराठों का पूर्णतया विकास हुआ और उनका राज्य उत्तर भारत में पंजाब तक फैल गया। १७६१ में पानीपत के तृतीय युद्ध ने इन मराठों की कमर तोड़ दी। मुगल साम्राज्य का अस्तित्व तो वास्तव में समाप्त हो गया था और औरंगजेब के बाद जो मुगल सम्राट् हुए वे केवल नाम मात्र के हैं। मराठों ने एक शताब्दी से ऊपर सम्पूर्ण भारत की राजनीति में अपना पूर्ण रूप से प्रभाव दिखाया और उन्होंनें मुगल साम्राज्य की नींव को बिलकुल खोद डाला। कुछ विद्वानों का विचार है कि औरंगजेब की असफलता का कारण उसकी साम्राज्य विजय की कांक्षा थी। वास्तव में सच तो यह हैं कि सम्राट् की दूसरे के प्रति अविश्वास की भावना धार्मिक कट्टरता तथा राजनैतिक शक्तियों का प्रादुर्भाव उसके तथा उसके साम्राज्य के लिये बाधक सिद्ध हुआ और राज्य की आर्थिक परिस्थिति भी बहुत बिगड़ गयी। यहाँ सिखों के उत्कर्ष की विवेचना करना भी आवश्यक है।

सिखों का उत्कर्ष

सिख धर्म का जन्म तो नानक के समय में हुआ था और उनका उपदेश भक्ति भावना से भरा हुआ था। कुछ विद्वानों का कथन है कि यह मत हिन्दू धर्म से विपरीत न था वरन् समयानुकूल एक प्रगतिशील शक्ति के रूप में आया था। पर दूसरे विद्वानो का कथन है कि वास्तव

में इसका विकास प्रथक् रूप से हुआ। सच तो यह है कि यह धर्म न तो हिन्दू धर्म से विपक्ष में था और न यह उसका एक अंग ही था। इसमें अन्ध-विश्वास और प्राचीन संस्कारों का अभाव था और इसका ध्येय उस नये समाज का निर्माण करना था जिसके अन्तर्गत जनसाधारण में जाति पाँति का भेद-भाव हटाना था। इसके लिए सिख धर्म में सामूहिक भोजन अथवा लंगर की प्रथा चलाई गई जिससे इस धर्म में ऊँच नीच का भाव न रह जाये। औरंगज़ेब के समय में सिखों में गुरू तेग बहादुर का बध हुआ; और उनके खून से सिखों में मुगल साम्राज्य के प्रति वैमनस्य और घृणा की भावना जागृत हो उठी। खालसा का निर्माण हुआ और केश, कंघी, कृपान, कक्ष और कर को लेकर सिख पूर्ण रूप से सैनिक बन गये। गुरू गोबिन्द सिह ने औरंगज़ेब की मृत्यु काल तक मुग़लों को बड़ा कष्ट दिया और सम्राट् की मृत्यु के पश्चात् भी उन्होंने सिंहासन के लिए संघर्ष में बहादुर की सहायता की।

यह बात विचार करने योग्य है कि औरंगज़ेब की सादगी तथा कर्त्तव्य-निष्ठता उसकी सफलता में सहयोग न दे सकी और उसका अन्त एक थके वीर तथा साहसी पुरुष की भांति हुआ जिसने संसार के कटु अनुभवो को पाया। उसकी न तो कला और न साहित्य की ओर ही रुचि थी; उसका ध्येय तो सिर्फ सम्पूर्ण भारत पर राज्य करना था और वह भी अपने धर्म के आदेशानुसार। उसकी धर्म को राजनीति में स्थान देने की भावना उसके लिए हानिकर सिद्ध हुई। न तो वह राज्य में एकता ही स्थापित कर सका और न शान्ति प्रदान कर सका। यह बात सच है कि उसने भारत में एक सुगठित शासन और साम्राज्य स्थापित किया पर विरोधी शक्तियों को बल प्रयोग से दबाया न जा सका। उदारता और प्रेमभाव का आभाव होने के कारण वे शक्तियाँ बराबर इस बात का प्रयास करने लगी कि किस तरह मुग़ल राज्य की नींव उखाड़ी जाये। इधर औरंगज़ेब की युद्ध की नीति के फलस्वरूप राज्य का कोष खाली हो गया था और देश की राष्ट्र [illegible] नष्ट हो चुकी थी। इतिहासकार मुग़ल राज्य के पतन का मुख्य कारण

औरंगज़ेब की धार्मिक नीति को ही बताते हैं पर वास्तव में इसके अन्य कारण भी थे। उस युग में एक नवीन धार्मिक भावना भी जागृति हो उठी जिसने १५ वीं शताब्दी की भक्ति भावना को कर्म योग में मिश्रित कर एक नवीन स्वरूप प्रदर्शित किया। इसका प्रभाव राजनैतिक तथा सामाजिक क्षेत्र में पड़ा और जातीयता के स्थान पर एकता और भ्रातव्य की भावना बढ़ी। जाति पांति का भेद भाव नहीं रह गया था और सम्पूर्ण भारत में केवल एक ही ध्वनि थी और वह थी देश को पुन: स्वतन्त्रता प्राप्त कराना।

कर्म योग और जातीय एकता

उस युग में बहुत से संत हो गये हैं जिन्होंने ईश्वर के प्रति अगाध भक्ति कोसराहा है, और उनमें सभी जाति के लोग हुए हैं। इन संतों में रामानन्द चैतन्य, नामदेव, और कबीर के अतिरिक्त दादूदयाल और रैदास तथा गरीबदास भी हुए हैं जिन्होंने ईश्वर की आराधना में जातिपांति तथा धर्म को कोई स्थान नहीं दिया, पर जो विचार धारा, बही उसने हिन्दू समाज को एकता प्रदान की। दक्षिण भारत में संतों का वह आन्दोलन हुआ जिसके नेता तुका राम, रामदास, एकनाथ इत्यादि थे। इन्होंने साधारण जनता की वाणी में मनुष्यों को उपदेश दिया। इस कारणवश सर्वसाधारण व्यक्ति भी इनके उपदेशों का अनुसरण कर सकते थे। इन धार्मिक उपदेशों ने सामाजिक क्षेत्र में भी बहुत सुधार किया। उन्होंने जन्म के आधार पर वर्णव्यवस्था का विरोध किया और भ्रातव्य तथा परोपकार की भावना मनुष्यों में डाली। देश और धर्म के प्रति अटूट भक्ति की भावना भी उमड़ पड़ी। शिवा-जी के चरित्र पर इसी प्रकार से गुरू रामदास का प्रभाव पड़ा। उन्होंने दक्षिण में एक जागृति पैदा कर नवीन स्फूर्ति प्रदान की जिसके अन्तर्गत सबको एक साथ मिलकर अपनी मातृ भूमि को म्लेक्षों से छुड़ाना ही सर्वश्रेष्ठ धर्म था। उत्तर भारत में सिखों का उल्लेख पहले ही हो चुका है ओर उन्होंने भी धर्म के लिये यह आवश्यक समझा कि जातीय एकता स्थापित हो। इन दोनों क्षेत्रों में ऊँच नीच का भाव नहीं था और यह बात विशेषतया उल्लेखनीय है कि धर्म की आड़ में मराठों और सिखों दोनों ने

अपनी राजनैतिक और जातीय एकता स्थापित की। इनकी धार्मिक भावना में वह कटुता नहीं थी जिसका अनुसरण मुग़ल सम्राट् ने किया था वरन् प्रेम भावना बढ़ी हुई थी। मुग़ल शासन से सिख और मराठे दबे हुये थे और उन्होंने मुग़लों की सत्ता और धार्मिक कठोरता का कटु अनुभव किया था, अतः वह उत्साह और उमंग जो धार्मिक भावना दे सकती है पूर्णतया जागृति हुई। यद्यपि मुग़ल साम्राज्य का अन्त न हो सका पर इन विरोधी भावनाओं ने देश में इस साम्राज्य के वृक्ष को खोखला कर दिया और इससे देश का द्वार विदेशियों के लिये खुल गया।

—:o:—

अध्याय १८

सामुद्रिक शक्तियों का भारत में प्रवेश

भारतवर्ष बहुत प्राचीन समय से ही व्यापारिक दृष्टिकोण से एक समृद्धिशाली देश रहा है और पहिले यहां की सामुद्रिक शक्ति भी बढ़ी-चढ़ीथी। सुपारा, ब्रोच, बसीन, ताम्रलिप्ति तथा अन्य बन्दरगाहों से भारत का माल बाहर जाता था। इसके फलस्वरूप भारत को विदेशों से बहुत सा धन प्राप्त होता था और यहाँ की राष्ट्रीय सम्पत्ति में क्रमशः वृद्धि होती जाती थी। जहाज़ों के बेड़े भी उन्हीं व्यापारियों के होते थे। राज्य की ओर से कोई सामुद्रिक बेड़ा न था, इस कारणवश इस सैनिक शक्ति का विकास न हो सका और उसका भारतीय राजनैतिक क्षेत्र में बड़ा प्रभाव पड़ा। मुसलमानों का सिंध में आगमन और उनका यहाँ पर पैर जमाना इसी का परिणाम था। उनकी सामुद्रिक शक्ति प्रबल थी और उन्हें इस मार्ग से भारत में आने के लिये रोका नहीं जा सका। भारतीय शक्तियों ने उनको सिंध से आगे बढ़ने से रोका किन्तु सामुद्रिक बेड़े के अभाव से उनके वहाँ पर पैर जम गये। दक्षिण में चोल राजाओं ने अपने समुद्री बेड़े को बढ़ाना शुरू किया और उनका मलाया, जावा, सुमात्रा तक अधिकार रहा, किन्तु यह थोड़े काल तक रहा और उसके बाद चोल राजाओं को बड़ी क्षति पहुँची। इन द्वीपों में मुसलमान व्यापारियों के रूप में पहुँचे और अरबों की सामुद्रिक शक्ति प्रबल होने के कारण उनके पैर जम गये, और उन्होंने अपने राज्य का विस्तार करना आरंभ किया। भारतवर्ष में कालीकट के जमूरिन और गुजरात के सुलतानों ने भी अपने छोटे-छोटे बेड़े रक्खे थे जो कि अरबों की सामुद्रिक शक्तियों के आगे क्षीण पड़े गये। १५वीं शताब्दी में सीदी नाम के कुछ व्यक्तियों ने, जो कि अफ्रीका के रहने वाले थे, बाम्बे से ५० मील दक्षिण में जंजीरा के टापू में अपना सामुद्रिक केन्द्र स्थापित

कया और उन्होंने बीजापुर का आधिपत्य स्वीकार किया; और उन पर व्यापार की रक्षा का भार दिया गया जिसके लिये उनके पास अच्छा बेड़ा था। शिवाजी का इनके साथ संघर्ष हुआ और अंत में सीदियों को औरंगज़ेब की शरण जाना पड़ा। इन दोनों के आपस के संघर्ष से देश की सामुद्रिक शक्ति कम हो गई और इससे विदेशियों को लाभ हुआ और मुग़लों ने समुद्र की रक्षा का भार इन यूरोपियन व्यापारियों के हाथ सौंप दिया। इससे भारतीय व्यापार को धक्का लगा और विदेशियों को प्रोत्साहन मिला।

अंग्रेजों से पहिले पुर्तगालियों ने दक्षिण भारत में अपने व्यापारिक केन्द्र स्थापित कर लिये थे और हिन्द महासागर पर उनका बहुत दिनों तक अधिकार रहा जो कि कोई १०० वर्ष तक कायम रहा। १७वीं शताब्दी में डच, अंग्रेज और उसके बाद फ्रांसीसियों ने पदार्पण किया और उन्होंने बहुत जल्दी यहाँ अपना आधिपत्य स्थापित किया। इधर बंगाल की ओर भी व्यापारिक क्षेत्र में अंग्रेजों को बहुत कुछ सुविधायें मिल गई। औरंगज़ेब के समय में इन्होंने हुगली की कोठी पर आक्रमण किया। अंत में संधि हुई और अंग्रेजों को हुगली में एक छोटा सा गाँव मिला जो कि बाद में कलकत्ते के नाम से प्रसिद्ध हुआ। १६९६ में अंग्रेज, डच और फ्रांसीसियों को अपनी-अपनी फैक्टरियों की रक्षा का भार सौंपा गया और थोड़े समय बाद फोर्ट विलियम, कलकत्ता तथा एक अन्य गाँव उन्होंने किराये पर ले लिया। इससे उन फैक्टरियों की रक्षा तथा सैनिकों का खर्च चल सकता था। इन विदेशियों ने अन्य स्थानों में भी इसी प्रकार गाँव लेने शुरू किये। और अपनी फैक्टरियों को सुरक्षित रखने के लिये सेना बनाना आरंभ किया। डच लोगों ने पुलीकट लिया और अंग्रेजों ने बाम्बे तथा मद्रास के गाँव लिये जो कि बाद में चलकर बहुत बड़े व्यापारिक केन्द्र हुये। यह गाँव किराये पर लिये गये थे फिर भी आगे चल कर यह अंग्रेजों के साम्राज्य स्थापन के केन्द्र हुए। इस प्रकार हम यह देखते हैं कि सामुद्रिक शक्ति का अभाव देश की राजनैतिक

और आर्थिक परिस्थित में बाधक सिद्ध हुआ और इस कारण से विदेशियों को प्रोत्साहन मिला कि वे भारत में अपने व्यापारिक केन्द्र स्थापित कर सके। धीरे-धीरे अपनी सैनिक शक्ति बढ़ाकर और देश की आर्थिक और राजनैतिक परिस्थिति से पूर्णतया लाभ उठा कर उन्होंने भारत पर विजय की कांक्षा पूरी की। वास्तव में सामुद्रिक शक्ति ने बहुत सहायता दी और इसी के कारण उनके भारत में पैर अच्छी तरह से जम सके।

यूरोप की औद्योगिक क्रान्ति और उसका भारत पर प्रभाव—

यूरोप की आर्थिक और राजनैतिक परिस्थिति ने भारत के औद्योगिक क्षेत्र में अपने प्रभाव डाला। नये आविष्कारों तथा औद्योगिक क्रान्ति ने यूरोप के पूँजीपतियों और सम्पतिशालियों को आगे बढ़ाया। बहुत सी मिलें स्थापित हुई और उनको कच्चा माल पहुँचाने के लिये यह आवश्यक हो गया कि विदेशी क्षेत्रों से भी सामान लाया जाये। अँग्रेज व्यापारियो ने भारत से कच्चा माल बहुत सस्ते दामों पर खरीदना आरंभ किया और बना हुआ माल बहुत मंहगे दामों पर और जबर्दस्ती बेचना शुरू किया। इधर भारत के औद्योगिक धंधे इसके सामने नहीं ठहर सके। भारत में न तो उत्पादन था और न औद्योगिक तथा व्यापारिक संगठन, जिससे इन विदेशियों से लोहा लिया जा सके। मशीन ने भारतीय कृषि कला को बहत ही क्षति पहुँचाई। पश्चिमी और पूर्वी बंगाल के उन औद्योगिक केन्द्रों, जैसे ढ़ाका, नदिया इत्यादि का माल इन अंग्रजों के माल के सामने न ठहर सका। भारतीय व्यापार भी इधर फैला हुआ था और केन्द्रीकरण के अभाव से उन्हें प्रोत्साहन न मिल सका। यदि अंग्रेजी माल पर बड़ी-कड़ी ड्यूटी लगी होती तो यहाँ के गृह औद्योगिक केन्द्रों को इतनी हानि न पहुँचती। इन कारणों से भारत के गृह उद्योगों को बड़ी ठेस पहुँची। विदेशों में यदि भारत का माल भी जाता था तो उस पर इतनी अधिक चुंगी लगती थी कि उसकी माँग वहाँ नहीं रह जाती थी। इतना होते हुये भी प्लासी की लड़ाई के समय तक नदियाँ तथा ढाँका आदि स्थानों मे बड़े उत्पादन केन्द्र थे, पर वे पाश्चात्य देश के मशीन के बने माल और अंग्रेज

व्यापारियों के प्रभाव के कारण न ठहर सके। देश में आर्थिक रक्षा का भार प्रतीत होने लगा और इसी के कारण देश की राजनैतिक स्थिति पर भी बड़ा प्रभाव पड़ा। भारत में उस समय के खनिज पदार्थ और उपज की भी बहुत कमी हो गई थी, केवल नमक और शोरा इत्यादि की उपज होती थी और इस पर बहुत कर था। यह केवल देश में व्यापार का साधन था। शोरा ही विशेष रूप से हिन्दुस्तान के बाहर भेजा जाता था। पहिले रुई के माल की विदेशों में बड़ी खपत होती थी और १७वी शताब्दी में भारत का साधारण कैलिको, युरोप मलाया और अफ्रीका को भी जाता था। इसके बाद सुन्दर मलमल और रेशम की वहाँ बड़ी मांग थी, पर १७०० ई० में विलायत में छपी हुई कैलिको का कारखाना खुला और हिन्दुस्तानी माल पर अधिक कर लगा दिया गया। अंग्रेजी मशीनरी के आगे हिन्दुस्तानियों के हाथ की कला अधिक दिन तक न ठहर सकी। अंग्रेज भारत से कच्चा माल ले लेते थे और यहाँ के बने हुये माल की माँग वहाँ जाती रही। भारत में विदेश माल भेजने वाले व्यापारियों की कमी न थी पर राजनैतिक अस्थिरता के कारण व्यापारिक क्षेत्र में उन्हें प्रोत्साहन नहीं मिलता था। कुछ बड़े भारतीय व्यापारियों ने भारत से बाहर अपना व्यापार स्थापित किया और अपनी पूँजी विदेशों में लगाई। इनमें वीरजी बोहरा नामक सूरत के एक व्यापारी का नाम विशेषतया उल्लेखनीय है जो कि संसार के बड़े व्यापारियों में एक था। ऐसी परिस्थिति में भारत के औद्योगिक विकास को बड़ा धक्का पहुँचा और राजनैतिक क्षेत्र में भी इससे बड़ा प्रभाव पड़ा।

राजनैतिक परिस्थिति

यूरोपियनों के भारत में आगमन तथा व्यापारिक क्षेत्र में यहाँ पैर जमाने का उल्लेख तो हो ही चुका है। कमजोर मुग़ल शासक, मराठों की बढ़ती शक्ति, और अफगानी आक्रमणकारी, तथा प्रान्तीय शक्तियों के स्वतन्त्र

होने का प्रयास इत्यादि इस युग की मुख्य घटनाएँ हैं। दिल्ली के मुगल सम्राट् का भारतीय राजनीति में अस्तित्व नहीं रह गया था। औरंगज़ेब ने अपने राज्यकाल में व्यक्तिगत रूप से राज्य को बाँधने का प्रयास किया पर वह इसमें असफल रहा। उसका साम्राज्य विस्तृत था पर यह अन्दर से खोखला था। निजामुल मुल्क ने १७२४ में हैदराबाद में अपना स्वतन्त्र राज्य स्थापित किया। मराठे लोग खानदेश, गोंडवाना, बरार तथा गुजरात और अपने गृह क्षेत्र में अधिकार जमाये हुये थे। राजपूतों ने अपने को संगठित कर लिया था और इस युग में अम्बर के जयसिंह का नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय है। उसने जयपुर नगर को सुन्दर ढ़ग से बसाया। पंजाब में रणजीतसिंह ने छोटी-छोटी सिख रियासतों की एक में बाँधने का प्रयास किया। अवध में सहादत अली खाँ जम कर बैठ गया था। बंगाल में मुरसीद कुली, जिसको कि औरंगज़ेब ने बंगाल में स्थापित किया था, केवल नाममात्र के लिए दिल्ली से संबन्ध रखता था। मुग़ल शक्ति क्षीण पड़ गई थी और ऐसी विषम परिस्थिति में जब १७३९ ई० में नादिरशाह ने आक्रमण किया तो मोहम्मद शाह ने अपना आत्म समर्पण कर दिया। ईरानी सम्राट् ने दिल्ली से जी भर के धन लिया और उसके सैनिकों ने इसे लूटा। उसके जाने के बाद दक्षिण भारत में मराठों ने अपनी शक्तियों का संतुलन किया और वे उत्तर की ओर बढ़ने लगे। शीघ्र ही दिल्ली उनके प्रभाव में आ गई और उसके बाद वह लाहौर तथा पंजाब में एठाक तक बढ़ गये। उनका अफगानों से संघर्ष होना स्वाभाविक था और १७६१ ई० की पानीपत की लड़ाई ने मराठों की पीठ तोड़ दी। यद्यपि वे हार गये पर अहमदशाह अबदाली का भारत से चले जाना उनके लिए लाभकारी सिद्ध हुआ और उन्होने फिर अपनी शक्ति को धीरे-धीरे बढ़ाना आरम्भ किया। मैसूर में हैदरअली ने अपनी शक्ति बढाई और बंगाल में प्लासी की लड़ाई के बाद क्लाइव ने ब्रिटिश राज्य की भारत में नींव डाली। पारस्परिक विरोधी शक्तियों—जिसमें मुख्यतः अंग्रेज तथा भारतीयों में मराठे और हैदरअली थे—के बीच बीच संघर्ष होना स्वाभाविक था। कूटनीति, छल, जाल और आपस के वैमनस्य से लाभ उठाकर अँग्रेजों ने इन शक्तियों का

नाश किया, और १९ वीं शताब्दी के आरम्भ में वेलेज़ली के समय में इनकी सत्ता भारत में अच्छी तरह से स्थापित हो गयी।

मुग़लनीति और आर्थिक परिस्थिति

वास्तव में किसी देश के सामूहिक विकास तथा उसकी उन्नति के लिए यह आवश्यक है कि राष्ट्र कोष में धन संचित हो और देश में उत्पादन अधिक हो तथा खर्च कम हो जिससे कि देश की राष्ट्र सम्पत्ति बढ़ सके। यह पहिले ही कहा जा चुका है कि किस प्रकार प्राचीन भारत ने विदेशो के साथ व्यापार कर अपनी राष्ट्र सम्पत्ति को बढ़ाया और रोम राज्य अपनी विलासिता पर धन खर्च करने के कारण नष्ट हो गया। ऐसी दशा में मुग़ल साम्राज्य का पतन होने का एक यह भी कारण था कि इस समय में व्यापार कम था और राज्य कोष युद्धों में खत्म हो चुका था। १६३० और ३१ में एक बहुत बड़ा अकाल आ पड़ा जिसका उल्लेख विदेशियों ने भी किया है। एक डच व्यापारी ने तो यहाँ तक लिखा है कि परिस्थिति ऐसी बिगड़ चुकी थी कि पुरुष-पुरुष को खाने लगे थे। सड़को पर आदमी मरे पाये जाते थे। इसी समय में भारत में हस्तकला और कर्घे इत्यादि की बनी हुई चीज़ों की भी बहुत कमी हो गई थी। सूरत से नील और केलको का माल विदेश भेजा जाता था। इस अकाल के बाद यहाँ से हटकर दक्षिण में कारोमंडल के तट पर इसके व्यापार की मन्डी चालू की गई। इसके साथ ही साथ भारत के नील की खपत, पश्चिमी इन्डीस के सस्ते माल के कारण विदेशों में न हो सकी। इसका परिणाम यह हुआ कि गुजरात व्यापारिक क्षेत्र में बहुत पीछे चला गया और मद्रास तथा बंगाल में यूरोपियनो ने अपने व्यापारिक केन्द्र स्थापित किये जिनसे भारत की राजनैतिक और आर्थिक परिस्थित पर बड़ा प्रभाव पड़ा। भारतवर्ष में १६३१ के बाद क्रमशः १६३६, ४३, ४५, ४६, ४८, ५०, ५९ और अन्त में १६६१ में आकाल पड़े, जिसमें किसानों, मजदूरों और कलाकारों को बड़ा धक्का लगा। औरंगज़ेब की उग्रनीति ने देश की आर्थिक स्थिति पहिले से

ही बिगाड़ दी थी । लड़ाई के फलस्वरूप आदमी और धन की विशेष रूप से कमी हो गई । बहुत सी जमीनें बंजर पड़ गई और बहुत से किसानों ने अपनी भूमि छोड़ दी । दूसरी ओर व्यापारिक क्षेत्र में घरेलू धंधे भी छूट गये । इसका देश के उद्योगों पर बड़ा प्रभाव पड़ा । उपज कम हो गई और उपभोग की भावना अधिक बढ़ गई । यह देश के लिए घातक सिद्ध हुई । मुग़ल राज्य के पतन में एक यह भी बहुत बडा कारण था और भारतीय इतिहास की रूपरेखा बदली होती यदि देश की आर्थिक परिस्थिति न बिगड़ी होती ।

—:o:—

अध्याय १६

भारतीय संस्कृति में उथल पुथल

भारतीय राजनैतिक क्षेत्र में शान्ति हो स्थापना चुकी थी जिसके अन्तर्गत मुगल राज्य का पतन, भारतीय रियासतों का प्रादुर्भाव, मराठों का उत्थान, पारस्परिक सामुद्रिक शक्तियों का संघर्ष और अंत में अंग्रेजों की कूटिनीति से सफल होना भारतीय इतिहास में राजनैतिक महत्व रखता है। यहाँ की सामाजिक तथा आर्थिक दिशा में भी परिवर्तन हुआ। आर्थिक क्षेत्रमें विदेशी व्यापारियों से जो धक्का लगा उसका उल्लेख पहिले ही हो चुकाहै। अंग्रेजों की यह बराबर नीति रही कि साधारण जनता, चाहे वह किसान हो अथवा गृह उद्योग कला से उसका सम्बन्ध हो, को किसी प्रकार पनपने न दिया जाये क्योंकि जनसमूह का उत्कर्ष और उनमें राजनैतिक जागृति उनके लिये बाधक सिद्ध हो सकती थी। अतः उन्होंने एक नवीन वर्ग की स्थापना की जिसने अंग्रेजी शिक्षा से लाभ उठाकर विदेशी पाश्चात्य शिक्षा और सभ्यता में रंगकर इन विदेशियों की संस्कृति को अपनाया और देश की रूढ़िवादी प्रवृत्तियों के विरुद्ध आवाजें उठाई। भारतीय समाज में एक प्रकार से विप्लव युग आरम्भ होता है और यह मध्य से वर्तमान काल में प्रवेश का युग है। इधर इन अंग्रेजों ने भी भारतीय सभ्यता के कुछ अंगों को अपनाया और इसीलिए कुछ पश्चिमी इतिहासकारों ने उन विदेशियों को जिनपर भारतीय छाप पड़ी सफेद बाबू कहकर संबोधित किया। वास्तव में इस मध्यम वर्ग के नवीन विचार वाले व्यक्तियों का निर्माण भारत में कई कारणों से हुआ। एक तो बंगाल, बिहार और उड़ीसा में स्थायी बंदोबस्त के कारण वह ज़मीदार वर्ग स्थापित हुआ जो सरकार और जनता के बीच में केवल मध्यस्थ के रूप में अपना, पेट भरता था। उसने इससे अत्यन्त लाभ उठाया और उसका धन वास्तव में किसानों के पैदा किये हुए कोश का एक बहुत बड़ा भाग था।

अंग्रेजी शिक्षा प्रणाली से इस वर्ग के व्यक्तियों में एक नवीन भावना का संचार हुआ और वे अपने देश में पाश्चात्य सभ्यता के प्रतीक बनकर रहने लगे। इस युग में सामाजिक क्षेत्र में बड़ी प्रगति हुई। सती का निषेध, विधवा विवाह की अनुमति, अंग्रेजी शिक्षा का प्रादुर्भाव, ईसाइयों का धार्मिक ज़ोर और विदेशियों का भारतीय समाज में स्थान, विशेष रूप से महत्व रखता है और इस अध्याय में हम इन्हीं विषयों पर विवेचना करेंगे।

सामाजिक क्रान्ति, सती निषेध इत्यादि

समाज में किसी भी काल में क्रान्ति तब होती है जब अधिकतर व्यक्ति उदार और नवीन दृष्टिकोण के हों जो इस बात को अनिवार्य समझते हो कि उसकी कुरीतियों को बदला जाये और नवीन विचार-धारा के अन्तर्गत एक ऐसे समाज का निर्माण किया जाये जो नये युग का प्रतीक हो। सरकार की ओर से भी हस्तक्षेप करने के फलस्वरूप सामाजिक क्षेत्र में क्रान्ति होती है। कोई भी सरकार समाज के उन मुख्य सिद्धान्तों को, जिनके ऊपर इनका निर्माण हुआ है, हटाने का प्रयास नहीं करेंगी। वास्तव में सामाजिक सुधार किसी शक्ति द्वारा लादे नहीं जा सकते हैं वरन् उनका केवल शान्ति रूप से ही प्रवेश हो सकता है। आरंभ से अंग्रेजी सरकार ने भारतीय सामाजिक और धार्मिक क्षेत्र में हस्तक्षेप न करने की नीति अपनायी, यद्यपि उन्होंने उन ईसाई पादरियों को अपने धर्म प्रचार करने की पूर्णतया स्वतंत्रता दे दी थी। अतः इस नीति का यह फल हुआ कि भारतीय समाज में कोई परिवर्तन न हुआ, पर अंग्रेजों ने आगे चलकर यह आवश्यक समझा कि सामाजिक क्षेत्र में सुधार होना आवश्यक है और इसलिएउन्होंने तटस्थकी नीति को छोड़कर अब हस्तक्षेप करना आरम्भ किया। उदाहरण के रूप में पहिले की तरह कोई हिन्दू यदि ईसाई हो जाता था तो उसका अपनी पैतृक सम्पति पर कोई अधिकार नहीं रहता था और इसको अंग्रेजी सरकार ने भी स्वीकार कर लिया था। बाद में यह सुझाव बदल गया और धर्म परिवर्तन का पैतृक सम्पति से कोई सम्बन्ध न रहा, और इसके बाद भी वह उसका अधिकारी

हो सकता था । अंग्रेजों ने हिन्दुओं की सामाजिक प्रथा और धार्मिक संस्कारों में भी हस्तक्षेप करना आरम्भ किया। इसमें वे मानवी परम्परा तथा अन्य कारणवश हस्तक्षेप करने पर बाध्य हुए ।

सर्व प्रथम उन छोटे बच्चों को वध करने की प्रथा को रोका गया जिसको धार्मिक रूप दिया गया था, और जो मुख्यता मध्य और पश्चिमी भारत की कुछ जातियों तक सीमित थी। पहिले तो अंग्रेजों ने समझा बुझा कर इस बात को रोकना चाहा कि इन बच्चों का बध न किया जाये पर अन्त में कानून के अन्तर्गत इस प्रथा को रोकने के लिये उन्होंने मौत की सज़ा निर्धारित कर दी। इसके अतिरिक्त बेन्टिग के समय में सती की प्रथा भी रोकी गई जिसका किसी समय में भारत के अतिरिक्त अन्य देशों में भी चलन था। हर साल सैंकड़ों स्त्रियाँ इस प्रकार अपने पति के साथ जल जाती थीं और इसमें उनकी इच्छा का विचार नहीं किया जाता था । अकबर ने इस बात को रोकने का प्रयास किया था पर वह भी सफल न हुआ । यह प्रथा चलती रही । पहिले तो अंग्रेजों ने अपने अफसरों को आदेश दिया कि समझा बुझाकर वे इस प्रथा को रोकें और बाद में १८१२ और १५ के कानून के अन्तर्गत छोटी बालिकाओं ओर गर्भवती स्त्रियों के सती हो जाने का निषेध हुआ और सती होने के लिये प्रेरित करना अपराध समझा गया। १८१७ में कुछ हिन्दुओं ने इसके बिरुद्ध सरकार से अपील की पर राजा राममोहन राय ने जनता से इस प्रथा को बन्द करने की अपील की । यह पूर्णतया सफल न हो सकी तो १८२९ में यह कानून पास कर दिया गया कि सती होने के लिये किसी को प्रेरित करना बड़ा अपराध है। कुछ लोगों ने इसका विरोध किया। राजा राममोहन राय ने बहुत से लोगों के हस्ताक्षर लेकर उनको बधाई पत्र दिया।

सामाजिक क्षेत्र में उसी समय में ठगी की प्रथा भी बहुत बढ़ गयी थी और उनका एक बड़ा गिरोह था। यह हिन्दू और मुसलमान दोनों सम्प्रदायों के थे और अपने को गुरू के उपासक घोषित करके यह सहयात्रियों को मार कर उनका सामान ले जाते थे। १८३१ और ३७ के बीच में इन ठगों

को पकड़ा गया और समाज में सुरक्षा स्थापित हुई। अंग्रेजों ने १८४३ में एक और कानून पास कर दास प्रथा का भी अन्त कर दिया। यह प्रथा संसार के बहुत से देशों में और बहुतकाल से प्रचलित थी और भारत में इसका निषेध होना वर्तमान युग को एक नयी बात थी। इन सामाजिक सुधारों से भारतीय सामाजिक क्षेत्र में एक नवीन जागृति हुई और नये वर्ग के लोगों ने अपने ढंग से पश्चिमी संस्कृति को भारतीय सामाजिक क्षेत्र में चलाना चाहा। इन्हीं के फलस्वरूप भारत में साहित्यिक और धार्मिक क्षेत्र में प्रगति हुई।

अंग्रेजी शिक्षा की ओर

जिस समय अंग्रेजों ने बंगाल का शासन प्रबन्ध अपने हाथ में ले लिया उस समय यहाँ पर ऊँची शिक्षा का अभाव था। उच्च वर्ग के लोग केवल संस्कृत या अरबी और फारसी के विद्वान थे और उनकी शिक्षा टोल और मदरसों में होती थी। उस समय में विज्ञान और दर्शन की ओर विशेष ध्यान न था। भारतीय पाश्चात्य शिक्षा और साहित्य से अनिभिज्ञ थे। आरम्भ में कम्पनी ने भारतीय शिक्षा और वह भी संस्कृति और फारसी की ओर विशेषतया ध्यान दिया। अंग्रेजी शिक्षा का प्रचार बहुत बाद में हुआ और इसका श्रेय भी सर्वप्रथम उन पादरियों को है जिन्होंने ईसाई स्कूल खोले और इंजील का अनुवाद देशी भाषाओं में हुआ। बाद बहुत में अंग्रेजी स्कूल खोले गये जिसका श्रेय राजा राममोहन राय इत्यादि को है। १८२३ तक इस विषय में सरकार की ओर से अधिक ध्यान नहीं दिया गया और अन्त में इस बात पर दो विचार दल भी हो गये जिनमें से एक प्राचीन शिक्षा प्रणाली का समर्थक था और दूसरा अंग्रेजी शिक्षा का। मेकाले की नियुक्ति से १८३५ में अंग्रेजी को भारतीय शिक्षा प्रणाली में स्थान देना स्वीकार किया गया। इसके बाद हारडिन्ज के समय में इसको और प्रोत्साहन मिला और भारतीयों को भी अच्छी शिक्षा प्राप्त करने और अच्छी नौकरी पाने का अधिकार मिल गया। इस शिक्षा से केवल उच्च वर्ग की जनता को ही

लाभ हुआ। साधारण जनता अभी भी अंधकार युग में थी। शिक्षा को बढ़ाने का श्रेय पादरियों को है जिन्होंने भारतीय शिक्षा क्षेत्र में बड़ी प्रगति दिखाई। इस शिक्षा में पढ़ाई पर अधिक जोर दिया गया। यद्यपि मिशनरी स्कूलों में धार्मिक शिक्षा अनवार्य कर दी थी पर सरकार के खुले स्कूलों में इसकी ओर ध्यान न था। अन्त में १८५४ में एक नवीन शिक्षा प्रणाली अपनाई गयी जिसके अन्तर्गत छोटे से स्कूलों से लेकर ऊँची शिक्षा केन्द्र तक विस्तृत करने के लिये धन दिया गया और हर एक प्रान्त में शिक्षा का विभाग भी खोला गया और तीन विश्वविद्यालय खोले गये जहाँ पर उच्च शिक्षा का प्रबन्ध था।

ईसाइयों का धार्मिक ओर

भारत में बहुत प्राचीन काल से ईसाई धर्म का आगमन हुआ। गान्डोफरनेस के समय में एक ईसाई जिसका नाम सेन्ट टामस था भारतवर्ष में आया और उसने सीरियन गिरजे की स्थापना की। ट्रावनकोर के सीरियन आज भी अपने को उसी समय से ईसाई मानते हैं इसके बाद बहुत काल तक ईसाई भारत में नहीं आये क्योंकि उनके आने का सामुद्रिक मार्ग था और स्थल मार्ग से आ नहीं सकते थे। अकबर के समय में कुछ ईसाई भारत में आये थे। पुर्तगालियों ने अपना यहाँ पर मिशन खोल लिया था और उनका ध्येय भारत में ईसाई धर्म को फैलाना था। एक हाथ में तलवार और दूसरे हाथ में क्रास लेकर वे यहाँ पर आये। यहाँ की दौलत देखकर उन्होंने दोनों हाथ खाली कर दिये और धन एकत्रित करना आरम्भ कर दिया जिससे वे आगे प्रगति नहीं कर सके। पुर्तगालियों के अतिरिक्त और भी विदेशी आये जिन्होंने ईसाई धर्म फैलाने का प्रयास किया। सूरत व्यापार का एक बड़ा केन्द्र था और वहाँ पर ईसाई पादरी रहते थे जो कि अपने धर्म का प्रचार करते थे। शिवाजी को इनके विरुद्ध कार्य-वाही करनी पड़ी। इधर पूर्व में इन ईसाइयों ने जब अपनी शक्ति बढ़ाना आरम्भ किया और जबर्दस्ती लोगों को ईसाई बनाने लगे तो जहाँगीर ने इसके खिलाफ कड़ी कार्यवाही की और उनको यहाँ से निकाल दिया।

अंग्रेजों ने इस विषय में जो नीति अपनाई वह विशेषतया उल्लेखनीय है। उनके विचार से धर्म और राजनीति को लेकर चलना घातक सिद्ध होगा। कम्पनी के डाइरेक्टरों ने यह बात मान ली कि अच्छे और शान्तिपूर्ण ढंग से हम भारत के लोगों को अपनी ओर खींच सकते हैं, अतः उन्होंने ईसाई पादरियों को प्रोत्साहन नही दिया । अंग्रेजों ने जिन प्रदेशों और रियासतों को जीता वहाँ धार्मिक नीति तथा सामाजिक परम्परा में हस्तक्षेप नहीं किया। लार्ड वेलेज़ली ने इस नीति के विरुद्ध कार्य आरम्भ किया और उसने श्रीरामपुर में एक गिरजे की स्थापना में अपने पास से बहुत सा धन दिया। उसके जाने के बाद सरकार की ईसाइयों के प्रति नीति पहिले की भाँति रही। विलायत में इस बात पर ज़ोर दिया जाने लगा कि यह आवश्यक है कि ईसाई धर्म फैलाने के लिये प्रोत्साहन दिया जाये, अन्यथा जब अंग्रेज यहाँ से चले जायेंगे तो उनकी कोई भी निशानी बाकी न रह जायेगी। १८१४ में कलकत्ते में पहिले विशप की नियुक्ति हुई और धीरें-धीरे ईसाई मत का जोर बढ़ने लगा। अब वह बगैर किसी प्रवेशपत्र के हिन्दुस्तान आ सकते थे और यहाँ पर अपना धर्म प्रचार कर सकते थे। १८२६ में एक जूरी कानून पास हुआ जिसके अन्तर्गत हिन्दू अथवा मुसलमान का मुकदमा यूरोपियन या देशी ईसाई जूरी कर सकती थी। लेकिन ईसाई का मुकदमाहिन्दुस्तानी नहीं कर सकते थे । १८३२ में एक और कानून पास हुआ जिसमें उन सब की रक्षा की गई जो ईसाई धर्म स्वीकार कर चुके थे। इन बिलों से जनता में घृणा और क्षोभ की भावना आ गई। १८४५ में यह कानून बम्बई में भी लागू कर दिया गया और १८५० में डलहौजी के समय में एक और कानून पास हुआ। इसके अन्तर्गत धर्म परिवर्तन करने पर मनुष्य का अपनी पैतृक सम्पत्ति में अधिकार नहीं जाता था। इस धार्मिक प्रचार ने भारत में अंग्रेजों के विरुद्ध यह भावना पैदा कर दी कि वे वास्तव में भारत में ईसाई धर्म अच्छी तरह से फैलाना चाहते हैं, और १८५७ के विप्लव का एक यह भी कारण हुआ।

भारतीय समाज में विदेशियों का स्थान

अंग्रेज तथा अन्य यूरोपियन अधिकतर अकेले ही आते थे क्योंकि सरकार की ओर से न तो उनको अपना कुटुम्ब रखने के लिए कोई भत्ता मिलता था और न इस बात की आवश्यकता ही पड़ती थी। आने का मार्ग कठिन था और भारत में इन विदेशियों का वेतन बहुत कम था, इसलिए जो विदेशी यहाँ आये उन्होंने यहाँ पर रह कर देशी स्त्रियों के साथ विवाह किया, और उनसे जो सन्तान उत्पन्न हुई वह एंग्लोइन्डियन या यूरोपियन के नाम से विख्यात हुई। इनका समाज में अपना स्थान था। न तो यह भारतीय समाज में प्रवेश कर सकते थे और न ये यूरोपियन समाज के अंग ही बन सकते थे। आरम्भ में अंग्रेजों ने इस बात की कोशिश की कि वे भारतियों के साथ उनके सामाजिक जीवन में भाग ले सकें पर इस भावना को रोक दिया गया, और यह आदेश दिया गया कि किसी प्रकार भी भारतीय और अंग्रेजी सामाजिक क्षेत्र में एक दूसरे से अधिक निकट सम्पर्क न स्थापित कर सके। आरम्भ में जो अंग्रेज आये उनमें से अधिकतर भारतवर्ष की संस्कृति और सभ्यता से बहुस प्रभावित हुए। यहाँ तक कहा जा सकता है कि बहुत से लोग गर्मी में भारतीय वेषभूषा भी धारण करते थे पर बाद में वे अपना बिलकुल पृथक् अस्तित्व रखने लगे। यह भावना सरकार के प्रति घातक सिद्ध हुई और उनके विचारों को भारतीय लोग संदेह की दृष्टि से देखने लगे।

यूरोपियनों के आने से भारतीय सांस्कृतिक क्षेत्र में उथल-पुथल मच गई। मुसलमान यहाँ पर आये वे यहाँ का अंग बन गये और भारतीय संस्कृति और समाज में उनको स्थान मिला पर यूरोपियन भारत को अपना देश न समझकर यहाँ पर केवल अधिकार जमाने के लिए आये थे। अतः इनको न तो भारत से प्रेम था और न वे यहाँ रहना ही चाहते थे। इसका प्रभाव यह हुआ कि यूरोपियन और भारतीय एक दूसरे से बहुत दूर रहे और आरम्भ की कुछ सद्भावना बाद में चलकर खत्म हो गई

और विद्रोह के बाद वे तो बिल्कुल ही एक दूसरे से अलग हो गये। विदेशियों के आगमन से मध्यम वर्ग के कुछ लोग शिक्षित अवश्य हुए, और उनकी विचारधारा बढ़ी। उन्होंने भारतीय सामाजिक क्षेत्र में प्रगति करने की चेष्टा की और इस बात का प्रयास किया कि पाश्चात्य विचारधाराओं का प्रवेश हो। इसमें कहाँ तक सफलता मिली यह आगे का इतिहास बतायेगा।

—:०:—

अध्याय २०

प्रथम स्वतंत्रता का युद्ध और भारतवर्ष में जागृति

१८५७ का ग़दर भारतीय इतिहास में महत्वपूर्ण घटना है। अंग्रेज इतिहासकारों ने इसको सिपाहियों का विद्रोह कहकर छोड़ दिया है। कुछ भारतीय इतिहासकारों के अनुसार इसको भारतीय स्वतंत्रता का पहिला युद्ध कहते हैं और इसको अधिक महत्व देते हैं, क्योंकि यह अंग्रेजी सरकार के प्रति विद्रोह की भावना का प्रतीक था। वास्तव में इतिहासकार के लिये यह कहना कठिन है कि यह स्वतंत्रता का युद्ध था क्योंकि इसमें जिन जिन शक्तियों ने भाग लिया उनका अंग्रेजों से व्यक्तिगत रूप से वैमनस्य था और उनमें बदला लेने की भावना सबके ऊपर थी। यह नहीं कहा जा सकता कि वे सब केवल एक ध्येय को लेकर आगे बढ़े थे और वह ध्येय भारत को अंग्रेजों के चंगुल से छुड़ाना था। इसीलिये यह विप्लव अधिक दिन तक नहीं चल सका और न इसमें सिख तथा गुरखों ने भाग लिया, वरन् उन्होंने विद्रोहियों को दबाया। अतः हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि बदलती हुई सामाजिक परिस्थिति के विपक्ष में यह एक आवाज़ थी जिसने वैमनस्य के कारण राजनैतिक रूप धारण कर लिया था। डल्हौजी की राज्यों को हड़प कर लेने की नीति से अंग्रेजी सरकार के प्रति घृणा और द्वेष की भावना फैल गई थी और इसमें हिन्दू और मुसलमान साथ थे। अवध के नवाब को यहाँ से हटाकर कलकते भेजना, उसके राज्य पर अधिकार करना, बाजीराव द्वितीय के पुत्र नानासाहब को पेन्शन न देना, झाँसी का राज्य लेना इत्यादि कृतियों ने अंग्रेजी सरकार के प्रति सन्देह उत्पन्न कर दिया और इन सभी ने अंग्रेजों के खिलाफ आवाज़ उठाने में एक दूसरे का सहयोग दिया। विद्रोहियों में मुख्यतया नानासाहब, तातियां टोपे, अजीमुल्ला, झाँसी की रानी लक्ष्मीबाई, तथा बिहार के कुंवर-

सिंह इत्यादि थे। बहुत से जमींदारों की भूमि भी अंग्रेजों ने ले ली थी जिससे यहाँ पर बेकारी की समस्या बढ़ी। सामाजिक क्षेत्र में पश्चिमी सभ्यता का प्रादुर्भाव भारतीयों के लिये हानिकारक समझा गया। पुराने रूढ़िवादी व्यक्तियों ने १८वीं और १९वीं शताब्दी के सती निषेध तथा अन्य कानूनों को अपने सामाजिक संस्कारों में हस्तक्षेप समझा। १८५६ में धार्मिक परिवर्तन और पैतृक सम्पति कानून पास हुआ। इसको जनता ने अंग्रेजों की एक चाल समझा जिसका उद्देश्य ईसाई धर्म को प्रोत्साहन देना था। इसके अतिरिक्त हिन्दू विधवाओं को पुनः विवाह करने की अनुमति देना भारतीय संस्कृति के विरुद्ध और विदेशी सभ्यता को बढ़ावा देने की भावना समझा गया। धार्मिक और सामाजिक क्षेत्र के सुधारों के अतिरिक्त जनता ने रेल और तार के महत्व को नहीं समझा और उन्हें इसमें भी कुछ चाल दीख पड़ी। लोगों ने विचारा कि इसके द्वारा वह सम्पूर्ण भारत पर कब्जा जमाये रखेंगे। ब्राह्मणों और मुसलमान मौलवियों ने भी जनता में अंग्रेजों के प्रति असंतोष की भावना फैलाई। इधर देश में आर्थिक परिस्थिति बिगड़ चुकी थी। भारतीय कपड़े का निर्यात रुक गया और विलायती कपड़े की खपत देश में की गयी। इससे भारतीय कारीगरों को बहुत धक्का पहुँचा और यह लोग वेकार और गरीब हो गये। नई संस्कृति के अन्तर्गत विलायती चीजों का भारत में प्रवेश और उनका उपयोग तथा आयात के नये साधन इत्यादि भारतवासियों को अच्छे न लगे। अन्त में इस असंतोष की भावना के साथ ही साथ इसके क्रियात्मक रूप देने के लिये सेना में उन कारतूसों का प्रयोग करना था जिसमें कहा जाता है कि सूअर और गाय के माँस की चरबी लगी हुयी थी, और इससे भारतीय सेना में सनसनी फैल गयी। इसने चिनगारी का काम किया।

विद्रोह का आरम्भ तथा अन्त

१० मई १८५७ में सर्वप्रथम मेरठ में विद्रोह हुआ जहाँ सिपाहियों ने कारतूसों का प्रयोग करने से इन्कार किया और अंग्रेजों ने इसके लिए उनको बाध्य किया। इसका परिणाम यह हुआ कि सिपाहियों ने विद्रोह

कर दिया जो शहर भर में फैल गया। यहाँ से विद्रोही दिल्ली की ओर बढ़े और वहाँ के सिपाही भी विद्रोहियों से मिल गये। बहादुरशाह को फिर से भारतवर्ष का सम्राट् घोषित कर दिया गया। यह विद्रोह पश्चिमी भारत और पंजाब की ओर नहीं फैल सका क्योंकि वहाँ पर अंग्रेजी सेना अधिक थी और बड़ी कुशलनीति से अंग्रेज अफसरों ने काम लिया। पूर्व में यह विद्रोह देहली, कानपुर, लखनऊ, और झाँसी तथा अन्य स्थानों में भी फैला, पर दक्षिण भारत में एक प्रकार से शाँति रही और इसीलिए अंग्रेजी सेना दक्षिण तथा पंजाब से इन विद्रोहियों को दबाने के लिए आ सकी। विद्रोहियों की असफलता का मुख्य कारण यह था कि उनका कोई ध्येय या आदर्श न था। कोई तो अपने पुराने वैमनस्य की भावना से उठ खड़ा हुआ था और कोई अपने अधिकारों की रक्षा चाहता था, और कोई धर्म की भावना लेकर लड़ा। उनमें कोई योग्य तथा कुशलनीतिज्ञ न था जो इन बिखरी हुई शक्तियों का संतुलन कर सकता। इसीलिए यह विद्रोह असफल हुआ पर इसने अंग्रेजों की आँखें खोल दीं, और अब कम्पनी के शासन के स्थान पर विक्टोरिया की घोषणा के अन्तर्गत भारत का शासन प्रबन्ध अंग्रेजी पार्लियामेन्ट के हाथ में चला गया, और मलिका भारत की सम्राज्ञी धोषित हुई। सारा पुराना प्रबन्ध बदल गया। इस बात का भी बचन दिया गया कि नयी सरकार सबके अधिकारों को सुरक्षित रखेगी तथा धार्मिक और सामाजिक मामलों में हस्तक्षेप नहीं करेगी। इसके अतिरिक्त सरकारी नौकरियों के मिलने में भी धर्म तथा जाति-पाँति इत्यादि का कोई भी विचार नहीं होगा। धार्मिक क्षेत्र में सरकार बिलकुल निष्पक्ष होकर रहेगी। अंग्रेजी साम्राज्य को बढ़ाना, भारतीय रियासतों को हड़प करने, और भारतीय जीवन में हस्तक्षेप करने की भावना का अन्त कर दिया गया।

विप्लव का प्रभाव

इस भारतीय विप्लव का एक और बड़ा प्रभाव हुआ, और वह यह था कि भारतीयों और अंग्रेजों के बीच में एक गहरी खाई पैदा हो गयी। अंग्रेजों

का भारतीयों के साथ सामाजिक सम्पर्क अब टूट गया और वे बिल्कुल अलग रहने लगे। उनके क्षेत्र में भारतीयों का प्रवेश बहिष्कृत था। भारतीयों ने इसे मान-हानि समझकर उसे पुनः प्राप्त करने का प्रयास किया। भारत-वर्ष में इस प्रकार से धार्मिक और सामाजिक क्षेत्र में दो तीन तरंगे बहने लगीं। एक मुख्यत: सामाजिक थी और इसके अन्तर्गत भारतीयों को केवल अपनी सामाजिक प्रतिष्ठा स्थापित करने की भावना थी। वे पाश्चात्य संस्कृति और सभ्यता से पूर्णतया लाभ उठाना चाहते थे और उच्च अंग्रेजी शिक्षा प्राप्त कर अपना स्तर ऊँचा करना चाहते थे। इन्होंने पाश्चात्य अंग्रेजी शिक्षा और ऊँची सरकारी नौकरियाँ प्राप्त करने के लिए प्रयत्न किया। राजनैतिक अधिकारों की भावना धीरे-धीरे जागृत हो रही थी और विप्लव से ३० वर्ष से कम समय में भारतीय राजनैतिक संस्था की स्थापना हुई। दूसरी ओर एक और लहर उठी जिसके अन्तर्गत भारतीय धार्मिक क्षेत्र में प्रगतिशील व्यक्ति हुए जिन्होंने इस बात को समझा कि वर्तमान युग आ गया है जिसमें रूढ़िवादी प्रवृत्तियों से काम न चलेगा वरन् समाज के धार्मिक अंग को नवीन परि-स्थिति के अनुसार बनाना पड़ेगा। इस प्रकार उस युग में बंगाल में ब्रह्म समाज, पंजाब में आर्य समाज, तथा महाराष्ट्र में प्रार्थना समाज नामक धार्मिक-सामाजिक संस्थायें प्रगतिशील होकर काम करने लगीं। इन पर आगे चल कर विचार किया जायेगा।

आर्थिक स्थिति—

१८५७ के राज्य विद्रोह के पश्चात् भारतीय आर्थिक क्षेत्र में भी प्रगति के लक्षण दिखाई पड़ने लगे। इसका मुख्य कारण यह था कि अब देश को एकता के सूत्र में बाँधने का प्रयास किया गया और रेल तार तथा डाक द्वारा यातायात के साधन सुलभ हो गये जिसके फलस्वरूप भारत के एक प्रान्त की उपज दूसरे भाग मे पहुँचायी जा सकती थी। इससे यह भी लाभ हुआ कि अब देश का कोई भाग अकाल से पीड़ित नहीं रह सकता था, क्योंकि दूसरे प्रान्त की उपज का फालतू भाग कमी वाले क्षेत्र में पहुँचाया जा सकता था। इसके अतिरिक्त १८६९ में स्वेज नहर खोली गयी और

भारत का यूरोप के साथ व्यापारिक सम्बन्ध और दृढ़ हो गया। भारत का माल यूरोप तथा इंगलैंड की मंडियों में पहुँचाया जा सकता था और विदेशियों के साथ व्यापार करने से बड़ा लाभ हुआ। इस युग में एक और आर्थिक प्रगति यह हुई कि नगरों और ग्रामो के बीच आर्थिक सम्बन्ध स्थापित हो गये जिससे उपज नगरों में लाई जा सकती थी और किसानों को अधिक मुनाफा मिल सकता था। पूँजी के लिये यूरोपियनों ने भारत में बैंक स्थापित किये; और १८६० में बंगाल, बम्बई तथा मद्रास में बैंक स्थापित हुये जिनमें बम्बई को छोड़कर, जहाँ पारसियों का कुछ थोड़ा सा हाथ था, बाकी सब यूरोपियनों के अधिकार में थे। इन बैंकों ने विदेशी व्यापार के लिये पूंजी देकर प्रोत्साहन दिया और इससे बड़ा लाभ भी उठाया। जिस समय अमरीका में गृह युद्ध हो रहा था तो इन्हीं भारतीय पूंजीपतियों ने लंकाशायर के साथ कपास और रुई बेचकर बहुत लाभ उठाया। विदेशियों ने अन्य उद्योगों में भी भाग लिया और नये कारखाने खोलने शुरू किये। जैसे बंगाल में जूट की मिलें खोली गयी और बम्बई, अहमदाबाद, कानपुर, मद्रास तथा नागपुर में बड़ी-बड़ी कपड़े की मिलें खोली गयीं। इनके अतिरिक्त खानों का काम भी यूरोपियनों ने अपने हाथ में लिया और कोयले की खान जिसके लिये बिहार प्रसिद्ध है यूरोपियनों के द्वारा चलायी गयी। कुछ अन्य उद्योग भी लोगों ने अपने हाथ में लिये, जैसे चाय, काफी तथा नील का। यूरोपियनों की पूँजी लगती थी और भारतीय बहुत सस्ती मजदूरी पर काम करते थे। इसके फलस्वरूप यूरोपियन व्यापारी भारत से अधिक से अधिक लाभ उठाते थे और यहाँ से पैसा खींचते थे। मजदूरों की परिस्थिति अच्छी न थी। उनको यह लोग कर्ज देकर इस बात पर बाध्य करते थे कि वे अपनी उपज का अधिक भाग उनके हाथ बहुत सस्ते दामों पर दें।

भारत में एक दूसरी समस्या यहाँ की बढ़ती हुई जन संख्या की थी। १८८१ में सबसे पहिले जनगणना हुई। इस बढ़ती हुई आबादी और दूसरी ओर अकाल इत्यादि को रोकने का परिणाम यह हुआ कि भारत की जनसंख्या तेजी से बढ़ने लगी। यहाँ की बेकारी तथा विदेश में अधिक मजदूरी

मिलने से कुछ लोग तो सीलोन चले गये तथा कुछ बर्मा तथा मलाया में जाकर मज़दूरी करने लगे और बहुत से भारत से बाहर दक्षिण अफ्रीका, ब्रिटिश गियाना तथा ट्रिनीदाड इत्यादि देशों में गये। यद्यपि उस समय में मजदूर दास प्रथा बंद हो चुकी थी फिर भी यह लोग पैसा लेकर एक नियमित समय के लिये देश से बाहर जाते थे और अधिकतर वहीं रह जाते थे। इस प्रकार देश से बाहर जाकर भारत की बढ़ती हुई जनसंख्या में कुछ कमी हो गई और उनकी बेकारी का प्रश्न भी हल हो गया पर यह कमी बहुत सूक्ष्म थी। भारत में किसानो की परिस्थिति भी अच्छी न थी। वह अपनी उपज को बेचकर फायदा उठा सकता था, पर गाँव में एक ओर तो महाजन था जो अधिक सूद पर किसानों को कर्ज़ देता था और दूसरी ओर वह जमींदार था जो किसानों को बेदखल कराकर उसकी भूमि से अपना लाभ उठाना चाहता था। इस कारण से ग्रामीण क्षेत्र में भी जटिल समस्या पैदा हो गई और किसान की दशा सुधर न सकी।

इनके अतिरिक्त इस युग में कुछ नये धंधे भी निकले। विदेशी शिक्षा ने भारत में एक ओर तो अंग्रेजी शिक्षक और दूसरी ओर वकालत का पेशा करने वालों को जन्म दिया। वकालत का पेशा कम्पनी के समय से प्रचलित था और बाद में इसको स्थायी रूप दिया गया; और पड़े-लिखे वकील अधिक धन कमाने लगे। इस कारणवश मध्यम श्रेणी के पढ़े-लिखे व्यक्ति या तो सरकारी नौकरियों में जाते थे अन्यथा वह वकालत का पेशा करते थे। इन्हीं वकीलों और शिक्षकों ने देश में राजनैतिक और सामाजिक उत्थान की भावना का बीज बोया जिसकी हम आगे विवेचना करेंगे।

सामाजिक तथा धार्मिक क्षेत्र में प्रगति

कम्पनी के शासन के पश्चात् भारत में एकीकरण की भावना जागृति हुई। इसका मुख्य कारण अंग्रेजों और भारतीयों का शासन में भाग लेना था। भारतीय विद्यार्थियों ने पाश्चात्य देश की नवीन संस्कृति, विज्ञान तथा

इतिहास के अध्ययन से अपने देश के प्रति वह भावना जागृति कर दी जिसका मध्य विक्टोरिया युग में यूरोप में बोलबाला था। धीरे धीरे भारतीय विद्यार्थी अपने क्षेत्र में आगे बढ़ने लगे और कुछ तो उच्च शिक्षा के लिये विलायत भी गये। उस समय में भारतीयों के लिये समुद्रिक यात्रा का निषेध था फिर भी कुछ ही विद्यार्थी ऐसे थे जो उच्च शिक्षा प्राप्त करने के लिये इतना धन खर्च कर वहां जाते थे। पहिले तो यह विद्यार्थी अपने धर्म के कारण इंगलैंड के प्रमुख विश्वविद्यालयों में भरती नहीं हो सकते थे पर बाद में यह नियंत्रण हटा दिया गया और वह वहाँ जाने लगे। वहाँ पर उच्च शिक्षा प्राप्त कर या तो भारतीय विद्यार्थियों ने शासन सम्बन्धी उच्च नौकरियाँ प्राप्त की, अन्यथा बैरिस्टर इत्यादि होकर वह भारत लौटें, और उन्होंने भारत में उस विस्तृत दृष्टिकोण को फैलाना चाहा जिसके अन्तर्गत मनुष्य को अपने विचार प्रदर्शन की धार्मिक तथा सामाजिक क्षेत्र में पूर्ण स्वतन्त्रता हो। यह पहिले ही कहा जा चुका है कि भारत की कट्टर रूढ़िवादी प्रवृतियों और पाश्चात्य विस्तृत दृष्टिकोण के बीच संघर्ष आरम्भ हो गया था तथा इस कारण वश सामाजिक क्षेत्र में भी उथल पुथल मची। बंगाल में राजा राम मोहन राय ने सर्वप्रथम हिन्दुओं की सती प्रथा के विरुद्ध आवाज़ उठाई और उन्होंने भारत में अंग्रेजी शिक्षा के प्रचार के लिये बड़ा उद्योग किया। राजा राम मोहन राय के बनाये हुये ब्रह्म समाज को बढ़ाया गया और यह संस्था भारत के अन्य प्रान्तों में भी फैली। यह एक सामाजिक और धार्मिक क्षेत्र में प्रगतिशील संस्था थी जिसका उद्देश्य यह था कि जातिपांति का भेद न रखा जाये और धर्म में मूर्ति पूजा के स्थान पर उस भक्ति भावना को स्थान दिया जाये जो चैतन्य और ईसामसीह की शिक्षा में मिलती है। इस संस्था में बहुत से विद्वान सम्मिलित हुए और उन्होंने इसको आगे बढ़ाने का प्रयास किया। यह लोग ब्रह्म समाजी होते हुये भी अपने को हिन्दू समाज से अलग नहीं समझते थे, यद्यपि वे अन्तर्जातीय और विधवा विवाह के पक्षपाती थे। केशव चन्द्र सेन और देवेन्द्र नाथ टैगोर में पारस्परिक विरोध के कारण १८६५ में यह संस्था दो भागों में बँट गयी जिसमें एक ओर तो पुरानी प्रणाली के व्यक्ति थे और

वे हिन्दू समाज से अपना प्रथम असितत्व नहीं रखना चाहते थे और दूसरी ओर प्रगतिशील व्यक्ति थे। इसके बाद इस समाज में फिर संघर्ष हुआ और आगे चलकर यह कई भागों में बँट गया।

केशवचन्द्र सेन की संरक्षता में ब्रह्म समाज ने बहुत ही उन्नति की। उन्होंने बंगाल से बाहर भी कई स्थानों में ब्रह्म समाज मन्दिर स्थापित किये। स्त्रियों को भी सदस्य होने की स्वतंत्रता थी और स्त्रियों को समाज का अंग मानकर उनको बराबर स्थान देने का प्रयास किया गया। इस ब्रह्म समाज के कारण बालविवाह और बहुविवाह प्रथा बंद कर दी गयी और विधवाओं का विवाह और अंतर्जातीय विवाह कानून भी पास हुआ। इन्होंने वैष्णवों की भाँति संकीर्तन किया और केशव चन्द्र सेन को चैतन्य की भाँति बड़ा उच्च स्थान मिला। मूर्ति पूजा को लेकर तथा कुछ अन्य कारणों से समाज में दो विचारधाराएँ हो गई। केशव ने अपनी १४ वर्षीय पुत्री का विवाह कूच-बिहार के महाराज के साथ किया, जिससे समाज के दो अंग हो गये। उग्र दल वालों ने साधारण ब्रह्म समाज का निर्माण किया और यही आगे बढ़ते रही। केशव की ब्रह्म समाज पीछे रह गयी। ब्रह्म समाजने बंगाल में सामाजिक क्षेत्र में स्त्रियों का उत्थान, जाति पांति की कुरीतियों को दूर करना तथा बालविवाह निषेध इत्यादि सामाजिक सुधार किये जिससे बंगाली समाज का बहुत कुछ वातावरण बदल गया।

बंगाल की भाँति महाराष्ट्र में भी नवीन विचारधारा के लोगों ने इसी प्रकार की एक संस्था स्थापित की जो प्रार्थना समाज के नाम से चली। पश्चिमी भारत में समाज में सुधार करने का श्रेय इस प्रार्थना समाज को है। इसने अनाथालय और रात्रि स्कूल, विधवा सदन तथा परिगणित जाति के उत्थान के लिये क्रियात्मक कार्य किया। प्रार्थना समाज में न्याया-धीश राणाडे का बहुत बड़ा हाथ था और उन्होंने अपना जीवन इसकी उन्नति के लिये लगा दिया। दक्षिण में एक शिक्षा समिति भी बनी जिसके अन्तर्गत उच्च शिक्षा के लिये कालेज खोले गये। रानाडे के कारण सामा-जिक और राजनैतिक क्षेत्र में नयी विचारधारायें फैली। ब्रह्म समाज और

प्रार्थना समाज ने भारत के सामाजिक क्षेत्र में जागृति पैदा कर दी, और हिन्दू धर्म जो मुगल काल में मुसलमान शासकों की धार्मिक नीति के फलस्वरूप दबा हुआ था अब फिर फलने फूलने लगा। इसने एक दूसरा रूपधारण किया जिसके अन्तर्गत प्राचीन गौरव, संस्कृति और मातृभूमि के प्रति विशेष श्रद्धा की भावना उत्पन्न हुई।

बंगाल में एक और महान व्यक्ति हुआ जिसने सन्यासी के रूप में हिन्दू संस्कृति और सभ्यता को देश बाहर के पाश्चात्य देशों में फैलाया। यह स्वामी विवेकानन्द थे जो बंगाल के एक शिक्षित व्यक्ति थे और उन्होंने स्वामी रामकृष्ण से दीक्षा ली थी। १८८६ ई० उनकी मृत्यु के पश्चात् उन्होंने घूम घूम कर हिन्दू धर्म, भारतीय संस्कृति और भारत के वेदान्त दर्शन को पश्चिमी संसार के सामने रक्खा। उनके व्याख्यानों में देश भक्ति और हिन्दू धर्म को श्रेष्ट स्थान दिलाने की भावना झलकती थी। उनके अनुसार सामाजिक स्तर में भी ऊँच नीच का भाव नहीं होना चाहिये। वह उस धर्म को ढोंग समझते थे जो विधवा की आशा को दूर न कर सके और अनाथों को आश्रय न दे सके। अमरीका में उनके विश्व धार्मिक सम्मेलन में दिये गये भाषणों ने विदेशियो में भारतीय दर्शन और संस्कृति के प्रति दृढ़ता और आदर की भावना उत्पन्न कर दी, और भारतीयों को अपनी संस्कृति पर गर्व होने लगा। इसका परिणाम यह हुआ कि विदेशों में भारतीय संस्कृति के अध्ययन के लिये लोगों में विशेष रुचि हुई। अमरीका में रामकृष्ण मिशन की ओर से संस्थाएँ खोली गयी जहाँ पर वेदान्त का अध्ययन होने लगा और इसमें अमरीकी भी सम्मिलित हुए। एक थियोसाफिकल सभा भी भारतीय संस्कृति का पाश्चात्य ढंग से अध्ययन करने लिये बनाई गई जिसका नेतृत्व श्रीमती ब्लोवाटस्की तथा कर्नल ओलकोट ने किया और बाद में श्रीमती एनीबेसेंट ने भारत में आकर इसको बढ़ाया।

इसी समय पंजाब से एक नयी शाखा निकली जो आर्य समाज के नाम से प्रसिद्ध है। इसका श्रेय दयानन्द सरस्वती को है जो संस्कृत के बहुत बड़े विद्वान थे। उन्होंने अंग्रेजी शिक्षा नहीं पायी थी, केवल वेदों को ही भारतीय संस्कृति का सार माना और इन्होंने हिन्दू समाज में एक नवीन स्फूर्ति डाली

जिसके अन्तर्गत जाति पांति का भेद तोड़ा गया। मूर्ति पूजा का निषेध हुआ और अन्य धर्मवालों को भी शुद्ध कर समाज में मिलाया गया। हिन्दू धर्म के लिये यद्यपि यह कोई नवीन बात न थी पर उस युग में दूसरे धर्मों में परिवर्तित हिन्दुओं को पुनः अपने धर्म में प्रवेश कराने का इस संस्था ने बीड़ा उठाया, और इस कार्य में इसे सफलता भी मिली। आर्य समाज ने हिन्दू देवी देवताओं की उपासना का निषेध कर भूल की। इनका सनातनियों से भी संघर्ष हुआ और दयानन्द की मृत्यु के बाद उनके शिष्यों मैं लाला हंसराज, लाला लाजपतराय और स्वामी श्रद्धानन्द ने इस कार्य को बढ़ाया। लाला हंसराज ने शिक्षा की ओर घ्यान दिया और लाहौर भें दयानन्द के नाम से एक कालेज खोला, और इसी प्रकार से आर्य समाज ने बहुत से अंग्रेजी शिक्षा से सम्वन्धित विद्यालय खोले। हरिद्वार में गुरुकुल भी खोला गया जहाँ पर प्राचीन शिक्षा प्रणाली के अन्तर्गत शिक्षा दी जाने लगी। समाज का ज़ोर अधिकतर पंजाब में रहा और इसने वहाँ पर ब्रह्म समाज को लुप्त कर दिया। हिन्दू धर्म में जागृति पैदा करने का श्रेय ब्रह्म समाज, देव समाज प्रार्थना समाज, तथा आर्य समाज को है, और इसके कारण सामाजिक क्षेत्र में बहुत से सुधार हुए। धार्मिक दृष्टिकोण से हिन्दू धर्म को नया रूप प्रदान किया गया, और साँस्कृतिक दृष्टिकोण से भारत और भारत से बाहर इस धर्म को आदर का स्थान मिला। विस्तृत दृष्टिकोण होने के कारण और शिक्षा से पूर्ण लाभ उठाकर हिन्दुओं ने देश में राजनैतिक जागृति भी उत्पन्न कर दी और इसको न तो अंग्रेज सहन कर सके और न मुसलमान ही अपने को पीछे रख सके।

मुसलमानों में सर सैयदअहमद खाँ का नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय है। उन्होंने मुसलमान समाज में एक जागृति उत्पन्न कीऔर उनको भारतीय समाज में अपना स्थान प्राप्त करने के लिये बाध्य किया। १८५७ के विप्लव के बाद मुसलमान सन्देह की दृष्टि से देखे जाते थे ओर उनको सरकारी नौकरियां भी कम मिलती थी इधर हिन्दुओं की सामाजिक और राजनैतिक क्षेत्र में उठती हुई स्थिति से इनके हृदय में यह भावना दृढ़ हो

गयी कि उनको अपना यथेष्ट स्थान प्राप्त न हो सकेगा। अतः उन्होंने सर्वप्रथम अंग्रेजों के सामने यह दृष्टिकोण रखना शुरू किया कि मुसलमान अंग्रेजों के शत्रु नहीं हैं। कुछ अंग्रेजों ने भी मुसलमानों के प्रति समझ बूझ की नीति अपनाने की अपील की। सर सैयद अहमद ने मुसलमानों की शिक्षा की ओर भी ध्यान दिया, और १८७५ में अलीगढ़ में इनकी शिक्षा के लिये एक कालेज खोला गया जिसका भार एक अंग्रेज को सौप कर अंग्रेजों के साथ सद्भाव और मैत्री की भावना प्रदर्शित की गयी। इससे एक ओर तो अंग्रेजों और मुसलमानों के बीच की खायी धीरे-धीरे कम होने लगी और दूसरी ओर मुसलमान भी अंग्रेजी शिक्षा से लाभ उठाने लगे। सर सैयद अहमद ने मुसलमानों को राजनीति से अलग रहने का आदेश दिया क्योंकि वह पहले इनको संगठित करना चाहते थे। कुछ उग्र विचार वाले मुसलमान नवयुवकों ने भारत के बाहर विदेशी मुसलमान शक्तियों से सहानुभूति प्रगट की और वे कुसतुनतुनिया और काहिरा तथा अन्य मुसलमान राजधानियों की ओर आशा पूर्ण दृष्टि से देखने लगे। पुरानी विचारधारा के लोगों में मुख्यता वे थे जो कि या तो जमीदार थे या उच्च वणिक्, तथा अंग्रेजों के पूर्णतया हिमायती थे। दोनों विचारधाराओं के लोगों में एक प्रकार का संघर्ष होना स्वाभाविक था। अंग्रेजों ने नर्म दल वालों को प्रोत्साहन दिया तथा कुछ अंग्रेजी सिविलियनों के आदेश पर इन मुसलमानों ने अपना पृथक् अस्तित्व स्थापित रखने का प्रयास किया और आगे चलकर मिन्टो मार्ले सुधार के अन्तर्गत इनको अपने प्रतिनिधि चुनने का अधिकार मिल गया।

राजनीतिक जागृति

पाश्चात्य संस्कृति और उसका प्रभाव भारतीय राजनीतिक क्षेत्र में विशेष रूप से पड़ा। पढ़े लिखे हिन्दुओं ने इस बात को आवश्यक समझा कि सामाजिक सुधार के साथ साथ देश की राजनीतिक परिस्थित में भी कुछ अदल बदल होनी चाहिये। वे इस युग में पूर्ण रूप से अंग्रेजों से स्वतंत्र होने के मंसूबे नहीं देख रहे थे, पर उनके हृदय में यह भावना अवश्य

उत्पन्न हो रही थी कि वे भी भारतीय शासन प्रबन्ध में भाग ले सकें। इन पढ़े लिखे व्यक्तियों ने, जिनमें मुख्यता मध्य वर्ग के लोग थे, अब आपस में विचार विनिमय करने के एक लिये संस्था स्थापित करना अनिवार्य समझा। १८७६ में सुरेन्द्रनाथ बनर्जी ने कलकत्ते में एक भारतीय संस्था खोली जिसका ध्येय भारत में एकता स्थापित करना था, और इसमें अधिकतर मध्यवर्ग के लोग थे। बनर्जी स्वयं भारतीय सिविल सर्विस से हटा दिये गये थे और इसी समय में भारतीयों को उसमें न आने के लिये प्रवेश आयु २१ से घटाकर १६ वर्ष कर दी गयी थी। इससे भारत में अंग्रेजी सरकार की इस नीति की बड़ी आलोचना की गई और जगह-जगह पर सुरेन्द्रनाथ बनर्जी ने जाकर भाषण दिया। इसी समय में लार्ड लिटन की सरकार ने हथियार रखने, तथा भारतीय पत्र प्रकाशन पर बंधन लगा दिया जिसको लेकर अंग्रेजी सरकार के विरुद्ध भारतीय जनता में क्षोभ फैला। ऐलेन ह्यूम नामक एक उदार अंग्रेज ने जो कि सिविल सर्विस में रह चुके थे, कलकत्ता विश्वविद्यालय के स्नातकों से इस बात की अपील की कि भारत का सामाजिक और राजनैतिक उत्थान करने का वह प्रयास करें। १८८५ में वमेशचन्द्र बनर्जी की अध्यक्षता में बम्बई में सर्वप्रथम भारतीय राष्ट्र संस्था की बैठक हुई और इसका दूसरा अधिवेशन कलकत्ते में हुआ। देश में एकता और राजनैतिक सुधार के अधिकार की भावना धीरे-धीरे ज़ोर पकड़ने लगी। इस संस्था का भार अभी भी केवल उन मध्यम श्रेणी के व्यक्तियों पर था जो विचार विनिमय के लिये बड़े दिन की छुट्टी में एक साथ मिल लेते थे और सरकार से इस बात की अपील करते थे कि उनको शासन व्यवस्था में भाग लेने दिया जाये और उच्च नौकरियों भी दी जावें। १९वीं शताब्दी के अंतिम पग में भारतीय राजनैतिक जागृति में ह्यूम के अतिरिक्त लार्ड रिपन को भी श्रेय है, और कुछ विद्वानों का तो कहना है कि भारतीय राष्ट्रीय संस्था की स्थापना में उनका भी हाथ था। इस युग में भारतीयों ने अंग्रेजी और देशी भाषाओं में पत्र निकालना भी आरम्भ किया, और राजनीतिक क्षेत्र में वे धीरे-धीरे टीका टिप्पणी भी करने लगे। पत्रों में 'अमृत

बाजार पत्रिका', मद्रास का 'हिन्दू', तथा लाहौर का 'ट्रिब्यून' विशेषतया उल्लेखनीय हैं। इस युग के महान व्यक्तियों में हम वमेश चन्द्र बनर्जी, दादा भाई नौरोजी, फीरोज शाह मेहता, सुरेन्द्रनाथ बनर्जी, रमेशचन्द्र दत्त, तथा मोती लाल घोष को रख सकते हैं, जिन्होंने भारत को राजनीतिक क्षेत्र में आगे बढ़ने का प्रयास किया। अगला युग उदार दल वालों का है जिन्होंने अपने दृष्टिकोण से भारत की राजनीति में काम करना चाहा।

अध्याय २१
राजनैतिक जागृति से गाँधी युग तक

१८८५ में बम्बई भारतीय राष्ट्रीय काँग्रेस का जन्म हुआ। यह एक विशेष तिथि है। इसी समय से भारतीयों ने राजनीति में भाग लेने का संकल्प उठाया। यद्यपि प्राचीन भारत में गणतंत्रवाद के चिह्न पाये जाते हैं और ऋगवेद में भी 'सभा' और 'समिति' का उल्लेख है, पर भारतीय इतिहास में जनतंत्रवाद की इस भावना का लोप हो चुका था और राज्य सत्ता के आगे इसका कोई अस्तित्व नहीं रह गया था। उनके लिये राजनीति में भाग लेना सम्राट् के प्रति विद्रोह था। सम्राट् को कुछ व्यक्ति परामर्श अवश्य देते थे और अन्त के मुगल सम्राट् तो उन्हीं के हाथों की कठपुतली बन गये थे। अंग्रेजों ने भारत पर जिस समय अधिकार किया तो उनकी नीति लीडेनहाल स्ट्रीट से निकलती थी और भारतीयों का उसमें कोई हाथ न थी। जनता को कुछ थोड़ी सी स्वतंत्रता मिली हुई थी लेकिन १८७८ के कानून के अन्तर्गत वह भी छीन ली गई। १८८५ की काँग्रेस ने दो बातों को लेकर जन्म लिया। एक तो सरकारी संसदों में भारतीयों का प्रतिनिधित्व मिलना और दूसरे सिविल सर्विस के लिये भारत में भी परीक्षा होना, जिससे हिन्दुतानी उसमें बैठ सकें। इस समय काँग्रेस में केवल उदार दल वाले मध्यम श्रेणी के नागरिक थे। यह मुख्यतया हिन्दू थे पर कुछ पारसियों और बहुत ही अल्प संख्या में मुसलमानों ने इसमें भाग लिया। इसका कारण यह था कि मुसलमानों के हृदय में इस बात का डर था कि राजनीति में सम्मिलित होकर वह कहीं अंग्रेजों का रोष न प्राप्त करें। मुसलमानों ने सर सैयद अहमद के वेतृत्व में एक नई संस्था बनाई जिसका ध्येय मुसलमानों के प्रति सहानुभूति पैदा करना और अंग्रेज़ी शिक्षा से पूर्णतया लाभ उठाना था। भारतीय राष्ट्रीय काँग्रेस एकीकरण की

भावना से पैदा हुई थी और उसमें प्रान्तीय अथवा जातीयता का स्थान न था। आरंभ में कुछ उदार वादी अंग्रेजों ने भी, जैसे ह्यूम, बेडरवर्न इत्यादि, इस संस्था को सहयोग दिया।

उग्रनीति की ओर

काँग्रेस में पहिले तो सामाजिक और राजनीतिक विषयों पर विचार होने लगा किन्तु बाद में सामाजिक विषयों को अलग कर केवल राजनीतिक प्रश्नों पर ही विवेचना होने लगी और वह भी संविधान के अन्तर्गत ब्रिटिश सरकार से सहयोग प्राप्त कर भारतीयों को धीरे-धीरे शासन प्रणाली में भाग लेने का अधिकार दिलाना था। १९वीं शताब्दी के अंत में इस राजनीतिक संस्था में एक उग्र दल का जन्म हुआ जिसका ध्येय स्वराज्य प्राप्त कराना था और वह ब्रिटिश साम्राज्य के अन्तर्गत अपने देश की बागडोर अपने हाथों में लेना चाहता था। अंग्रेजी सरकार को भारतीय राजनीतिक जागृति अब खटकने लगी, और कर्जन ने इस बात का प्रयास किया कि इस संस्था को नष्ट किया जाये। बंगाल का विभाजन इसी नीति को दृष्टि में रखकर किया गया था, क्योंकि कर्जन का विचार था कि अंग्रेजी शिक्षा प्राप्त कर बंगाली ही अंग्रेजी सरकार के शत्रु हैं और उनसे उग्र दल वालों की संख्या बढ रही है। अतः उनकी शक्ति को कम करने के लिये विभाजन आवश्यक था, पर इसका परिणाम उलटा हुआ। देश में उग्र दल की ओर से क्रान्ति की लहर दौड़ी, तथा कुछ अंग्रेजों की हत्यायें भी हुई, और मुजफ्फरपुर में चाकी तथा खुदीराम ने बम फेंककर एक नये शस्त्र के प्रयोग का प्रदर्शन किया। इसका फल यह हुआ कि अंग्रेजों ने बड़ी सख्ती की नीति से काम लिया पर आग इतनी भड़क चुकी थी कि इसको बुझाना इतना आसान न था। इसी बीच में जापान द्वारा रूस की पराजय ने भी लोगों के हृदय में एशियाई शक्ति की प्रबलता की भावना डाल दी और लोगों को यह विश्वास हो गया कि संगठन से बड़ी शक्ति को भी हराया जा सकता है। बंगाल के विभाजन से जो परिस्थिति

उत्पन्न हो गयी थी उसके अन्तर्गत बंगालियों के अतिरिक्त महाराष्ट्र के लोगों ने भाग लिया। इस नवीन जागृति के कर्णधार बालगंगाधर तिलक थे। पुराने युग के राजनीतिज्ञों में गोपालकृष्ण गोखले उदार दल वाले थे, और दादा भाई नौरोजी ऐसे वयोवृद्ध, जिनकी सब लोग इज्जत करते थे, ने उग्र दल और उदार दल के बीच की खाई को बढ़ने से रोकना चाहा। १६०७ में सूरत की कांग्रेस में पहिली बार इन दोनों दलों में संघर्ष हुआ। यद्यपि उदार दल वालों की जीत हुई पर इसका परिणाम काँग्रेस के लिये हानिकर हुआ। इस संस्था का बहुत कुछ प्रभुत्व जाता रहा क्योंकि लोग अब पुरानी नीति के अपनाने के पक्ष में न थे। कुछ मुसलमानों ने अंग्रेजों के प्रोत्साहन से काँग्रेस के विरुद्ध मुसलिम लीग नामक अपनी अलग संस्था खोली जिसका ध्येय राजनीतिक क्षेत्र में मुसलमानों का पृथक् चुनाव और स्थान माँगना था। ऐसी मांग देश की राजनीतिक एकता के लिये घातक सिद्ध हुई। अंग्रेजी सरकार ने मिन्टो मार्ले सुधार के अन्तर्गत मुसलमानों के पृथक प्रतिनिधि चुनने की मांग स्वीकार कर ली और मुसलमानों के भिन्न अस्तित्व का बीज बो दिया गया।

राजनीतिक सुझाव

इस बीच में १६१४ में यूरोप में महायुद्ध छिड़ गया और तुर्की, जो मुसलमानों का एक देश है, जर्मनी की ओर से लड़ा। अतः मुसलमानों का अंग्रेजों के विरुद्ध होना स्वाभाविक था। मुसलमान हृदय से अंग्रेजों के विरुद्ध थे पर जनता में वह राजनीतिक भावना न थी जिसके फलस्वरूप वह अपनी आवाज़ उठा सकते। मुसलिम लीग के जो हिमायती थे वे सरकार के पिठ्ठू थे। राष्ट्रवादी मुसलमानों में मौलाना अब्बुलकलाम आजाद और मौलाना मोहम्मद अली ने अपने पत्र 'अलाहिलाल' और 'काम्रेड' में मुसलमानों के हृदय में राष्ट्रीय भावना को संचारित करना चाहा, पर इनके पत्र अधिक समय तक न चल सके। यह थोड़े समय बाद बन्द कर दिये गये। इस लड़ाई के समय में हिन्दू मुसलमान एक दूसरे के निकट

आने लगे। मुसलिम लीग संस्था में भी ऐसे व्यक्ति आ गये जो वास्तव में मुसलमान संस्था क लिये कुछ करना चाहते थे; और अंग्रेजों के विरुद्ध भावना ने हिन्दू और मुसलमान दोनों को एक दूसरे के निकट किया। १९१६ में लखनऊ में कांग्रेस और मुसलिम लीग दोनों के अधिवेशन हुये और इन दोनों के बीच समझौते हुये जो लखनऊ पैक्ट के नाम से प्रसिद्ध हैं। इनके अन्तर्गत काँग्रेस ने मुसलमानों के लिये पृथक् चुनाव प्रणाली को मान लिया और ऐतिहासिक दृष्टिकोण से यह सबसे बड़ी भूल थी जिसके लिये उसको बहुत बड़ी कीमत अदा करनी पड़ी। १९१८ में युद्ध समाप्त हुआ और वर्सेल सन्धि पत्र पर भारत के प्रतिनिधियों ने भी हस्ताक्षर किये। मिन्टो मार्ले सुधार के अन्तर्गत भारतीय प्रान्तों में नई संसदें बनाई गईं जिनमें चुने गये व्यक्ति अधिक होते थे और इन प्रान्तों में भारतीय मन्त्री भी नियुक्त हुये तथा द्विभागीय शासन प्रणाली स्थापित हुई। केन्द्र में भी तीन भारतीय गवर्नर जनरल की कौन्सिल के सदस्य हुये। नवीन सुधारों ने भारतीयों के हृदय में कोई स्फूर्ति नहीं पैदा की क्योंकि प्रान्तीय सरकारों में केवल कृपा पात्र ही मन्त्री बने। काँग्रेस और मुसलिम लीग के आन्दोलनों ने अंग्रेजों के हृदय में यह भावना डाल दी कि इन दोनों का एक दूसरे के निकट होना ठीक नहीं है। तुर्की के विपक्ष अंग्रेजों की नीति से भारतीय मुसलमानों के हृदय में क्षोभ पैदा हो गया था और तुर्की के खलीफा को पुनः स्थापित करने के लिये एक खिलाफत पार्टी बनी जिसने काँग्रेस के साथ सहयोग कर अंग्रेजों के विरुद्ध नारा लगाया। तुर्की की परिस्थिति कमालपाशा के आधिपत्य में ठीक हो चुकी थी और खिलाफत आन्दोलन १९२३ में स्वयं रुक गया।

गांधी जी का प्रवेश-प्रथम चरण

इसी समय भारतीय राजनीति में एक महान व्यक्ति का प्रवेश होता है जिसका नाम मोहनदास करमचन्द गाँधी था और उसने यहाँ की राजनीति को एक नवीन स्वरूप देना चाहा। दक्षिण अफ्रीका में जाति पाँति के विरुद्ध

गाँधी जी ने सत्यागृह किया था और उनको सफलता भी मिली थी। जिस समय वह भारत में आये तो यहाँ की परिस्थिति उनके विचारों के प्रतिकूल थी। भारत की राजनीति में उदार दल वालों की प्रधानता थी। तिलक को ६ वर्ष का कठिन कारावास हो गया था और वे मान्डले जेल में थे। लाला लाजपत राय को भी देश से निकाला जा चुका था। इस संस्था में केवल ऐसे व्यक्ति थे जो केबल संसदों के सदस्य रहना चाहते थे, अथवा मध्यम श्रेणी के वे पढ़े लिखे व्यक्ति थे जिन्हेंसत्यागृह इत्यादि से कोई सहानुभूति न थी। वे तो प्रस्ताव पास कर संविधान के अन्तर्गत किसी बात को प्राप्त करने का प्रयास करना चाहते थे। जनता के साथ उनका सम्पर्क न था। गाँधी जी ने भारतीय राजनीति में प्रवेश कर एक नवीन जागृति पैदा कर दी और उन्होंने जनता को अपने साथ लिया। यह कहना भूल होगा कि गांधी जी सीधे साधे व्यक्ति थे जो कि केवल प्रार्थना तथा दरिद्र नारायण का स्मरण कर आगे बढ़ने का प्रयास करते थे। वास्तव में उनकी शक्ति का श्रोत भारतीय जनता थी जिसका वह स्वयं एक अंग थे। उन्होंने अपने देश-वासियों के हृदय में अभय की भावना डाल दी और आत्मिक बल पर ज़ोर देकर उन्होंने संसार के सामने यह प्रदर्शित करना चाहा कि इस बल को कोई भी शक्ति नहीं तोड़ सकती और इसके सामने अन्त में झुकना ही पड़ेगा। उनकी इस नीति के कारण कांग्रेस से वे लोग निकल गये जो 'आर्म चेयर पालिटीसियन' अथवा आरामकुर्सी के राजनीतिज्ञ थे और जो जनता से बल न प्राप्त कर केवल अपनी बुद्धि और वैभव का आश्रय लेते थे। इनमें से एक मोहम्मद अली जिन्ना भी थे जो पहिले काँग्रेस में थे पर उनकी नीति से सहमत न थे।

गाँधी जी ने सबसे पहिले उन गरीब मज़दूरों की दशा सुधारने का प्रयास किया और बिहार में चम्पारन का दौरा किया जहाँ पर श्री राजेन्द्र प्रसाद (वर्तमान राष्ट्रपति) के सहयोग से वे अपने कार्य में सफल हो सके और उन मजदूरों पर जो अत्याचार हो रहे थे उनको वे रोक सके। सत्याग्रह की भावना को जिसके अन्तर्गत हिंसा का कोई स्थान न था,

आरम्भ में लोग समझ न सके। अतः चौरीचौरा के हत्याकांड से गाँधी जी को यह विश्वास हो गया कि जनता इनके कार्य के लिये अभी तैयार नहीं है। गाँधी जी ने ऐसी जनता को प्रभावित करने के लिये और उसमें प्रेम की भावना फैलाने के लिये अहमदाबाद में एक आश्रम खोला जहाँ पर वह अपने आदेशानुसार काँग्रेसियों को क्रियात्मक कार्य के लिये प्रेरित करते थे। इधर भारत में अंग्रेजों ने इस बात का प्रयास किया कि काँग्रेस की बढ़ती हुई संख्या और उसके प्रभुत्व को रोकने का केवल यही उपाय है कि मुसलमानों को इससे अलग रक्खा जाये और १६२४।२५ का समय भारतीय राजनीतिक इतिहास का सबसे अन्धकारमय युग है जब कि भारत में प्रथमबार साम्प्रदायिक दंगे हुये और धर्म के नाम पर भाई भाई ने एक दूसरे का खून किया। इसका परिणाम यह हुआ कि गाँधीजी को भारत में शान्ति स्थापित करने के लिये २१ दिन का उपवास करना पड़ा जिससे वातावरण और परिस्थिति में सुधार हो सकें। १६२६ तक काँग्रेस ने केवल जनता मे राष्ट्रीयता की भावना को कूट कूट कर फैलाने का प्रयास किया। कुछ काँग्रेसी प्रान्तीय और केन्द्रीय संसदों के सदस्य भी चुने गये और वहाँ पर उन्होंने बहुत कुछ कार्य किया। केन्द्र में पं० मोतीलाल नेहरू, पं० मदनमोहन मालवीय, श्री सी० आर० दास, तथा श्री बिट्ठलभाई पटेल के नाम विशेषतया उल्लेखनीय हैं। इनका विचार था कि काँग्रेस की नीति केवल असहयोग तक ही नहीं सीमित होनी चाहिये वरन् संसदों में जाकर भारतीयों को अपनी आवाज़ उठानी चाहिये। १६२६ में रावी के तट पर प्रथम बार पं० जवाहरलाल नेहरू के सभापतित्व में पूर्ण स्वतंत्रता का प्रस्ताव पास हुआ और भारतवर्ष में गाँधीजी के नेतृत्व में पूर्ण आजादी प्राप्त करने का बीड़ा उठाया गया।

द्वितीय चरण

१६२६ से १६३३ तक का काल भारतीय इतिहास में संघर्ष का समय है। भारतीयों ने इस बात का दृढ़ निश्चय कर लिया था कि स्वतंत्रता

प्राप्त करना उनका अपना अधिकार है। इधर सरकार ने भी भारतीयों की भावनाओं को दबाने का भरसक प्रयास किया। अंग्रेजी सरकार की नीति सदैव से हिन्दू मुसलमानों में आपसी समझौते के अभाव की आड़ में किसी भी रूप में भारत को आजादी न देना था। १९२८ में लार्ड साईमन के सभापतित्व में एक कमीशन भारत भेजा गया जिसका ध्येय भारतीय संविधान समिति को सुझाव देना था। उधर भारतीयों ने विशेषतया कॉंग्रेस के नेतृत्व में इसका बहिष्कार हुआ। जगह जगह उनको काले झंडे दिखाये गये। भारतीय नेताओं ने पुलिस की लाठियाँ खाई और लाला लाजपत राय ऐसे वीर को अपने प्राणों की आहुति देनी पड़ी। १९३० में नमक कर के विरुद्ध असहयोग आन्दोलन शुरू हो गया और भारतीय इतिहास में प्रथम बार देश में ऐसी राजनीतिक जागृति हुई थी। अंग्रेजों ने एक ओर तो इसको दबाने की कोशिश की और दूसरी ओर अंग्रेजी सरकार ने लंदन में एक गोलमेज़ सभा बुलाई जिसमें भारत में उदार दल के हिन्दू मुसलमान नेता और देशी राजाओं की ओर से प्रतिनिधि शामिल हुये। अंग्रेजी सरकार ने मुसलमानों को पृथक वोट देने का अधिकार मान लिया और यह विचार हुआ कि यह अधिकार अन्य अल्पसंख्यकों को दिया जाये अथवा नहीं। अन्त में यह निश्चय हुआ कि कॉंग्रेस का सहयोग प्राप्त न होने के कारण इस विषय पर विचार स्थगित करना उचित है। १९३१ में गाँधी इरविन समझौते के अन्तर्गत असहयोग आन्दोलन बन्द हो गया। राजनीतिक बन्दी छोड़ दिये गये और दूसरी गोल मेज सभा में कॉंग्रेस की ओर से गाँधीजी, श्रीमती सरोजनी नायडू, तथा पं० मदनमोहन मालवीय ने भाग लिया। इस सभा में केवल दो ही विषयों पर विचार विनिमय हुआ—एक तो केन्द्र में प्रान्तों की भाँति कुछ चुने हुये और कुछ सरकार की ओर से मनोनीत मंत्रियों की नियुक्ति और दूसरी अल्प संख्यकों का प्रतिनिधित्व। गाँधीजी ने प्रथम बात को मानने से इन्कार किया और दूसरी बात पर किसी प्रकार का समझौता न हो सका। कॉंग्रेस किसी रूप में सम्पूर्ण स्वराज्य से कम मानने के लिये तैयार न थी। अन्त में गाँधीजी को

निराश होकर वहाँ से लौटना पड़ा। रैमज़े मैकडानल्ड ने, जो उस समय ब्रिटेन के प्रधान मंत्री थे, अल्प संख्यकों के विषय में एक फैसला दिया जिसके अन्तर्गत उनको अपना स्वतंत्र प्रतिनिधि चुनने का मौका दिया गया। मुसलमानों की भाँति अछूत भी अल्पसंख्यक मान लिये गये और यह हिन्दू समाज को विभाजित करने का बड़ा सरल उपाय था। गाँधीजी उस समय जेल में थे और उन्होंने वहाँ इस प्रश्न को लेकर अनशन किया। अन्त में पूना पैक्ट के नाम से एक समझौता हुआ। इसके अन्तर्गत अछूतों को इनकी संख्या से अधिक सीटें मिली और पहिले उनको अपने प्रतिनिधि स्वयं चुनने का अधिकार मिला और फिर उन प्रतिनिधियों में से हिन्दू वोटर प्रतिनिधि चुनते थे। इसी समय में तीसरी गोल मेज़ सभा हुई और १६३५ में भारत की शासन व्यवस्था सम्बन्धित बिल पास हुआ।

नई प्रान्तीय सरकारें

इसके अनुसार केन्द्र में द्विविभाजीय सरकार जिसमें देशी रियासतों के प्रतिनिधि भी हो, प्रान्तों में जनता की चुनी हुई सरकारें, तथा देशी रियासतों के साथ विशेष स्वतंत्र नीति, और अल्प संख्यकों की रक्षा का आयोजन किया गया। काँग्रेस ने प्रान्तीय शासन में भाग लेना तो स्वीकार किया किन्तु केन्द्रीय प्रस्ताव का बहिष्कार किया। सन् १६३६-३७ में भारत भर में प्रान्तीय सभाओं के लिये फिर से चुनाव हुआ। काँग्रेस को हिन्दू बहुसंख्यक प्रान्तों में पूर्ण रूप से बहुमत प्राप्त हुआ। मुसलिम लीग जो कि अब तक राजनीति में केवल आराम कुर्सी राजनीतिज्ञों के साथ में थी, मुसलमान बहुसंख्यक प्रान्तों में सफल न हो सकी। उसको काँग्रेस के प्रान्तों में तो कुछ सीटें मिल गई पर पंजाब में जमींदारों का ज़ोर रहा। उत्तर पश्चिमी प्रान्त में काँग्रेस, सिंध में मुसलमान व्यापारियों, और बंगाल में कृषक प्रजा पार्टी के लोगों ने मुसलिम क्षेत्र में सफलता पायी। काँग्रेस ने एक भूल यह की कि उसने केवल उन्हीं प्रान्तों में सरकारें बनायीं जहाँ पर उसका बहुमत था। मुसलिम लीग ने इससे लाभ उठाया और उन मुसलिम

संस्थाओं को अपने अन्तर्गत और अपना रूप देकर सरकारें बनायी तथा अल्प संख्यक मुसलमानों के ऊपर अत्याचार के झूठे नारे लगाकर काँग्रेस को बदनाम करना आरम्भ किया। काँग्रेस में भी इसी समय सुभाषचन्द्र बोस के नेतृत्व में एक नये दल की स्थापना हुई थी जिसके सदस्य वामपक्षी कहलाये। त्रिपुरी काँग्रेस में इसको सफलता मिली और इसका परिणाम यह हुआ कि काँग्रेस में दो स्वतंत्र दल हो गये। सुभाषचन्द्र बोस को काँग्रेससे त्याग-पत्र देना पड़ा और उन्होंने अपनी अलग संस्था स्थापित की। यहाँ पर कह देना आवश्यक है कि काँग्रेस के मंत्रीमंडल और प्रान्तीय गवर्नर के पारस्परिक सम्बन्ध खराब न थे और बहुत से गवर्नरों ने तो अवकाश प्राप्त होने पर इन मंत्रि मंडलों के कार्यों की सराहना की। इधर अन्तर्राष्ट्रीय परिस्थिति गम्भीर होती जा रही थी। इटली का अबीसीनिया पर आक्रमण कर उस पर अधिकार जमा लेना, और जर्मनी का चेकोस्लोवाकिया पर अधिकार करना और जर्मन अल्पसंख्यकों के हितों की आड़ में अपनी कुदृष्टि को यूरोप के अन्य देशों की ओर फैलाना अधिककाल तक विश्व युद्ध न रोक सका। ३ सितम्बर १९३९ में जब जर्मनी ने पोलैंड के ऊपर आक्रमण किया तो अंग्रेजों और फ्रान्सीसियों ने जर्मनी के विरुद्ध युद्ध घोषित कर दिया। संसार के राजनीतिक क्षेत्र में उथल पुथल मच गई। भारत ने अंग्रेजों की इस प्रकार की घोषणा कर भारत को युद्ध की लपेट में खीचना स्वीकार न किया। उन्होंने इसके विरुद्ध अपनी आवाज़ उठाई और सर्वप्रथम उन प्रान्तों में जहाँ काँग्रेस की सरकारें थीं उन्होंने अपना त्याग पत्र दे दिया। इस प्रकार दो वर्ष और कुछ महीनों की प्रान्तों में स्थापित काँग्रेस राज्य सरकारे खत्म हो गयी तथा प्रान्तों की शासन व्यवस्था का भार गवर्नरों ने स्वयं अपने हाथों में ले लिया। गाँधी युग का यह द्वितीय चरण समाप्त होता है।

तृतीय चरण केवल संघर्ष का युग है जिसमें ८ वर्ष के कठिन संघर्ष के बाद काँग्रेस को सफलता मिली। इस बीच में आधे से अधिक समय तो जेल में बिताया गया और थोड़ा समय एक ओर अंग्रेजों से और दूसरी ओर भारतीय अल्पसंख्यकों, मुख्यता मुसलिमलीग से समझौता कराने की चेष्टा में नष्ट हुआ। मुसलिम

लीग अब जन संस्था का रूप धारण कर चुकी थी और धर्म की आड़ में उसने मुसलमान जनता में एक काँग्रेस विरोधी भावना पैदा कर दी। काँग्रेस प्रान्तीय सरकारों के त्यागपत्र के बाद मुसलिम लीग की ओर से एक मुक्ति दिवस मनाया गया और १६४० में लाहौर के अधिवेशन में मुसलिम लीग ने पाकिस्तान की माँग की जिसके अनुसार उन्होंने यह पास किया कि पंजाब, काश्मीर, बंगाल, आसाम, सिंध, और उत्तर पश्चिम सरहद का प्रान्त उनको दे दिया जाये जहाँ मुसलमान बहुत संख्या में हैं और उनका अपना राज्य स्थापित हो। अगले अध्याय में किस प्रकार से काँग्रेस को एक ओर तो अंग्रेजी शासन और दूसरी ओर इस राष्ट्रीय विरोधी संस्था से मोर्चा लेना पड़ा, और कैसे काँग्रेस ने दो बुराइयों में से छोटी बुराई को ग्रहण कर देश को ब्रिटिश शासन से मुक्त कराया, इत्यादि विषयों पर विवेचना की जायेगी।

अध्याय २२

द्वितीय विश्व युद्ध और भारत की स्वतंत्रता

१९३९ में द्वितीय विश्व युद्ध आरम्भ हुआ। कांग्रेस जो अब तक केवल घरेलू समस्याओं में व्यस्त थी अब विश्व की परिस्थिति में दिलचस्पी लेने लगी और इसका श्रेय मुख्यता पं० नेहरू को है जिन्होंने यूरोप का दौरा करके स्पेन के गृह युद्ध और उसके अन्तर्गत की समस्याओं को देखकर फासिज़्म तथा नाज़ीज़्म के विरुद्ध आवाज उठाई। उन्होंने यह साफ-साफ कह दिया कि यद्यपि भारत अंग्रेजी सरकार का शत्रु है क्योंकि उसने भारतीयों की स्वतंत्रता का अपहरण किया है पर वह उन विदेशी शक्तियों से भी सहानुभूति नहीं रखता है जो दूसरे छोटे राज्यों को हड़प लेना चाहतीं हैं। इसीलिये पं० नेहरू ने मुसोलिनी से मिलने से भी इंकार कर दिया क्योंकि उसने अबीसीनिया पर बल से अधिकार कर लिया था। इधर चीन में जापानियों के आक्रमण के कारण जो लड़ाई चल रही थी उसका भी नेहरु जी ने विरोध किया और जिस समय यह युद्ध आरम्भ हुआ उस समय वह चीन में थे। वह जल्दी स्वदेश लौट आये, और इस विश्व युद्ध में भारत को बिना भारतीयों की राय लिये युद्ध की लपेट में आने के विरुद्ध काँग्रेस ने अपना प्रस्ताव पास किया। नेहरू जी ने यह भी कहा कि बिना भारतीयों की राय लिये भारत से कोई भी सैनिक विदेश न भेजा जाये। अंग्रेजी सरकार ने भारतीय सैनिकों को वर्मा, चीन, ईरान तथा दक्षिणी अफ्रीका में भेजकर उन देशों की आजादी में हस्तक्षेप किया था जो बहुत ही निन्दनीय कार्य था। कांग्रेस ने यह भी कहा कि एक ओर तो अंग्रेज फासिज्म-वाद और नाजीज़्म का विरोध करते हैं और दूसरी ओर वे स्वयं औपनिवेश वादी है, और इसकी आड़ में वह अपने औपनिवेशों की आज़ादी रोके हुए हैं। अंग्रेजों ने भारतीयों की इच्छाओं की अवहेलना करके भारत से बाहर

सिंगापुर और मध्यपूर्व में भारतीय सैनिकों को भेजा। उन्होंने केन्द्रीय संसद में भारतीय नेताओं तक से परामर्श नहीं किया। जनता में इसके कारण विशेष रूप से क्षोभ पैदा हो गया था कि भारतीयों को उनकी इच्छा के विरुद्ध आग की लपेट में झोंकना भारत के प्रति भेड़ बकरी हकाने की नीति को अपनाना है जिसमें उन अंजान पशुओं की इच्छा का कोई भी विचार नहीं है। कांग्रेस ने अंग्रेजी सरकार को चेतावनी दी कि अंग्रेज यदि यूरोप की जनता की आज़ादी के लिए लड़ रहे हैं तो पहिले भारतीय जनता को क्यों नहीं आज़ाद करती हैं और तभी भारत में इन विदेशी राज्यों के प्रति सहानुभूति पैदा की जा सकती है। भारत ने अंग्रेजों से अपने इरादे को साफ साफ शब्दों में घोषित करने के लिये कहा। यदि अंग्रेज इस बात को मान लेते तो परिस्थिति ऐसी गम्भीर न होती। वाइसराय ने केवल इतना कहा कि सरकार ने भारत को ब्रिट्रिश साम्राज्य के अन्तर्गत एक औपनिवेश का स्थान देने का निश्चय किया है पर संविधान में किसी प्रकार से परिवर्तन केवल युद्ध की समाप्ति के बाद ही हो सकेगा। कांग्रेस ने इस वादे को झूठा समझा और कांग्रेस प्रान्तीय मंत्रि मंडलों ने त्याग पत्र दे दिया। इधर विलायत में मई १९४० में नयामंत्रि मंडल बनाया गया जिसके प्रधान विन्सटन चर्चिल थे।

पुनः असहयोग

कांग्रेस ने सर्वप्रथम निजी रूप से असहयोग आन्दोलन आरंभ किया और उसमें केवल चुने हुए व्यक्ति अंग्रेजी शासन की युद्ध नीति के विरुद्ध आवाज़ उठाते थे। इस सत्याग्रह में हिंसा की भावना का कोई स्थान न था और यह केवल यह देखने के लिये किया गया था कि भारत में अंग्रेजों की उस नीति से कितना क्षोभ है जिसके अन्तर्गत भारतीयों को बराबरी का स्थान न देकर एक पशु की भांति विवश किया गया है जिसकी कोई अपनी इच्छा नहीं। इस प्रकार १९४०-४१ में यह सत्याग्रह चला। जर्मनी की प्रारम्भिक जीत और उसके बाद जून १९४१ में रूस पर हमला करने के कारण भारत की

कम्युनिस्ट पार्टी ने अंग्रेजों के साथ सहयोग दिया। कुछ लोगों का कहना था कि भारतीय राजनीतिज्ञ अंग्रेजों के साथ अंग्रेजों की परिस्थिति से लाभ उठाना चाहते थे पर यह भूल होगी। कांग्रेस ने बार बार इस बात पर ज़ोर दिया कि वह अंग्रेजी सरकार के साथ सहयोग करने के लिये तैयार हैं। उसने इस हेतु एक छोटी सी माँग रक्खी कि वे भारत की आज़ादी की मांग का आदर करें और युद्ध के समय में केन्द्र में सभी पार्टियों की मिली जुली सरकार बने। भारतीय यह अवश्य चाहते थे कि युद्ध के बाद भारत की आज़ादी मान ली जाय। कांग्रेस में भी इस मामले पर पूर्ण रूप से सब लोग सहमत न थे पर अन्तर्राष्ट्रीय परिस्थिति को देखते हुये नेहरू जी इससे सहमत हुये। गांधीजी किसी प्रकार से भारत सरकार की युद्ध नीति में सहयोग देने के विरुद्ध थे फिर भी कांग्रेस ने अपनी नीति को वाइसराय के सामने रक्खा। ब्रिटिश सरकार किसी प्रकार का आश्वासन देने को तैयार न थी। १९४१ में सुदूरपूर्व में भी युद्ध छिड़ गया। पर्ल बन्दरगाह पर जापानियों ने आक्रमण करके सिंगापुर तथा मलाया की ओर अपनी सेनायें भेजी, और उन्होंने उस क्षेत्र पर थोड़े समय में अधिकार कर लिया। १९४२ में अंग्रेजी सरकार की ओर से सर स्टैफर्ड क्रिप्स एक राजनीतिक सुझाव लेकर भारत आये, और उन्होंने भारत के विभिन्न दलों के सामने भारत के संविधान संबंधी ब्रिटिश सरकार के प्रस्तावों को रक्खा, जिसके अन्तर्गत युद्ध समाप्ति पर ही भारतीय संविधान में किसी प्रकार से परिवर्तन किया जा सकेगा। क्रिप्स सुझाव में किसी भी प्रान्त को भविष्य में भारतीय संविधान में सम्मिलित अथवा अलग होने का अधिकार दिया गया तथा अल्प संख्यकों के लिये एक सन्धि का सुझाव रक्खा। भारत की रक्षा का भार अंग्रेजों के हाथ में ही रक्खा गया। उपर्युक्त सुझाव को न तो कांग्रेस ने माना क्योंकि इसके अन्तर्गत किसी भी प्रान्त को भारतीय यूनियन से अलग होने की स्वतंत्रता थी और न मुसलिम लीग ही ने इसको मंजूर किया क्योंकि इसमें उनका पाकिस्तान बनाने का ध्येय नहीं मान लिया गया। सिख भी इसका विरोध कर रहे थे क्योंकि वह समझते

थे कि पंजाब अलग हो सकता है और उनकी परिस्थिति खराब हो सकती है। क्रिप्स यहाँ से लौट गये और उन्होंने अपने मिशन की असफलता का भार स्वयं अपने ऊपर लिया। कांग्रेस कार्यकारणी सभा ने अपने जुलाई के अधिवेशन में यह प्रस्ताव पास किया कि भारत से ब्रिटिश सत्ता खत्म होनी चाहिये और अंग्रेज भारत को छोड़ दें।

भारत छोड़ो

इसमें अहिंसात्मक असहयोग का आदेश था। ८ अगस्त १९४२ का दिन भारतीय इतिहास में विशेष महत्व रखता है। इस दिन अखिल भारतीय कांग्रेस कमेटी का अधिवेशन हुआ और गाँधी जी के नेतृत्व में इस प्रस्ताव को प्रयोग रूप देने का भार सौंपा गया। गाँधी जी ने यह साफ-साफ कह दिया था कि कोई नया कदम उठाने से पहिले मैं वाइसराय से फिर इस विषय में परामर्श करूंगा, पर दूसरे दिन सुबह सब भारतीय नेता गिरफ्तार कर लिये गये, और भारत में इसके विरुद्ध आग भड़क उठी जिसने हिंसा का रूप धारण कर लिया। विदेशी सरकार ने बड़ी बर्बरता के साथ इसको दबाया और भारत का १९४२ से लेकर के १९४५ तक का राजनीतिक इतिहास अंधकारमय है। मई १९४४ में गाँधी जी को छोड़ दिया गया पर इसके पहिले वे कई उपवास कर चुके थे जिसमें उन्होंने सरकार के इस झूठे आरोप का प्रायश्चित कर खंडन किया कि १९४२ का विद्रोह कांग्रेस द्वारा चलाया हुआ था। वास्तव में यह भारतीयों की अंग्रेजी सरकार और अंग्रेजी नीति और भारतीय नेताओं की गिरफ्तारी के विरुद्ध जोरदार आवाज़ थी। इस शक्ति का संतुलन न हो सका इसीलिये यह बहुत शीघ्र दबा दिया गया। १९४५ में लड़ाई समाप्त होने पर भारत की राजनीतिक परिस्थिति में फिर एक नवीन स्फूर्ति आयी। अन्तर्राष्ट्रीय दृष्टिकोण से भारत को अधिक समय तक जकड़ा नहीं रक्खा जा सकता था और जब नये चुनाव के बाद ब्रिटेन में मजदूर दल की नयी सरकार बनी तो उसने भारतीय परिस्थिति को समझने में न तो देर और न भूल की। सर्वप्रथम पेथिक लारेंस जो भारतीय विभाग के

मन्त्री थे, यहाँ आये और उन्होंने भारतीय दलों के नेताओं के साथ एक गोल मेज सभा में भारतीय संविधान सम्बन्धी बातचीत की। इधर गाँधी जी और मुसलिमलीग के नेना मि० जिन्ना के बीच किसी प्रकार भी समझौता न हो सका, और जब गोल मेज सभा में काँग्रेस और मुसलिम लीग के विचार विनिमय से कोई लाभ न हुआ तो अंग्रेजी सरकार ने इस बात का निश्चय किया कि भारतीयों को स्वराज्य स्थापना के लिये फिर से प्रयास करना चाहिये। लार्ड वेवेल ने पं० नेहरू को १९४६ में अपनी कौंसिल में भाग लेने के लिये आमंत्रित किया और काँग्रेस ने इसे स्वीकार किया। मुसलिम लीग ने इसका विरोध किया, और देश में खून की नदियाँ बहायी गई। ऐसी परिस्थिति से काँग्रेस भी तंग आ चुकी थी और इधर अंग्रेजी सरकार के लिये भी भारत को अपने आधीन रखना दुष्कर हो गया था। नवसेना के विद्रोह के बाद यह बात प्रत्यक्ष हो गई थी कि जल और स्थल सेना जिसके अधिकतर भाग में भारतीय थे अब अंग्रेजों के प्रति विश्वासनीय नहीं रही। अतः मार्च में अंग्रेजी सरकार ने घोषणा की कि भारतवर्ष को उसी वर्ष पूर्णतया स्वतंत्रता दे दी जायेगी। भारत दो भागों में विभाजित किया जायगा एक हिन्दुस्तान और दूसरा पाकिस्तान, और इनके संविधान बनाने की पृथक् संसदें होंगी। इस कार्य को पूरा करने के लिये लार्ड माउन्ट बेटेन भारत के गवर्नर जनरल नियुक्त हुये और १५ अगस्त को भारत और पाकिस्तान नामक दो स्वतन्त्र राज्यों का निर्माण हुआ।

यह कहना भूल होगी कि भारत की आजादी अंग्रेजों ने भीख के रूप में दी। भारतीयों की आहुति और बलिदान के सामने ऐसे विचार प्रगट करना ठीक नहीं। भारतीयों ने स्वराज्य के सोपान को बड़ी मजबूती के साथ बनाया था और इसके प्रत्येक पग में अनगिनित व्यक्तियों ने अपने प्राणों की आहुति दी थी, पर देश में स्वतंत्रता मिलने के बाद भी यहाँ पर खून की नदियाँ बहीं। लोगों को धर्म के नाम पर अपने घर बार को छोड़ना पड़ा, स्त्रियों का अपहरण हुआ। बच्चों का बलिदान और लाखों व्यक्तियों को प्राणों की आहुति देना पड़ी और यहाँ भारत में शरणार्थियों

की समस्या पैदा हुई। १९४७ के बाद का युग भारतीय इतिहास में नेहरू युग के नाम से कहा जा सकता है। इसमें देश के एकीकरण का भार सरदार बल्लभ भाई पटेल पर पड़ा जिन्होंने भारत में एकता स्थापित की। भारत में जो प्रगति हुई और देश को कितना आगे बढ़ाया जा सके उस सबका श्रेय पं० नेहरू को है। इस विषय पर हम आगे विवेचना करेंगे।

अध्याय २३

नेहरू युग

भारतीय इतिहास में समय समय पर बड़े-बड़े महान व्यक्ति हो गये हैं जिन्होंने देश को आजाद कराने अथवा एकता स्थापित करने का प्रयास किया। इसी कारणवश राजनीतिक दृष्टिकोण से हम चन्द्रगुप्त मौर्य को अशोक से बढ़कर स्थान देते हैं। इसके समय में देश में एकता स्थापित हुई और मौर्य राज्य ने साम्राज्य का रूप धारण किया। उसके अतिरिक्त समुद्रगुप्त और मध्य काल के सम्राट भोज को भी भारत के राजनीतिक इतिहास में श्रेष्ठ स्थान प्राप्त है, क्योंकि उन्होंने तत्कालीन परिस्थितियों में देश की बागडोर सम्हाली। छोटे-छोटे राज्यों के स्थान पर विस्तृत साम्राज्य का निर्माण किया तथा देश को विदेशी शक्तियों से बचाया। इसी प्रकार मुसलमान काल में भी कई महान् नेता हुये हैं, जैसे अकबर जिसने राज्य की बिखरी हुई शक्तियों को एक सूत्र में बांधा। वर्तमान युग में अंग्रेजी गवर्नर जनरलों में इस सम्बन्ध में वेलेज़ली और डलहौजी को श्रेय प्राप्त है। आधुनिक युग में भारतवर्ष के स्वराज्य प्राप्त करने के बाद का इतिहास वास्तव में नेहरू युग कहलाता है। इसकी कई विशेषतायें हैं—एक ओर तो देश में राजनीतिक एकता स्थापित हुई और अंग्रेजी सरकार की देन ५६५ देशी रियासतें, जो भारतीयों की स्वतंत्रता के लिये सदैव ही खतरा बन सकती थीं, के स्थान पर वृहत प्रान्त बने अथवा छोटी रियासतों को बड़ी में मिलाकर राजप्रमुखों के अधीन रक्खा गया जो भारतीय गणराज्य का एक अंग रही। इस कार्य में सरदार पटेल का मुख्य हाथ था पर यह सब प्रधान मंत्री पं० नेहरू के आधिपत्य में हुआ। देश की एकता के अतिरिक्त यह भी आवश्यक है कि उसका विदेश में आदर्णीय स्थान

प्राप्त हो और देश में चतुर्मुखी उन्नति हो। विदेश में भारत को उच्च स्थान प्राप्त कराने का श्रेय केवल पं० नेहरू को है जिसके फलस्वरूप भारतवर्ष एशिया और अरब देशों का नेतृत्व ग्रहण कर सका और दो विरोधी शक्तियों के बीच स्थिति खाई को भारने का सबसे अच्छा साधन बना।

पं० नेहरू ने १९४६ में वाइसराय की सभा का सदस्य होना स्वीकार कर लिया था। १५ अगस्त को नेहरू जी स्वतंत्र भारत के प्रधान मंत्री हुये और तबसे अब तक वह बराबर इस पद को सुशोभित कर रहे हैं। इस समय में भारत ने बड़ी कठिन परिस्थितियों, जिनमें से आन्तरिक और विदेशी दोनों ही थीं, के ऊपर काबू पाने का प्रयास किया। साथ में देश को भी आगे बढ़ाया और उसकी चतुर्मुखी उन्नति की ओर पूरा ध्यान दिया जिससे भविष्यमें यहाँ की आर्थिक परिस्थित सुधरे और वर्ग और श्रेणी तथा जातिपांति का जो भेद भाव है उसको दूर करके एक ऐसे समाज की रचना हो जिसके अन्तर्गत हरएक को अपनी शक्तिनुसार ऊपर बढ़ने और अच्छा स्थान प्राप्त करने का अवकाश प्राप्त हो सके। यों तो इन ११ वर्ष के अन्दर पं० नेहरू के नेतृत्व में प्रत्येक क्षेत्र में प्रगति दिखाना कठिन होगा पर यहाँ पर हम इस युग की विदेश बातों पर प्रकाश डालेंगे। यह हैं देश के संविधान का निर्माण, सामाजिक और आर्थिक क्षेत्र में प्रगति, स्त्रियों को बराबरी का स्थान देना, विकास योजनायें, ग्रामों की क्रान्ति और देश के बाहर एशिया में जागृति, अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग, और अंत में विश्व परिस्थिति और भारत, इत्यादि।

देश का संविधान—

भारतीय संसद की संविधान समिति अथवा कान्सटियुएन्ट असेम्बली की बैठक १९४६ से आरंभ हो गई थी, किन्तु मुसलिम लोग के विरोध और भारत और पाकिस्तान के बनने के कारण भारतीय संविधान को बनाने के कार्य में देर लगी। सर्व प्रथम तो एक समिति ने भारतीय संविधान को बनाया

और उसके बाद संविधान सभा में डा० राजेन्द्र प्रसाद के सभापतित्व में इस पर पूर्ण रूप से विचार हुआ और २६ नवम्बर सन् १९४९ को यह विधान पास हुआ। २३ जनवरी १९५० से यह लागू हुआ और भारत एक गणतन्त्र राज्य घोषित हो गया। इसने ब्रिटेन से अपना नाता पूर्णतया नहीं तोड़ लिया वरन् वह राष्ट्र परिषद् का सदस्य बना रहा। इस संविधान के अन्तर्गत भारतीय नागरिकों को वाणी, विचार तथा धर्म में, देश की रक्षा का ख्याल करते हुये, पूर्णतया स्वतंत्रता दी गई, और धर्म जाति वर्ग तथा स्त्री पुरुष के भाव हटाकर सब नागरिकों को संविधान के अन्तर्गत बराबरी का स्थान दिया गया। अछूतों का नाम ही हटा दिया गया और किसी प्रकार भी छुआछूत की भावना का कानूनी रूप से निषेध किया गया। हर एक पुरुष की रक्षा और सम्पति का भार सरकार के ऊपर रहा और यह बिना मुआविजा दिये किसी भी व्यक्ति की सम्पति नहीं ले सकती है। संविधान के अन्तर्गत देश में राष्ट्रपति तथा उपराष्ट्रपति का चुनाव प्रति पांचवें वर्ष नई केन्द्रीय तथा प्रान्तीय विधान परिषदों द्वारा होता है। शासन चलाने के लिये लोक सभा में बहुमत प्राप्त पार्टी के नेता को प्रधान मंत्री चुना जाता है। यहाँ पर संविधान की धाराओं पर विचार करना आवश्यक नहीं है। केवल इतना कहना पर्याप्त होगा कि भारतीय संविधान में अमरीका की भांति तो राष्ट्रपति का चुनाव, और इंगलैंड की भांति प्रधान मंत्री द्वारा शासन व्यवस्था रक्खी गयी है। इस संविधान के अन्तर्गत भारत में दो बार चुनाव हो चुका है जिसमें लगभग १८ करोड़ व्यक्तियों ने मत दान देकर संसार के सामने दिखा दिया कि भारत विश्व का सबसे बड़ा गणतन्त्र राज्य है।

भारत में सामाजिक और आर्थिक प्रगति

असहयोग आन्दोलन, अंग्रेजों के विरुद्ध आवाज उठाना, तथा नगर में अंग्रेजी शिक्षा के कारण भारत के सामाजिक तथा आर्थिक क्षेत्र में जागृति हुई और सम्पूर्ण जनसमुदाय तथा स्त्रियों ने समाज में अपना उचित

स्थान प्राप्त करने की प्रयास किया । १९४७ के बाद इस भावना ने बहुत जोड़ पकड़ा और सब ओर प्रगति दिखाई पड़ी। यहाँ पर हम स्त्रियों तथा श्रम आन्दोलनों का उल्लेख करेंगे क्योंकि इन विषयों पर पूर्ण रूप से आगे विचार किया जायेगा । केवल इतना कहना पर्याप्त होगा कि सामाजिक और आर्थिक क्षेत्र में इन दश वर्षों में बहुत ही प्रगति हुई। गरीबी को दूर करने के लिये यह आवश्यक है कि समाजवादी व्यवस्था बनाई जाये जिसके अन्तर्गत ऊँच नीच का भेद भाव न हो तथा ऊपर और नीचे स्तर वाले व्यक्तियों की आय में भी अधिक प्रतिशत फर्क न हो। यह तभी हो सकता है जब गरीब व्यक्ति को उठाने का प्रयास किया आय और उसको उसकी शक्ति अनुसार काम मिले जिससे वह पूर्णतया अपने परिश्रम से लाभ उठा सके। इसीलिये नेहरू सरकार ने भारत में संविधान के साथ ही साथ ऐसी योजनायें भी बनाई जिनसे कि देश में सामाजिक, आर्थिक तथा औद्योगिक क्षेत्रों में विकास हो सके। लोगों की गरीबी दूर करने के लिये यह भी अति आवश्यक है कि यहाँ उत्पादन अधिक हो और विदेश से माल कम आवे जिससे देश की राजनैतिक पूंजी भी बढ़े। इसी ध्येय को लेकर देश की आर्थिक उन्नति और राजनीतिक सुव्यवस्था कायम रखने के लिये यह आवश्यक है कि उत्पादन वृद्धि के साथ साथ देश में बेकारी न बढ़ने पावे; अन्यथा परिस्थिति के गंभीर होने की सम्भावना है। भारत के ग्रामीण जीवन में भी सुधार अत्यवाश्यक है। उनके जीवन में मनोरंजन का स्थान हो और वह अपने को समाज का अंग समझ सके। उनके और सरकार के बीच में वह वर्ग जो मध्यस्थ का काम करता था और जो उनकी गिरी हुई आर्थिक परिस्थिति का कारण हो सकता था, अब ज़रुरी न था। अतः प्रान्तीय सरकारों ने जमींदारी प्रथा का उन्मूलन कर किसानों को अपनी जमीन का मालिक बना दिया और उनका सरकार के साथ सीधा सम्बन्ध स्थापित हो गया। इधर मजदूरों को भी मिल मालिकों की ओर से कठिनाइयाँ प्राप्त होती थीं। वे माल के उत्पादन के लिये बड़ी मेहनत करते थे और उपभोग में उनको श्रम के अनुसार भाग नहीं मिलता था। इसको दूर करने के लिये ऐसी व्यवस्था की गई है कि मज़दूर अपने को

मिलों का अंग समझें और लाभ से उनको भी बोनस के रूप में एक भाग मिल सके। उनकी रहन सहन और सामाजिक तथा आर्थिक व्यवस्था ठीक करने का प्रयास किया गया और बड़े बड़े नगरों में उन हातों के स्थान पर, जो कि केवल घ्रणित जीवन का प्रतीक बने हुये थें, उनके लिये छोटे हवादार, और स्वच्छ मकान बनाये गये जिससे वे सुख से रह सकें।

इनके अतिरिक्त अन्य क्षेत्रों में काम करने वालों को पहिले की अपेक्षा अब कई गुना अधिक वेतन मिलने लगा जिससे कि गरीब और अमीर के बीच इतनी गहरी खाई को पाटने का धीरे-धीरे प्रयास किया जाने लगा। यहाँ पर हम उन विकास योजनाओं पर भी सूक्ष्म रूप से विवेचना करेंगे जिसके अन्तर्गत नेहरू सरकार ने देश के कोने कोने में आर्थिक क्षेत्र में जागृति पैदा कर दी। इन विकास योजनाओं का ध्येय यही है कि भारत अपने पैरों पर खड़ा हो सके और वर्तमान युग में हम देश को एक मध्य कालीन परिस्थिति से निकालकर आधुनिक युग के देश के स्तर पर रख सकें। इसीलिये नदी योजनायें बनायी गई जिससे एक ओर तो जलशक्ति का संचय करके खेतों में सिंचाई हो सके जिससे अधिक पदा हो, और दूसरी ओर इनसे बिजलीतैयार हो सके जिससे कारखाने चलें। इस प्रकार को हर एक प्रान्त में कई योजनायें चलाई गई जिनसे भाखरानंगल, हीराकुंड, दामोदर घाटी और तुंगभद्रा योजनायें विशेषतया उल्लेखनीय हैं। देश के विकास के लिये छोटे और बड़े कारखाने भी खोले गये जिसमें लोहा, इसपात, जूट, कपड़ा इत्यादि का बहुत उत्पादन हो सके। टेलीफोन, तार, रेडियों, जहाज, हवाई जहाज, रेलवे इन्जिन, मोटर, मशीन तथा कागज इत्यादि के कारखाने बढ़ाये गये और कुछ नये भी बनाये गये। इन सबका मुख्य ध्येय यह है कि भारत को अपनी आवश्यकता के लिये विदेशके ऊपर निर्भर न रहना पड़े। देश में सभी आदमी काम से लगे रहें जिससे बेकारी की समस्या उत्पन्न न हो सके और देश का उत्पादन इतना अधिक हो कि राष्ट्र सम्पति बढ़ सके। यद्यपि इन सब योजनाओं में बहुत पैसा खर्च हुआ और हो रहा है पर इसका फल अच्छा निकला है और बाद में निकलेगा। अरबों रुपया सामुदायिक

योजनाओं पर खर्च हो चुका है और इसके लिये भारत को विदेशों से भी सहायता लेनी पड़ी, पर भारत अपने ध्येय में मजबूती से बढ़ रहा है और इस औद्योगिक क्रान्ति को सफल बनाने का श्रेय मुख्यता प० नेहरू को है।

एशिया में जागृति और अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग

औपनिवेशबाद के विरुद्ध आवाज उठाना स्वाभाविक है क्योंकि कोई भी शक्ति दूसरी छोटी शक्ति को अधिक काल तक अपने वश में नहीं रख सकती है। एशिया पर बहुत काल तक या तो विदेशियों का अधिकार रहा अन्यथा इतना जबर्दस्त आर्थिक प्रभाव रहा कि इस महाद्वीप के देश न तो राजनीतिक और न सामाजिक अथवा आर्थिक क्षेत्र में ही प्रगति कर सके। अंग्रेजों ने भारत के अतिरिक्त वर्मा, सीलोन, मलाया इत्यादि देशों पर अपना अधिकार जमा रक्खा था और उनके राज्य में सूर्य कभी अस्त ही नहीं होता था। फ्रान्सीसियों ने हिन्द चीन पर कब्जा कर रक्खा था और डचों के अधिकार में सुदूर पूर्व में जावा, सुमात्रा इत्यादि द्वीप थे। चीन, जो राजनीतिक और आर्थिक क्षेत्र में बहुत पीछे था, अंग्रेजों के प्रभाव में था और जापान के युद्ध के कारण इसकी परिस्थति भी बहुत ही कमजोर थी। यह कहना भूल होगा कि अंग्रेजों के विरुद्ध आवाज़ उठाकर असहयोग आन्दोलन की भावना ने भारत से बाहर अन्य देशों पर कोई प्रभाव नहीं डाला। १९४१ में जब कि जापानियों का दक्षिण पूर्व एशिया पर अधिकार हो गया, जो कि ३ साल से अधिक तक चलता रहा, तो उन्होंने, 'एशिया एशियावासियों' के लिये, का नारा लगाना शुरू किया। इसका फल यह हुआ कि एशियाई लोगों में जागृति आ गई। लड़ाई खत्म होने के बाद यह देश पुनः अपने पुराने शासकों के अधिकार में चले गये। पर इन देशों के निवासियों के हृदय में आजादी की भावना बनी हुई थी और यह अपने को औपनिवेशवादियों के चंगुल से छुड़ाना चाहते थे। १९४७ में भारत आज़ाद हुआ। उसके बाद वर्मा और सीलोन की बारी आई। अभी दक्षिण पुर्व में डच लोगों से हिन्दनेशिया के निवासियों को, और फ्रांसीसियों के पंजे से हिन्द

चीन को आजाद होना वाकी था। पं० नेहरू ने सर्व प्रथम एक एशियाई सम्मेलन का आयोजन किया जिसमें दूर-दूर के देशों से प्रतिनिधि आये और इसमें इस बात की मांग की गई कि औपनिवेशिक सत्ता का अन्त हो और जिन देशों पर विदेशियों का अधिकार है वे स्वतन्त्र हों। सबसे पहिले पं० नेहरू ने हिन्दनेशिया अथवा दक्षिण पूर्व के उन महाद्वीपों को स्वतंत्र कराने के लिये अपनी आवाज़ उठाई जो डचों के अधिकार में थे। यह आवाज़ इतनी बुलन्द थी कि डचों को इस द्वीप समूह को स्क्तंत्रता देनी पड़ी और आज भी इसके लिये हिन्दनेशिया के निवासी अपने को भारत के निकटतम समझते हैं। यद्यपि यह पूर्णतया स्वतंत्र हो गया है और अंतरराष्ट्रीय परिषद् का सदस्य भी चुन लिया गया है पर उसका हालैंड के साथ केवल नाममात्र का सम्बन्ध है। इधर हिन्दचीन में परिस्थिति गम्भीर हो चुकी थी इसका मुख्य कारण चीन में साम्यवाद सत्ता का आरुढ़ित होना था। चेंगकाईशेक की अमेरीकी डालर निर्धारित सरकार अब माओसेटुंग और चाउनलाई के नेतृत्व में समाजवादी शक्ति के आगे ठहर न सकी और उसे फारमूसा द्वीप में जाकर शरण लेना पड़ा जहाँ वह आज भी कायम है।

चीन की इस बढ़ती हुई शक्ति ने हिन्द चीन और कोरिया में अपना प्रभाव दिखाया। हिन्द चीन में एक ओर तो फ्रांसीसियों की शक्ति थी और दूसरी ओर होचीमिन नामक एक कम्युनिस्ट के आधिपत्य में विटमिन की सरकार बनी। साम्राज्यवादी तथा दूसरी जनशक्तियां, जिनकोचीनी साम्यवाद की सहायता प्राप्त थी, हिन्द चीन और कोरिया दोनों ही को दो भागों में विभाजित करा सकी। हिन्द चीन में फ्रांसीसियों ने आजादी दे दी और अब कम्बोडिया, लाउस, स्याम, वियतमिन और वियतनाम नामक देश स्वतन्त्र हैं। वियतमिन और वियतनाम को छोड़कर बाकी सबको अन्य देशो की मान्यता प्राप्त है, और वे विश्व परिषद् के सदस्य हैं। कोरिया और वियत-नाम तथा वियतमिन का मामला अभी तक तटस्त है। कोरिया में तो बड़ी भीषण लड़ाई छिड़ गई थी और कदाचित यह विश्व संघर्ष का रूप धारण कर लेती पर भारतवर्ष ने मध्यस्थ होकर इस लड़ाई की आग को बढ़ने

से रोका और भारतीय सेना के चुने हुये सैनिकों ने यहाँ पर जाकर अन्तरर्ष्ट्रीय परिषद् के अन्तर्गत शान्ति, सुरक्षा और सुव्यवस्था स्थापित की। एशिया फिर से अपने पैरों पर खड़ा हो गया। साम्यवाद चीन हिन्द चीन में अपना प्रभाव स्थापित करने लगा, और यह बढ़ता जा रहा है। दूसरी और इन दोनों देशों में विदेशी शक्तियाँ भी अपना अस्तित्व नहीं नष्ट होने देना चाहतीं हैं। अतः इन दोनों देशों की सम्पूर्ण जनता को अपने भाग्य का स्वयं निर्णय करने का अवकाश नहीं मिल पाता है। चीन में ८ वर्ष से अधिक समय से माउसेटुंग और चाउनइनलाई की साम्यवादी सरकार है और उसने देश में एक नयी जागृति उत्पन्न कर दी है। पर यह खेद का विषय है कि यद्यपि भारत ने इस बात का कई बार प्रयास किया कि चीन को विश्व परिषद् का सदस्य मान लिया जाय पर अमरीका और उसके सहयोगी देशों ने वास्तवविकता से मुह मोड़ कर फारमोसा में स्थिति चेंगकाइशेक की कठपुतली सरकार को मान्यता दी है। यह जटिल प्रश्न है कि और इससे विश्व की शान्ति की भय है, क्योंकि ६० करोड़ की जनता का प्रतिनिधित्व केवल वहाँ की सरकार ही कर सकती है। ऐसी चीनी सरकार को बहुत से देशों ने मान लिया है और इसने वास्तव में देश में बड़ी हो प्रगति दिखाई है। यह आशा है कि थोड़े समय बाद चीन भी विश्व परिषद् का सदस्य चुन लिया जायेगा। भारत और चीन के बीच बड़ा गहरा सम्बन्ध स्थापित हो चुका है। भारत के प्रधान मंत्री चीन हो आये हैं और चीनी प्रधान मंत्री कई बार भारत आ चुके हैं। इनके अतिरिक्त बहुत से सांस्कृतिक मिशन भारत से चीनऔर चीन से भारत आ चुके हैं। दोनों में मैत्री पूर्णतया स्थापित हो चुकी है और इन दोनों ने पंचशील के आधार पर एक दूसरे देश के साथ मैत्री पूर्ण सम्बन्ध स्थापित रखने का पूरा प्रयास किया है।

अंतर्राष्ट्रीय सहयोग और विश्व शान्ति

एशिया की जागृति का पूर्णतया श्रेय पं० नेहरू को है और इन्होंने औपनिवेश

वाद के विरुद्ध आवाज उठाकर एशियाई देशों के बीच केवलसम्पर्क ही स्थापित नहीं किया है वरन् उनका एक अपना दल बनाया है जो कि अफ्रीकी लोगों के साथ मिलकर एशिया अफ्रीकी दल के नाम से प्रसिद्ध है। इसने दो विरोधी विचारधारायें साम्यवादी और पूंजी तथा औपनिवेशवादी देशों के बीच एक तटस्त मध्यस्थ की भाँति काम किया है। संसार के सामने ऐसी कई विषम परिस्थितियाँ आयीं जिनमें विश्व युद्ध हो जाना कठिन बात न थी, पर भारत के नेतृत्व में इस आग को बढ़ने नहीं दिया गया। इसीलिये भारत अपनी विश्व शान्ति की नीति में सबसे आगे रहा है। यह खेद का विषय है कि भारत और उसका पड़ोसी पाकिस्तान जो थोड़े समय पहिले भारत का एक अंग, था एक दूसरे के निटक नहीं आ सके, और कश्मीर, नहरी पानी, तथा कुछ अन्य झगड़ों के कारण खिचाव आगे बढ़ता जा रहा है। पूंजीवादियों ने इससे लाभ उठाने की आशा की है। यदि भारत और पाकिस्तान को स्वयं अपनी समस्याओं को हल करने के लिये छोड़ दिया जाय तो यह शीघ्र ही एक दूसरे के निटक आ सकते हैं। विश्व की शान्ति के लिये यह आवश्यक हैं कि किसी आधार पर इसको बनाये रखने का प्रयास किया जाये और वह केवल पंचशील अथवा पाँच मजबूत चट्टाने ही हो सकती हैं। इसके अन्तर्गत प्रत्येक देश की स्वतंत्रता मानना अनिवार्य है तथा उसके घरेलू झगड़ों में हस्तक्षेप नहीं करना चाहिये और औपनिवेशवाद का संसार में कोई स्थान नहीं है। पचशील के सिद्धान्तों के आधार पर ही विभिन्न देशों में अच्छी तरह से सम्पर्क स्थापित हो सकेगा। कुछ लोगों का विचार है कि विश्व शासन व्यवस्था का प्रयास करना चाहिये, पर यह कठिन है। वास्तव में विश्व शान्ति तभी स्थापित हो सकती है जब एक दूसरे की आन्तरिक स्वतंत्रता में कोई हस्तक्षेप न करे और पारस्परिक झगड़ों का वे स्वयं निपटारा करें। संसार इस समय कठिन परिस्थिति से गुजर रहा है। वैज्ञानिकों ने अणु और हाइड्रोजन बम का आविष्कार कर संसार को विध्वंश कर करने में कोई बात बाकी नहीं रक्खी है। जिन विशाल शक्तियों के पास यह बम है, वे अपनी शक्ति के आगे छोटी शक्तियों को दबाना चाहती हैं और इसीलिये अपनी शक्ति का प्रदर्शन करने के लिये

समुद्र में अथवा अन्य स्थानों में यह बम फेके जाते हैं। इसका परिणाम विश्व में शान्ति स्थापित करना नहीं है वरन् उन बड़ी शक्तियों के प्रति छोटी शक्तियों के हृदय में घृणा की भावना उत्पन्न कराना है। आज भी छोटी शक्तियाँ संसार की इन जटिल परिस्थितियों में भारत की ओर आशापूर्ण दृष्टि से देखती हैं, जिसने आध्यात्मिक स्तर को सर्वश्रेष्ठ मानकर संसार के सामने इस बात को रखने का प्रयास किया है कि आत्मिक बल के सामने अणु और हाइड्रोजन बम कुछ नहीं कर सकते हैं। भारत की नीति सदैव से ही शान्तिपूर्ण रही है और इसने विश्व की जटिल परिस्थितियों में भी तटस्त नीति से शान्ति स्थापित करने का प्रयास किया है। भारत स्वयं अपनी आर्थिक, तथा घरेलू और पाकिस्तान से सम्बन्धित गम्भीर समस्याओं के होते हुये भी संसार के सामने पथ प्रदर्शक के रूप में विश्व शान्ति स्थापित करने का प्रयास करता रहेगा, और इसका पूर्णतया श्रेय पं० नेहरू को है।

अध्याय २५

साहित्य

संस्कृति और साहित्य में घनिष्ट सम्बन्ध है। इसके अध्ययन से मनुष्य के मानसिक और सांस्कृतिक विकास का पूर्णतया ज्ञान प्राप्त होता है। साहित्य में ही सांस्कृतिक प्रवृतियों का समुच्च है। भारत में प्राचीन काल से धर्म की भावनाओं को लेकर वृहत् ग्रन्थ लिखे गये और इसका भार प्राचीन काल में तो केवल ब्राह्मणों के कन्धों पर पड़ा और अश्वघोष, कालिदास, भवभूति तथा राजशेखर इत्यादि ब्राह्मणों ने संस्कृत साहित्य को अपनी कृतियों से अलंकृत किया। मध्य युग में भक्ति भावना को लेकर जिन महान विभूतियों ने ग्रन्थों की रचनायें की, उनमें तुलसी को छोड़कर अन्य ब्राह्मण न थे, कबीर जुलाहे के पुत्र थे, दादू धुनकिये थे, महाराष्ट्र के नामदेव दर्जी थे, और उनके शिष्य तुकाराम शूद्र थे पर वह वणिक् का कार्य करते थे। दक्षिण भारत के तिरुवल्लुवर नामक विख्यात साधु अत्यन्त नीच कुल के थे और तेलगू लेखकों में वेमान एक अपढ़ कृषक था। यह बात भी विचारणीय है कि इन सब व्यक्तियों ने अपनी रचनायें पद्य में लिखी। गद्य में लिखने का समय अभी बहुत दूर था। उसका प्रादुर्भाव उन्नीसवीं शताब्दी में पाश्चात्य सभ्यता के फलस्वरूप हुआ। देश में साहित्यिक रचनायें प्रान्तीय भाषाओं में क्रमशः होती रहीं और यह सब प्रायः धार्मिक विचारों के अन्तर्गत हुई। इस सम्पूर्ण साहित्य का अध्ययन राम, कृष्ण, तथा शिव और शक्ति के प्रति भक्ति भावना प्रदर्शन को लेकर हम कर सकते हैं। इस भावना की लहर मानव हृदय में समय समय पर उठी और इसका प्रभाव भारत के कोने कोने में हुआ। वर्तमान साहित्यिक युग में प्रवेश करने से पहिले मध्य युग के इस भारतीय भक्ति साहित्य का अध्ययन करना आवश्यक

है जिससे धार्मिक के अतिरिक्त सांस्कृतिक एकीकरण का पता चलेगा।

राम साहित्य

रामायण और राम के प्रति भक्ति भावना तो बहुत प्राचीन काल से चली आती है। कालिदास के 'रघुवंश' में राम के वंश का पूर्ण रूप से विवरण है। भारतीय साहित्य में राम के प्रति अटूट भक्तिका प्रदर्शन काजीवरम के रामानुज से आरम्भ होता है। उनके विचार से संसार में समय समय पर भगवान के अवतार होते रहे हैं, जिनमें रामचन्द्र का अवतार सबसे महत्वपूर्ण है और उन्हीं में अपने को भक्ति भावना से समर्पित करके ही मनुष्य भवसागर से पार हो सकता है। रामानुज स्वयं वेदान्ती थे और उन्होंने संस्कृत में अपने ग्रन्थों की रचना की। उनका सम्प्रदाय उत्तरी भारत में नहीं फैल सका, पर दक्षिण भारत में इसका बड़ा प्रभाव था। इसमें भोजन तथा स्नान और वस्त्रों के सम्बन्ध में कठिन नियम थे जिनका पालन करना अनिवार्य था। १५वीं शताब्दी में उत्तरी भारत में रामानन्द ने राम भक्ति का प्रचार किया। वह रामानुज सम्प्रदाय के थे और दक्षिणसे वहिष्कृत कर दिये गये थे। उन्होंने अपने नवीन सम्प्रदाय का निर्माण किया और उसमें जाति पांति का कोई स्थान न था। उनके शिष्यों में कबीर प्रमुख थे, जिन्होंने कबीर पन्थ चलाया और उनकी साखी आज भी भारतीय साहित्य का अनमोल ग्रन्थ है। यह साखियाँ लगभग ५००० है और उनके अतिरिक्त कुछ छोटे छोटे पद्य भी हैं। उन्होंने सत्य और मानवता को लेकर अपनी रचनायें लिखी जो हिन्दी में हैं। इनके लिखित बहुत से अन्य ग्रन्थ भी माने जाते हैं। राम नाम को लेकर गुजरात के धुनकिये दादू ने भी हिन्दी में ग्रन्थ लिखे। इनमें केवल रामनाम के महत्व को ही सराहा है। इनके बाद इनके साम्प्रदायिक उत्तराधिकारियों ने भी हिन्दी में अन्य ग्रन्थों की रचनाये की। पंजाब में गुरू नानक ने इसी भावना को लेकर अपना धर्म चलाया और गुरू की इस वाणी में, 'नानक दुखिया है संसार, सुखिया वही सो राम अधार, उस राम के प्रति भक्ति भावना का प्रदर्शन है जो मनुष्य को सांसारिक बाधाओं से छुड़ाकर अनन्त शान्ति और सुख प्राप्त करा सकता है।

आदि ग्रन्थ की रचना गुरू अर्जुन के समय में १६०१ में हुई। उसमें अधिकतर गुरु की वाणी पश्चिमी हिन्दी में है।

राम साहित्य में तुलसीदास का नाम अमर रहेगा। इनके 'रामचरित्र मानस' नामक ग्रन्थ में राम के प्रति अटूट भक्ति भावना का प्रदर्शन है। यह बात विशेषतया उल्लेखनीय है कि रामानुज, रामानन्द अथवा नानक की भांति उन्होंने अपना नवीन सम्प्रदाय नहीं चलाया पर इनका ग्रन्थ लगभग प्रत्येक भारतीय के घर में पाया जाता है। यह ग्रन्थ पूर्वी हिन्दी में है जिसे अवधी कहते हैं और तुलसी ने जनता के लिए साधारण बोल चाल के शब्दों का आश्रय लिया पर साहित्यिक दृष्टिकोण से उनकी रचना अनमोल है। विषय भाषा, और शैली तीनों ही श्रेष्ठ है। 'रामचरितमानस' के अतिरिक्त तुलसी ने कई और ग्रन्थों की रचना की जैसे 'गीतावली, 'कवितावाली' 'विनय पत्रिका' इत्यादि । साहित्यक क्षेत्र में तुलसी ने पूर्वी हिन्दी में अपनें ग्रन्थों की रचना कर एक अनुपम उदाहरण स्थापित कर दिया जिसका अनुकरण आगे चलकर अन्य साहित्यकारों ने भी किया और राम की उपासना ने भारतीय धार्मिक क्षेत्र में अपना स्थान बना लिया।

राम साहित्य के अन्तर्गत तुलसीदास के अतिरिक्त अन्य किसी व्यक्ति ने हिन्दी में उतना वृहत् ग्रन्थ नहीं लिखा पर अन्य प्रान्तीय भाषाओं में रामायण पहिले ही लिखी गई। दक्षिण में तो ११वीं शताब्दी में कम्बन ने तामिल में रामायण लिखी और १३वी १४वीं शताब्दी में मलयालम में भी रामचरित मानस की रचना हुई। कन्नरी में कुमार वाल्मीकि ने रामायण लिखी और बंगला में कीर्तिवास ओझा ने इस ग्रन्थ की रचना की। केशव की 'रामचन्द्रिका' भी उल्लेखनीय है पर यह पश्चिमी हिन्दी में है। महाराष्ट्र में मोरोपन्त ने राम के सम्बन्ध में बहुत सी पद्य रचनायें की। अन्य साहित्यिकों ने भी अपनी अपनी भाषा में राम से सम्बन्धित ग्रन्थ लिखे और अपनी भक्ति का परिचय दिया।

कृष्ण साहित्य

राम की भांति कृष्ण को भी एक अवतार मानकर, उनकी लीला और

कृतियों को लेकर बहुत से ग्रन्थ लिखे गये। कृष्ण की उपासना तो महाभारत युग से होती चली आ रही है। मेगास्थनीज़ ने मथुरा में कृष्ण और शिव के मानने वालों का उल्लेख किया है। श्रीमद्भागवत में कृष्ण की जीवनी बढ़े सुन्दर ढंग से चित्रित है। जयदेव ने 'गीतागोबिन्द' की रचना कर कृष्ण के प्रति अपनी भक्ति का प्रदर्शन किया पर वास्तव में कृष्ण सम्प्रदाय और उसका साहित्य १६वीं शताब्दी में बल्लभाचार्य से आरम्भ होता है जो एक दक्षिणी ब्राह्मण थे और मथुरा में आकर बस गये थे। बंगाल में चैतन्य महाप्रभु ने इसे बहुत आगे बढ़ाया। इस धार्मिक सम्प्रदाय और उसके साहित्य में कृष्ण और राधा की भक्ति और प्रेम को सराहा है। कुछ विद्वान राधा के प्रेम में वासना का आभास पाते हैं, पर वास्तव में यह एक पवित्र आत्मा का परमात्मा में लीन हो जाने का जीवित उदाहरण है। कृष्ण साहित्य के प्रसरण में जिन विद्वानों ने भाग लिया उनमें सूरदास सर्वप्रथम है। यह जन्म के अन्धे थे और इन्होंने बृज भाषा में पदों की रचना कर कृष्ण के प्रति अपनी भक्ति को जीवित रूप दिया। यह तुलसीदास से थोड़ा पहिले हुए थे और इनके ग्रन्थ 'सूरसागर' में सैकड़ो सुन्दर पद हैं जो कृष्ण की जीविनी से सम्बन्धित हैं। इस समय से ब्रजभाषा में ही कृष्ण साहित्य की रचना हुई।

सूर के पश्चात् बिहारी लाल ने अपनी संतसई लिखी जिसमें प्रकृति के प्रत्येक अंग का कृष्ण लीला के साथ चित्रण किया है। कृष्ण भक्ति मैथिल और बंगला साहित्य में भी मिलती है। मिथिला के विद्यापति तथा बंगाल के चैतन्य और चन्डीदास का नाम विशेषतया उल्लेखनीय है। विधापति ने सबसे पहिले राधाकृष्ण के प्रेम, वियोग और मिलन को लेकर मैथिली भाषा में पद्य लिखे जिनका अनुकरण बाद में बंगला साहित्य में हुआ। यह १५वीं शताब्दी में हुए थे और इनके थोड़े समय बाद चन्डीदास और चैतन्य महाप्रभु ने कृष्ण साहित्य को आगे बढ़ाया। राधा कृष्ण का प्रेम वास्तव में आत्मा का परमात्मा में लीन होने का चित्रण हैं।

अन्य भारतीय प्रदेशों में भी कृष्ण और राधा के प्रेम को लेकर इस

अटूट भक्ति का प्रदर्शन साहित्यिक रचनाओं द्वारा हुआ। उडीसा में पुरी मन्दिर के देवता जगन्नाथ को कृष्ण का स्वरूप मानकर १६वीं शताब्दी में दीन कृष्ण दास ने 'रसकल्लोल' नामक ग्रन्थ की रचना की। राजपूताने में मीरा की भक्ति और भजन और कीर्तन द्वारा प्रदर्शन का उदाहरण मिलता है। यह १५वीं शताब्दी में हुई और इनके भजन ब्रज भाषा में है। महाराष्ट्र में तुकाराम का नाम प्रसिद्ध है। यह शूद्र वर्ण के थे और १६०८ में इनका जन्म हुआ था। संसार को त्याग कर इन्होंने 'अभंगो' की रचना की जो बिठ्ठल अथवा 'विढोबा' को संकेत कर लिखे गये। १७वीं शताब्दी के अन्त में भागवत पुराण का श्रीधर ने मराठी में अनुवाद किया। कन्नड़ी भाषा में भी भागवत पुराण का अनुवाद चाटु बिठ्ठलनाथ द्वारा हुआ था और कृष्ण साहित्य के सम्बन्ध में रुद्र लिखित 'जगन्नाथ विजय' हरिदास का 'कष्णलीलाम्युदय' विशेषतया उल्लेनीय है।

शिव शक्ति साहित्य

भक्ति भावना से प्रेरित होकर शिवभक्ति साहित्य की भी रचना हुई। शिव की उपासना तो आदिकाल से चली आती है और पौराणिक साहित्य में भी इस देवता और उसकी शक्ति का विवरण प्राप्त है। सम्पूर्ण भारत में धार्मिक विचारधाराओं को लेकर साहित्यक क्षेत्र में बड़ी प्रगति हुई और इन धार्मिक भावनाओं ने प्रान्तीयता तथा प्रादेशिकता की शृंखलाओं को तोड़ कर सम्पूर्ण देश को इस भक्ति भावना से ओतप्रोत कर दिया जिसके अन्तर्गत हम भारतीय एकता पाते हैं। दक्षिण में ११वीं शताब्दी में माणिक्क वाशगर ने 'तिरुवासगम' की रचना की, और बाद में सम्बन्ध ने 'तिवारम' नामक पद्य ग्रन्थ लिखा। इनमें शिवजी की उपासना की गई है। बंगाल में दुर्गा की उपासना बहुत प्रचलित हुई। ११वीं शताब्दी से काली अथवा चन्डी को लेकर मुकुन्दराम चक्रवर्ती ने इस शक्ति की शौर्यता प्रदर्शित करने के लिए दो ग्रन्थ लिखे जो कथाओं के रूप में हैं। इनके अतिरिक्त बंगाल के साहित्य में रामप्रसाद और भरत चन्द्रराय ने दुर्गा की उपासना सम्बन्धित रचनायें की।

वीरगाथा साहित्य

धार्मिक साहित्य के अतिरिक्त लौकिक विषयों को लेकर भारतीय साहित्य-कारों ने अपनी कृतियाँ रची। सबसे प्रसिद्ध चन्द्रवरदाई था जिसने 'पृथ्वीराज रासो' नामक वृहत् ग्रन्थ लिखा। इसमें सम्राट् पृथ्वीराज और उनके जीवन सम्बन्धित घटनाओं का चित्रण किया गया है। लगभग १ लाख पदों में ग्रन्थकार ने अपने सम्राट् की शूरता और कृत्यों का वर्णन किया है। चन्द्रवर-दाई के पुत्र जल्हन ने भी कदाचित उस ग्रन्थ के कुछ अंशों की रचना की होगी। इसी समय में महोबा की राज्य सभा में जग्नायक नामक कवि ने आल्हाऊदल की शौर्य कृतियों का गुणगान किया जो आजकल भी गाये जाते हैं। इस वीर गाथा युग और साहित्य से सम्बन्धित अन्य कवियों में सारंगधर का नाम भी प्रसिद्ध है जिसने 'हम्मीररासो' और 'हम्मीर काव्य' ग्रन्थ लिखे जिनमें दिल्ली के सम्राट् अलाउद्दीन के विरुद्ध रंथम्भोर के सम्राट् के वीर संघर्ष का विवरण है। इसके बाद पन्ना के राजा छत्रसाल के समय में लाल कवि ने पद्य में बुन्देल खंड का इतिहास लिखा।

मुग़ल काल में हिन्दी

मुग़ल काल में हिन्दी का बहुत प्रोत्साहन मिला और साहित्यक क्षेत्र में भी बड़ी प्रगति हुई। भक्ति भाव से प्रेरित होकर के राम और कृष्ण साहित्य के सम्बन्ध में इस युग में जिन ग्रन्थों की रचना हुई उनका उल्लेख तो पहिले ही हो चुका है। अकबर के समय में हिन्दी को विशेष रूप से प्रोत्साहन मिला और उसकी सभा में भी बहुत से हिन्दी साहित्यिक थे। कहा जाता है कि अकबर राय के नाम से सम्राट् ने स्वयं कुछ पंत्तियाँ रची। टोडरमल ने भी नीति सम्बन्धी कुछ पद लिखे। वीरबल को तो 'कविराय' की उपाधि मिली थी। इन्होंने और कवियों को भी प्रोत्साहन दिया। राजा मनोहरदास तथा अबुफैज ने भी पत्तियाँ लिखी। अब्दुल रहीम खानखाना ने 'रहीम सतसई' लिखकर हिन्दी की बड़ी सेवा की। तानसेन का 'संगीत सार' और 'रागमाला' भी उल्लेखनीय है। प्रसिद्ध कवि गंग ने भी

अकबर की राज्य सभा सुशोभित की। प्रादेशिक साहित्यकारों में केशव का नाम विशेषतया उल्लेखनीय है। इन्होंने काव्यकला पर सर्वप्रथम ग्रन्थ लिखा। इन्होंने अपने 'कविप्रिया' नामक ग्रन्थ में कविता की रचना पर वृहत् रूप में प्रकाश डाला है। इस सम्बन्ध में इन्होंने 'रसिक प्रिया' और 'अलंकार मंजरी' ग्रन्थ भी लिखे और उनकी 'रामचन्द्रिका' तो बहुत सुन्दर है। केशव के समकालीन साहित्यिक कलाकारों में उनके भाई बलभद्र थे जिन्होंने 'नखशिख' की रचना की, और 'नायक नायिका भेद' ग्रन्थ भी लिखा। बालकृष्ण त्रिपाटी ने 'रस चन्द्रिका' नामक ग्रन्थ लिखा। 'कविराय' की उपाधि का वितरण मुगलकाल में बराबर होता रहा। शाहजहाँ के समय में सुन्दर नामक कविराय ने 'सुन्दर शृंगार' ग्रन्थ लिखा और बृजभाषा में 'सिंघासन बतीसी' भी लिखा जिसका अनुवाद बाद में उर्दू में लल्लूजी लाल ने किया। इस युग में भूषण का नाम विशेषतया उल्लेखनीय है और उन्होंने सतारा के शिवाजी और पन्ना के छत्रशाल की राज्यसभायें सुशोभित की। इनका ग्रन्थ 'शिवराज भूषण' अद्वितीय है। मतिराम त्रिपाठी का नाम भी उल्लेखनीय है। इनकी कृतियों में 'सतसई है।

आधुनिक हिन्दी साहित्य

मध्य युग में राज्य की ओर से प्रोत्साहन मिलने का कारण हिन्दी में जिन कृतियों की रचना हुई उनमें अपने संरक्षकों की प्रशंसा और यश का गुणगान किया गया है। ग्रन्थों की रचनायें भी हुई। मध्य युग के अन्तिम चरण में राज्यों के नष्ट होने के कारण साहित्यकों को प्रोत्साहन के अभाव से अब अपनी प्रवृति बदलनी पड़ी। उन्होंने गिरती हुई परिस्थिति पर प्रकाश डाला और आँसू बहाये जिसका चित्रण उनके ग्रन्थों से प्रतीत होता है। साहित्य नवीन युग की ओर प्रस्तुत हो रहा था और नई विचार धाराओं का संचार हो चुका था। अंग्रेजों के भारत मे प्रवेश से और उन धर्म प्रचारकों को जनता तक पहुँचने के लिए यह आवश्यक था कि हिन्दी भाषा और इसके साहित्य में नवीनता आ जाय। इस युग में लल्लूजीलाल

सदल मिश्र और सदासुख राय ने बहुत कार्य किया। लल्लूजीलाल उर्दू में भी लिखते थे और उन्होंने खड़ी बोली में अपना 'प्रेमसागर' लिखा जो भागवत पुराण के दशवें के स्कन्ध से उद्धित है। इनके अतिरिक्त इन्होंने 'राजनीति' 'सिंघासन वतीसी' और 'वैतालपचीसी' ग्रन्थ लिखे जो पद्य में हैं। सदल मिश्र ने 'नासिकेतो पाख्यान' नामक ग्रन्थ लिखा, जिसमें चन्द्रावती की कथा कही गई है। सदासुखराय ने भागवत का हिन्दी में अनुवाद किया। सैयद ईशाउल्लाह खां ने 'रानी केतकी की कहानी' लिखी। मिराम पुर से विलियम केरी और उनके साथियों ने इंजील के न्यूटेस्टामेंट का हिन्दी में अनुवाद प्रकाशित किया और पूरी इंजील का हिन्दी में अनुवाद १८१८ में प्रकाशित किया गया। बंगला में यहाँ से एक पत्र भी निकाला गया। हिन्दी में १८३७ से ग्रन्थ छपने लगे। १९वीं शताव्दी में जिन साहित्यकारो ने हिन्दी को बढ़ाया उनमें राजा शिवप्रसाद और भारतेन्दुबाबू हरिश्चन्द्र प्रमुख है। राजा शिवप्रसाद ने उर्दू और लल्लूजीलाल की खड़ी बोली के बीच अपना साहित्यिक मार्ग चुना बहुत से अनुवाद तथा पाठ्य पुस्तकें उन्होंने लिखी। भारतेन्दु बाबू ने लगभग १७५ ग्रन्थ अपने ३५ वर्ष के अल्प जीवन काल में लिखे जिनमें १८ केवल नाटक हैं। उन्होंने बृज-भाषा को अपनाया और हिन्दी काव्य में जीवन डाल दिया। भारतेन्दु बाबू ने अपनी कृतियों से समाज को उत्तेजित, उत्साहित और सन्मार्ग पर लगाना चाहा। साहित्य का ध्येय देश के हितों की ओर मानव समाज का ध्यान दिलाना भी था। भाषा के परिमार्जन में उन्होंने राजा लक्ष्मणसिंह का अनुकरण किया जिन्होंने गद्य और पद्य दोनों में शुद्ध हिन्दी शब्दों का ही प्रयोग किया। भारतेन्दुयुग में हिन्दी साहित्य में उपन्याम, गल्प तथा पत्र प्रकाशन आरम्भ हुआ। साहित्यिक लेखकों में प्रतापनारायण मित्र, बालकृष्ण भट्ट, तथा बद्री नारायण मिश्र के नाम उल्लेखनीय हैं।

बीसवीं शताब्दी का हिन्दी साहित्य

बीसवीं शताब्दी के प्रथम चरण में हिन्दी में जटिल सांस्कृतिक तथा

साहित्यिक विषयों पर पुस्तकें तथा निबन्ध लिखे गये। इस काल को द्विवेदी युग नाम से भी सम्बोधित किया जाता है। 'सरस्वती' पत्रिका में शुद्ध हिन्दी में निबन्ध प्रकाशित होनें लगे और बहुत से अंग्रेजी और बंगला ग्रन्थों से अनुवाद भी इस युग में प्रकाशित हुए। हिन्दी के पाठकों को पाश्चात्य तथा बंगला साहित्य का आनन्द इन अनुवादित ग्रन्थों में मिलने लगा। किशोरीलाल, रूपनारायण पाण्डे और मिश्र बन्धु के नाम विशेषतया उल्लेखनीय है, और पद्य में पं० श्रीधर पाठक, मैथिलीशरण गुप्त और हरिऔध के नाम प्रसिद्ध है। गुप्तजी के 'भारत भारती' और हरिऔध के 'प्रियप्रवास' में देश भक्ति की भावना कूट कूट कर झलकती है। हिन्दी साहित्य की एक विचारधारा तो छायावाद की ओर प्रवाहित हो रही थी जिसमें कलाकार अब अनुवाद तथा वास्ताविकता से सन्तुष्ट न थे, और वे अपने विचारों को एक परिधि में सीमित नहीं देख सकते थे। दूसरी ओर सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक परिस्थितियों की ओरभी साहित्यकारों का ध्यान गया। गद्य साहित्य में प्रेमचन्द ने समाज की बड़ी सेवा की। इनके ग्रन्थों में वास्तविक भारतीय जीवन का चित्रण किया गया है। 'गोदान' और 'सेवासदन' तो प्रेमचन्द के सबसे सुन्दर ग्रन्थ हैं जो उच्च कोटि के माने जाते हैं। बीसवीं शताब्दी के द्वितीय चरण में निबन्ध और समालोचना के क्षेत्र में श्यामसुन्दरदास और रामचन्द्र शुक्ल का नाम विशेषतया उल्लेखनीय है। पन्त, प्रसाद, निराला और महादेवी वर्मा ने पद्य साहित्य को अपनी कृतियों से अलंकृत किया। नाटकों में प्रसाद जी सर्वोत्तम स्थान रखते हैं, जिन्होंने भारतेन्दुबाबू के बाद इस ओर विशेष रुचि दिखाई।

प्रगतिवाद की ओर

१९३७ के बाद बीसवी शताब्दी का तृतीय चरण आरम्भ होता है जिसमें साहित्यकार एक नवीन दिशा की ओर प्रस्तुत हुए। पाश्चात्य विचारधारा के अन्तर्गत, मार्क्सवाद तथा साम्यवाद ने भारतीय युवकों के ऊपर अपना प्रभाव डाला और विदेशी सत्ता को भारत से निकालने के लिए साहित्यकारों

के हृदय में स्वतंत्रता की भावना कूट-कूट कर भर दी। पर यह केवल इतने तक ही नहीं सीमित रही। साहित्यकारों की राष्ट्रीय और अन्तर्राष्ट्रीय भावनाएँ प्रबल होने लगी। सुभद्राकुमारी चौहान, बालकृष्ण शर्मा नवीन तथा दिंकर की पद्य रचनाओं में देश के प्रति अटूट प्रेम और स्वतंत्रता भावना की झलक मिलती है। श्रीमती चौहान की प्रसिद्ध रचना, 'खूब लड़ी मर्दानी वह तो झांसी वाली रानी थी', नें वास्तव में भारतीयों के हृदय में स्वतंत्रता की अग्नि प्रज्वलित कर दी। गद्य में राहुल सांकृत्यायन और यशपाल ने अपनी कृतियों द्वारा हिन्दी पाठकों को पाश्चात्य विचारधारा और संस्कृति का दिग्दर्शन कराया। भारतीय संस्कृति में इस प्रगतिवाद साहित्य के फलस्वरूप अब दो नवीन विचाराधाराओं का प्रवेश हो रहा है। एक ओर तो भारतीयों में अपनी प्राचीन संस्कृति पर गर्व की भावना बढ़ती जा रही है और दूसरी ओर अन्तर्राष्ट्रीयता के अन्तर्गत विश्वबन्धु और मुख्यतया ऐशियाई एकता की नीव पड़ गई है। आगे की साहित्यिक कृतियाँ ही उन विचारों की पुष्टि कर सकेंगी।

उत्तरी भारत का अन्य साहित्य

भारतीय संस्कृति के विकास में उत्तरी भारत की अन्य भाषाओं का भी हाथ रहा है और इन भापाओं मे उल्लिखित साहित्य द्वारा हमको तत्कालीन भारतीय परिस्थिति का ज्ञान प्राप्त होता है। इन भाषाओं में मुख्यतया हम बंगला, उर्दू, गुजराती, मराठी तथा दक्षिण साहित्य के सम्बन्ध में कुछ विचार प्रगट करेंगे। बंगला में मध्यकालीन साहित्य मुख्यतया कृष्ण अथवा शिव भक्ति उपासना से सम्बन्धित रहा है। १५वीं शताब्दी में महाभारत का काशीराम दास ने बंगला में अनुवाद किया। अंग्रेजी भाषा के सम्पर्क के कारण १९वी शताब्दी में बंगला में गद्य रचनायें आरम्भ हुई और इसका श्रेय राजा राम मोहन राय को है। सामाजिक प्रश्नों को लेकर, अक्षय कुमार दत्त और ईश्वरचन्द्र विद्यासागर ने अपनी लेखनी से बंगला साहित्य को विभूषित किया। उपन्यास का प्रादुर्भाव भी इसी समय में बंकिम चन्द्र चटर्जी की

'दुर्गेशनन्दिनी' से हुआ और'बंगाल दर्शन' नामक पत्र प्रकाशन से गल्प और उपन्यास साहित्य को प्रोत्साहन मिला। हेमचन्द्र तथा नोबिन चन्द्र ने भी बकिम चन्द्र की राष्ट्रीय विचारधारा के अन्तर्गत पद्य रचनायें की। रमेशचन्द्र दत्त ने प्राचीन भारतीय संस्कृति तथा ऐतिहासिक और सामाजिक प्रश्नों को लेकर कई ग्रन्थों की रचना की। इनके अतिरिक्त १९वीं शताब्दी में ईश्वर चन्द्र गुप्त और मधुसूदन दत्त का नाम विशेषतया उल्लेखनीय है। दिनेशचन्द सेन ने खोजकर बंगला साहित्य के इतिहास को लिखा। बीसवी शताब्दी में बंगला साहित्य में रवीन्द्रनाथ ठाकुर का अपना स्थान है। उन्होंने एक ओर प्रकृति का अध्ययन किया और दूसरी ओर अंग्रेजी पद्य साहित्य के प्रेमी बने। कालिदास, जयदेव और अन्य वैष्णव कवियों की रचनाओं से भी उन्हें बड़ी प्रेरणा मिली। सर्वप्रथम 'नैवेध' के नाम से उनकी १०० कविताओं का संकलन प्रकाशित हुआ। इनकी कृतियों में बंगाल विभाजन के समय में लोगों के हृदय में नवीन जागृत उत्पन्न कर दी। देश भक्ति के साथ ईश्वर और जीवन के महत्व की भावना भी पूर्णतया जागृति हो उठी। रवीन्द्र नाथ ठाकुर के समकालीन कवियों में देवेन्द्रनाथ सेन, अक्षय कुमार और द्विजेन्द्रलाल राय थे। गद्य साहित्य में शरतचन्द्र चट्टोपाध्याय का नाम विशेपतया उल्लेखनीय है। उनकी कृतियों में बगाल के सामाजिक जीवन की वास्तविक झलक मिलती है; और इनके ग्रन्थों का अनुवाद हिन्दी तथा अन्य भाषाओं में भी हुआ। ग्राम जीवन और इससे सम्बन्धित पद्य साहित्य में नजरूल इस्लाम और जैसुमुद्दीन का नाम उल्लेखनीय है। इस युग में कुछ उग्रनवीन विचारधारा वाले कवि भी हुए और उनकी कृतियों में आत्म श्लाघता की भावना मिलती है, पर गद्य उपन्यासकारों में शरतचन्द्र के बाद विभूतिभूपण बनर्जी का नाम आता है और उनकी 'पाथेर पंचली' में साधारण ग्रामीण जीवन का चित्रण किया गया है। वर्तमान युग में तीन साहित्यिक प्रवृतियों का प्रवाह प्रतीत होता है। एक ओर तो साहित्यिक कलाकार रवीन्द्र नाथ तथा शरतचन्द्र द्वारा स्थापित परम्परा का अनुसरण कर रहे हैं, दूसरी ओर उग्रनवीन विचारधारा वाले हैं, और तीसरी और वामपक्षी है। वर्तमान

लेखकों में ताराचन्द्र वन्दोपाध्याय के उपन्यास अत्यंत लोकप्रिय हैं।

उर्दू साहित्य

उर्दू साहित्य की स्थापना १६वीं शताब्दी में दक्षिण में हुई थी। उसके बाद दिल्ली में १८वीं शताब्दी के अन्त और १९वीं शताब्दी के आरम्भ में उर्दू साहित्यकारों में सौदा और तकी के नाम प्रमुख है और वली मोहम्मद नजीर ने अपनी कृतियों में ठेट फारसी के स्थान पर साधारण उर्दू शब्दों का प्रयोग किया। लखनऊ में भी उर्दू और उसके साहित्य के प्रसरण में नवाबों का बड़ा हाथ था। उन्होंने इन कलाकारों को बड़ा प्रोत्साहन दिया। नवाबी युग में उर्दू में नाटक लिखे गये। अमानत लखनवी ने 'इन्द्र सभा' लिखा। जीवन के विलास और आमोद की सामग्री तथा उमरावो के जीवन को लेकर नाटक लिखे गये। उर्दू उपन्यास लेखकों ने अपनी कृतियों में जीवन की वास्तविकता की अपेक्षा हूरपरियों और विचित्र अस्वाभाविक परिस्थितयों का चित्रण किया। मिर्जा रजम अली सरुर के 'फसान ने अजायब' में इसी प्रकार की विचारधारा प्रदर्शित है। मनुष्य के वास्तविक जीवन का चित्रण और सामाजिक परिस्थिति तथा लेखक के मानसिक विकास का ज्ञान हमें पंडित रतन नाथ सरशार, मुन्सी सज्जाद हुसेन और डा० नजीर अहमद की कृतियों में मिलता है। रतननाथ क उपन्यासों में लखनऊ का पुराना जीवन चित्रित है। इनका 'फिसाना आजाद' और सजाद हुसेन का 'हाजी बगलोल' उर्दू साहित्य के अनुपम ग्रन्थ हैं। उर्दू काव्य और उपन्यास में मानव समाज और उसकी समस्याओं का चित्रण करने का प्रयास सर सैयद अहमद खाँ के कारण हुआ। नवीन विचार-धारा ने साहित्यिक क्षेत्र में प्रवेश किया। प्रेमचन्द ने उर्दू साहित्य में कहानी कला का संचार किया। इस कला के क्षेत्र में प्रगतिशील साहित्यकों ने जीवन के भिन्न-भिन्न पहलुओं की लेकर अपनी रचनाएँ लिखी। इन रचनाओं में भारतीय संस्कृति की झलक दिखाई पड़ती है।

गुजराती मराठी साहित्य :

गुजरात में भी १५वीं शताब्दी से भक्ति साहित्य की रचना नरसी

मेहता तथा मीराबाई के पदों से हुई। इनके वाद प्रेमानन्द भट्ट, रेबाशंकर तथा सामल भट्ट हुए। महाभारत का अनुबाद रेवाशंकर ने किया। साहित्यिक क्षेत्र में पाश्चात्य सभ्यता का प्रभाव १६वीं शताब्दी में प्रतीत होने लगा। इस शताब्दी में नरमाद तथा गोवर्धन ने पश्चिमी दृष्टिकोण से भारतीय समाज की कुरीतियों पर ध्यान दिया। साहित्यिकों ने सामाजिक विषय जैसे बाल विवाह, बाल विधवा इत्यादि रूढ़वादी परमपराओं के विरुद्ध आवाज़ उठाई। गाँधीजी के पदार्पण से आर्थिक समस्याओं तथा ऊँच-नीच और छुआछूत को लेकर गल्प, उपन्यास तथा नाटक क्षेत्र में बड़ी प्रगति हुई। श्री कन्हैयालाल माणिकलाल मुन्शी ने भारत के प्राचीन और गौरवपूर्ण इतिहास को लेकर बहुत से उपन्यास तथा नाटक लिखे। वर्तमान युग में गुजराती लेखकों ने अपनी विचारधारा केवल इतने क्षेत्र तक ही सीमित नही रक्खी है। महाराष्ट्र में तुकाराम और नामदेव का नाम भक्ति साहित्य में विशेषतया महत्व रखता है, और इनका उल्लेख पहिले ही किया जा चुका है। श्रीधर ने १८वीं शताब्दी के आरम्भ में भागवत पुराण का अनुवाद मराठी में किया। शिवाजी के पिता शाहजी के समय में एकनाथ तथा गुरुराम दास हुए जिनका 'दाश्बोध, धार्मिक चरित्रावली' ग्रन्थ है। भक्ति काव्य मे महीपनि (१८वीं शताब्दी) का भी अपना स्थान है। भक्ति के अतिरिक्त मराठी में वीर काव्य (पाम्वाडा) तथा शृंगार काव्य (लावर्णी) की भी रचनायें हुई। गद्य साहित्य का भी प्रादुर्भाव १६वीं शताब्दी से आरम्भ हुआ और नाटक भी लिखे गये। १८७४ में विष्णुशास्त्री चिप्लुकर का 'निबन्धमाला' नामक ग्रन्थ छपा और इसी समय से 'केशरी' और मरहठा' का प्रकाशन आरम्भ हुआ। मराठी साहित्य में राजनीति का प्रवेश जल्दी हुआ। चिप्लंकर और तिलक ने बहुत काल तक मराठी और इसके साहित्यक को अपनी ओजस्विनी लेखनी से राजनीतिक विषयों द्वारा अलंकृति किया। इनके बाद हरिनारायण आप्टे ने सामाजिक और ऐतिहासिक विषय लेकर कई उपन्यास लिखे। इस साहित्य में नाटक और गल्पकथा भी अच्छी तरह लिखी गई।

दक्षिणी साहित्य

दक्षिणी साहित्य में तामिल और कन्नरी अतिप्राचीन है। किंवन्दन्ती के अनुसार दक्षिण में साहित्य का प्रादुर्भाव अगत्स्य ऋषि के आगमन से हुआ। सबसे प्राचीन ग्रन्थ 'नालडियोर' है। इसी समय में तिरुवल्लुवार ने 'कुरॅल' नामक पद्य रचना की। इनके अतिरिक्त 'चिन्तामणि' कम्बन की 'रामायण' 'दिवाकरम्' नामक तामिल शब्द कोश और नन्नूल की व्याकरण उल्लेखनीय है। जैनियां के पश्चात् शैवियों ने भी तामिल में अपने ग्रन्थों की रचना की। बल्लभदेव के समय में संस्कृत ग्रन्थों का अनुवाद हुआ। १७वीं शताब्दी में ब्राह्मणों के विरुद्ध भी रचनायें लिखी गई जो सिहार अथवा सिद्ध के नाम से प्रसिद्ध हैं। १८वीं और १६वीं शताब्दी से तामिल लेखकों में ताक्यमानवन् का नाम प्रसिद्ध है और इनकी रचनाओं में कुछ विदेशी प्रभाव प्रतीत होता है। तामिल साहित्य में भाषा और तामिल देश के गुणगान की भावना प्रबल हो उठी है पर इसके साथ साथ देशीय और अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में अपनी संस्कृति और साहित्य को स्थान दिलाने का प्रयास अवश्य है। कन्नरी भाषा के उत्थान में भी जैनियों का बड़ा हाथ रहा है पर शिव-शक्ति भक्ति ग्रन्थो की रचनायें हुई जिसमें 'वसवपुराण' और 'सोमेश्वर का शतंक' है। बीसवी शताब्दी में साहित्यिक क्षेत्र में बड़ा कार्य हुआ और १६१४ में साहित्य परिषद् की स्थापना हुई। १६२० के बाद का समय वास्तव में कन्नड़ साहित्य का स्वर्ण युग है।

भारतीय संस्कृति के सम्बन्ध में अन्य साहित्य और साहित्कारों और उनकी प्रवृतियों तथा विचारधाराओं पर प्रकाश डालना अनावश्यक है। यह मानना पड़ेगा कि सम्पूर्ण भारत में विभिन्न प्रान्तीय भाषाओं के साहित्य में राजनीतिक सामाजिक तथा धार्मिक परिस्थितियों का चित्रण किया गया है। किसी भी युग में प्रचलित विचारधारा के प्रतिकूल साहित्यिक कृतियोंकी रचना नहीं हुई है। क्रमशः वीरगाथा, भक्ति, श्रंगार युगों के बाद पाश्चात्य सभ्यता के सम्मर्क से विदेशी ग्रन्थों का अनुवाद भी भारतीय भाषाओं में हुआ। साहित्य-

कारों ने अपनी लेखनी को केवल धार्मिक विषयों तक ही सीमित नहीं रक्खा वरन् उन्होंने क्रमशः सामाजिक, राजनीतिक और आर्थिक समस्याओं पर लेखनी चलाई। यह सच है कि पाश्चात्य प्रभाव भी भारतीय संस्कृति और साहित्य पर पड़ा, पर लेखकों ने इसे केवल अपनी विचारधारा को विस्तृत रूप से आगे बढ़ाने में सहायक के रूप में ही अपनाया। कभी भी पाश्चात्य सभ्यता ने भारतीय साहित्य पर अपना आधिपत्य नहीं जमाया। वर्तमान युग में दो विचारधारायें प्रबल रूप से बह रही हैं। एक के अन्तर्गत भारतीय प्राचीन संस्कृति और सभ्यता के प्रत्येक रूप को प्रदर्शित करना है और दूसरा साधारणतया विश्व और मुख्यतया ऐशियायी देशों का भारतीय संस्कृति की प्राचीन परम्परा को लेकर एकीकरण के सूत्र में बाँधने का प्रयास करना है। साहित्यकार और उसकी लेखनी वर्तमान युग की सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक परिस्थितियों से विमुख नहीं हो सकते हैं। वास्तव में भविष्य का मानव समाज भारतीय संस्कृति और वर्तमान युग की जागृति का आस्वादन इस समय की साहित्यिक कृतियों द्वारा ही कर सकेगा।

अध्याय २५

नाटक

भारत की प्राचीन सांस्कृतिक परम्परा में नाटक का भी विशेष स्थान रहा है। यह कहना कठिन है कि नाटक का प्रादुर्भाव किस समय से हुआ। संस्कृत धातु नृत-नाचने का प्राकृतिक रूप नट् बना और कदाचित यह प्रतीत होता है कि नाटक में नृत्य का होना आवश्यक रहा होगा। यह जान पड़ता है कि आरम्भ में जनता के मनोरंजनार्थ एक साधारण नृत्य होता था जिसके लिए मंच तैयार किया जाता था और फिर धार्मिक कथाओं को लेकर एक परिपाटी के अन्तर्गत नाटक खेले गये। भारतीय नाटक स्वतन्त्र रूप से उठा और यह कहना भूल होगा कि इसका जन्म यूनानी सम्मर्क के कारण हुआ। पूर्वा और उर्वसी की कथा का विवरण ऋग्वेद में है और पाणिनि ने सर्वप्रथम शैलालिन् और कृशाश्विन् का उल्लेख किया है। पतन्जलि ने महाभाष्य में कंसवध और बलिवंध के प्रदर्शन का उल्लेख किया है। इसके अतिरिक्त भाष्यकार ने नट, नर्तक और शोभनिक का भी उल्लेख किया है। उनके पारस्परिक विवाद का भी उल्लेख मिलता है। वास्तव में भारतीय नाटककारों का युग भास से आरम्भ होता है और उन्होंने 'स्वप्नवासवदत्ता' और 'दरिद्रचारुदत्त' नामक नाटक लिखे। अश्वघोष ने ईसवी की पहिली शताब्दी में 'सारिपुत्र प्रकरण' लिखा जिसके अंश मध्य ऐशिया में मिले। कालिदास के समय से भारतीय इतिहास में नाटक और नाटककारों को विशेष स्थान प्राप्त हुआ। इनके तीन प्रसिद्ध नाटक 'मालाविकाग्निमित्र', 'शकुन्तला' और 'विक्रमोंवशी' हैं। शूद्रक का 'मृच्छकटिक' ईसवी की छटवी शताब्दी का है और कदाचित् इसे किसी अन्य नाटककार ने शूद्रक के नाम से प्रसारित किया। इसमें बसन्त सेना नामक एक धनी गणिका और उसका चारुदत्त नामक एक ब्राह्मण से प्रेम का चित्रण है। कन्नौज के श्रीहर्ष ने 'रत्नावली' और 'नागानन्द' नामक

दो नाटक लिखे। 'रत्नावली' में वत्स के सम्राट् उदयन का वासवदत्ता की चारिका सागरिका के प्रति प्रेम प्रदर्शन है। वास्तव में यह लंका की कुमारी रत्नावली थी। ८वीं शताब्दी में भवभूति ने 'मालती माधव', 'महावीर चरित्र' और 'उत्तर राम चरित्र' नामक नाटक लिखे। प्रथम नाटक में उज्जैन के एक विद्यार्थी का वहां की मालती के साथ प्रेम का उल्लेख है और अंत मे उनका विवाह हो जाता है। महावीर चरित्र में श्री राम के सिंहासनारूढ़ होने तक का रुपक है और इसके बाद का जीवन दूसरे नाटक में चित्रित है। विशाखदत्त ने 'मुद्राराक्षस' और 'देवीचन्द्रगुप्तम्' नामक दो नाटक लिखे। यह दोनों राजनीतिक विषयों को लेकर लिखे गये। पहिले में चाणक्य का राक्षस अमात्य को अपनी ओर तोड़ने का प्रयास है और दूसरे में चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य का शक नृप और अपने ज्येष्ट भाई को मारकर, ध्रुव देवी से विवाह कर सिंहासनारुढ होना है। भट्ट नारायण के 'वेणीसंहार' में द्रौपदी के बाल खीचने और अपमान का चित्रण है। प्रतिहार सम्राटों के समय में राजशेखर ने तीन नाटक लिखे। 'विद्धशालभन्जिका' कदाचित् रत्नावली से उद्धृत है। 'बाल रामायण' में राम के विवाह से लेकर अयोध्या वापस आने तक का चित्रण है, और 'बाल भारत' में द्रौपदी के विवाह से लेकर पान्डवों के अज्ञातवास तक के समय का वर्णन है। महीपाल के समय में 'चन्डकौशिक' नाटक की भी रचना हुई। 'कृष्णमिश्र का' प्रबोध चन्द्रोदय' ११वीं शताब्दी का नाटक है। इसके केवल वैष्णव विचारधारा की बड़ाई की गई है।

प्राचीन भारतीय नाटकों की विशेषताएं

प्राचीन भारतीय नाटकों में कुछ विशेषताएँ हैं जिसके कारण वे पश्चिमी नाटकों से भिन्न है। आरम्भ में शिव अथवा विष्णु और नागानन्द में तो बुद्ध की आराधना की गई है। आमुख अथवा प्रस्तावना नन्दी और सूत्रकार के आगमन से आरम्भ होती है और इसमें नाटक और उसके पात्रों का सूक्ष्म परिचय दिया जाता है। नाटक कई अंकों में विभाजित होता है और प्रत्येक अंक में समय का पूरा ध्यान रहता है और एक की दूसरे के साथ कड़ी मिली

रहती है। नाटक में सभी रसो का चित्रण करना आवश्यक है। पर वीर और श्रृंगार रसों को प्रधानता दी जाती है। पात्रों में ब्राह्मण तथा श्रेष्ठ व्यक्ति संस्कृत में बोलते हैं और स्त्रियाँ तथा दास इत्यादि प्राकृत का प्रयोग करते हैं। नाटक का विषय इतिहास, पुराण अथवा अन्य कथाओं के अनुसार होता है। राजनीतिक व सामाजिक व्यवस्था का भी चित्रण किया जाता है। विदुषक भी अपनी हास्य वार्ता तथा कृतियों से जनता को आमोदित करता है। रंगमंच मे केवल सामने का भाग खुला रहता है। पात्रों के श्रृंगार तथा लौट कर ठहरने का स्थान नेपथ्य कहलाता है। यवनिका अथवा पर्दे से यह प्रतीत होता है कि कदाचित् इस शब्द का यवनों के प्रभाव से सम्बन्ध रहा होगा, पर वास्तव में भारतीय नाटक यूनानी नाटक से भिन्न है। यह उस समय मे खेला जा रहा है जब यवनों का भारत में प्रवेश भी नहीं हुआ था। भारतीय नाटक में एक विशेषता यह भी है कि सुखद दृश्य के साथ इसकी समाप्ति होती है और जनता सन्तुष्ट होकर लौटती है।

मध्य युग

मुसलमानी राज्य स्थापना के फलस्वरूप साहित्य और साहित्यकारों को प्रोत्साहन न मिल सका पर भक्तिभाव मे प्रेरित होकर तथा स्थानीय शासकों के प्रोत्साहन से कुछ नाटक लिखे गये जो केवल प्रान्तीय क्षेत्र तक सीमित रहे। उनके विषय रामायण, महाभारत तथा पुराणों से उद्धृत दृश्य थे। १५वीं से १८वीं शताब्दी के बीच में कोई १०० से ऊपर नाटक लिखे गए पर वे न तो साहित्यिक परम्परा के आधार पर थे और न उनमें नाटक की वह रूप-रेखा थी जो प्राचीन संस्कृत नाटकों में थीं। यह प्रायः बगाल में जात्रा की भाँति थे और विद्यापति तथा चन्डीदाम के भक्तिगान से ओतप्रोत थे। सामाजिक अथवा राजनीतिक या आर्थिक विषयों को लेकर नाटक नहीं लिखे गए। इनका उद्देश्य तो केवल जनता को भक्ति भावना से ओतप्रोत्र करना था। आसाम में 'ओजपलि' नामक नाटकों में पद्य में कोई धार्मिक घटना को वर्णित किया जाता था और 'पालि' नामक पार्टी

नृत्य और गायन में भाग लेती थी । यहाँ भी शंकरदेव और माधवदेव ने 'ओजपलि' में वैष्णव भक्तिभाव का बीज डाल दिया । यह नाटक के आधार पर होते थे । राजाओं की ओर से भी प्रोत्साहन मिलने के कारण यह परम्परा चलती रही । लम्बोदर बोस ने १८वीं शताब्दी में शकुन्तला का आसामी में अनुवाद किया । बंगाल में भी १६वीं शताब्दी में जात्रा नामक धार्मिक समूह, जिसमें गान और नृत्य का स्थान था, पूर्णतया प्रचलित हो चुकी थी । होली के अवसर पर डोल जात्रा और श्रावन की रथजात्रा प्रसिद्ध हो चुके थे । इसके पश्चात् एक सीमित क्षेत्र में इनका प्रदर्शन आरम्भ हुआ । चैतन्य के समय में 'जगन्नाथ वल्लभ' नामक नाटक जगन्नाथपुरी के मन्दिर में खेला गया । स्त्रियों का भाग देवदासियों ने लिया । रूप गोस्वामी ने इसी समय राधा कृष्ण के प्रेम सम्बन्धित तीन नाटक संस्कृत में लिखे जो बाद में बंगला में भी अनुवादित किए गए । गोविन्ददास कविराज ने 'संगीत माधव' नामक संस्कृत नाटक लिखा । इन संस्कृत नाटकों में केवल कुछ ही अनुवादित होकर खेले गये । जात्रा तो केवल बोलचाल और खेलने तक ही सीमित रह गई । उन्हें लिखा नहीं जा सका । १७वीं शताब्दी के आरम्भ से पाश्चात्य संस्कृति और नाटक का भारतीय नाटक और उसकी परम्परा पर भी प्रभाव पड़ा और एक नवीन विचारधारा प्रवाहित हो उठी ।

भारतेन्दु युग :

हिन्दी में नाटक का प्रादुर्भाव भारतेन्दु बाबू के समय में होता है । इनका समय १६वीं शताब्दी का अन्तिम चरण था । अपने १८ वर्ष के साहित्यिक काल में इन्होंने बहुत से नाटक लिखे जियमें मुख्यतया 'सत्य हरिश्चन्द' 'भारत दुर्दशा', 'विद्या सुन्दर' तथा 'प्रेम जननी' हैं । 'सत्य हरिश्चन्द्र' तो प्रसिद्ध पौराणिक कथा के आधार पर लिखा गया और इसके बहुत पहिले मैथिली भाषा में भी लिखा जा चुका था । भारतेन्दु बाबू से पहले उनके पिता गिरधर दास ने 'नहुष नाटक' ब्रज भाषा में लिखा पर यह बिलकुलसाधारण है । राजा लक्ष्मण सिंह कृत 'शकुंतला' ब्रज भाषा में है । इसमें मौलिकता का

अभाव है और यह केवल अनुवाद है। भारतेन्दु बाबू के नाटक-लगभग २०-अधिकांश रूप से अनुवादित नहीं है पर छायावाद अवश्य है और रंग मंच पर खेले जा सकते हैं। भारतेन्द बाबू का प्रयास सफल रहा। इन नाटकों ने जनता की मनोवृत्ति को जागृति कर दिया और इनमें मनोरंजन के अतिरिक्त किसी प्रकार की व्यवसायिक भावना न थी। इनके विपक्ष में पारसी व्यवसायियों द्वारा खोली गई कम्पनियाँ थीं जो उर्दू में लिखे नाटक खेलती थी और इनकी परम्परा लखनऊ के अमानत लखनवी द्वारा लिखित इन्दर सभा के आधार पर थी। उधर पाश्चात्य गायनवादन का प्रभाव भी भारतीय रंग मंच पर विदित होने लगा था और इन कम्पनियों ने इसको अपनाया। यह कम्पनियाँ अपने ढंग से सफल रहीं पर उत्तरी भारत की नाटक मन्डलियों ने भी अपना प्रभाव जमाना चाहा, और हिन्दी के नाटककारों ने पूर्णतया सहयोग दिया। सबसे पहले बनारस में १८६८ में शीतला प्रसाद त्रिपाठी द्वारा लिखित 'जानकी मंगल' नाटक खेला गया। १८८८ में कानपुर में प्रथम नाटक मन्डली खोली गई और उसके बाद क्रमशः १८९८में श्री रामलीला नाटक मन्डली और बाद में हिंदी नाट्य समिति खोली गई। नाटकों में श्री निवास कृत 'रणधीर प्रेम मोहिनी' और बद्री नारायण चौधरी कृत 'भारत सौभाग्य' तथा तोताराम का 'केटो कृतांक' इस समय के हैं। बालकृष्ण भट्ट ने 'पद्मावती', 'दमयन्ती स्वयंबर', 'वेणी सहार', 'शर्मिष्टा' और 'चन्द्र सेन' नाटक लिखे। जिन अन्य नाटककारों ने भारतेन्दु बाबू की परम्परा का अनुकरण कर नाटक लिखे उनमें देवकीनन्दन त्रिपाठी का 'सीताहरण', शिवनन्दन सहाय का 'कृष्ण सुदामा', अयोध्या सिंह उपाध्याय का 'रुक्मिणी परिणय', राधा कृष्ण दास की 'दुखिनीबाला' और 'महाराणा प्रताप' इत्यादि हैं। इन नाटकों में भारतेन्दु की भाँति वह प्रतिभा तो नहीं है पर इनका उद्देश्य भारतीय संस्कृति, गौरव और सामाजिक जीवन का चित्रण है।

२०वीं शताब्दी की प्रथम चरण

बीसवीं शताब्दी के प्रथम चरण में दोनों प्रवृतियाँ साथ साथ चलती

रहीं। एक ओर तो पारसियों की थियेटर कम्पनियाँ थी जिनमें बम्बई की न्यू अल्फ्रेड, ओल्ड पारसी, अलेकेजेन्ड्रिया, और कलकत्ते की कोरिन्थियन थी और वे भारत के विभिन्न नगरों में घूम-घूम कर अपने नाटक प्रदर्शित करती थी। प्राय: मुख्य-मुख्य नगरों के टाऊन हाल में अथवा विशेष मंच बनाकर नाटक खेले जाते थे। दूसरी ओर धार्मिक नाटक मंडलियाँ भी थी जो भिन्न-भिन्न स्थानों में स्थापित हुई। उनमें से कुछ तो व्यवसायी थी और वे पहले कृष्ण की रासलीला और उसके बाद कोई धार्मिक नाटक दिखाती थीं। मनोरंजन के लिए बहुत से नवयुवक भी अपनी पार्टी तैयार लेते थे पर उनके खेल वर्ष में दो चार बार हो जाते थे और यह भी केवल अपने नगरों तक सीमित थे। व्यवसायी कम्पनियों ने जनता की रुचि और स्थानीय मंडलियों के प्रभाव को देखते हुए यह उचित समझा कि वे स्वयं भी धार्मिक नाटकों को खेले। जिन लेखकों ने इन कम्पनियों के लिए नाटक लिखे उनमें मुख्यतया आगाहश्र कश्मीरी, राधेश्याम कथावाचक, नारायण प्रसाद बेताब, तुलसीदत्त शैदा, इत्यादि थे। राधेश्याम ने मुख्यतया पौराणिक कथाओं से उद्धृत हिन्दी में नाटक लिखे जिसमें "वीर अभिमन्यु' 'रुक्मिणी मंगल' विशेषतया उल्लेखनीय है। इन नाटकों में गद्य और पद्य दोनों का प्रयोग होता था; हारमोनियम और तबले पर सुन्दर गाने गाये जाते थे और जनता में उत्तेजना, उत्साह तथा करुणा और भय की भावना स्वतः आ जाती थी। पात्रों के पारस्परिक संवाद में भी तुकबन्दी और हाजिर जवाबी पर विशेष ध्यान था। गम्भीर परिस्थित के बाद जनता को आमोदित करने के लिए हंसी मजाक और मूर्खता के दृश्य प्रदर्शित किये जाते थे जिन्हें कामिक सीन कहते थे। व्यवसायी कम्पनियों और उनके प्रोत्साहन पर लिखे नाटकों के अतिरिक्त कला और संस्कृति को दृष्टि में रखते हुए, भारतेन्दु की परम्परा को लेकर अन्य नाटक भी लिखे गये। माधव शुक्ल ने 'सिया स्वयम्बर' और महाभारत पूर्वार्द्ध', बद्री नाथ भट्ट ने 'कुरुवन दहन' और 'चुंगी की उमेदवारी', और माखनलाल चतुर्वेदी ने 'कृष्णार्जुन युद्ध' लिखा। मिश्र बन्धु ने भी 'पूर्व भारत' तथा कई और नाटक लिखे। इनके अतिरिक्त अन्य

भाषाओं से भी हिन्दी में नाटक अनुवादित किए गये। इनमें से बंगला के सुप्रसिद्ध नाटककार द्विजेन्द्रलाल राय और गिरिषघोष के नाटको के अनुवाद हैं। मौलिक नाटकों का हिन्दी में अभाव बना रहा।

प्रसाद युग

हिन्दी नाटक के इतिहास में जयशंकर प्रसाद का भारतेन्दु बाबू के बाद द्वितीय स्थान आता है। प्रसाद जी जब होश संभाल रहे थे उस समय भारतेन्दु का अस्त होता चाँद साहित्य गगन पर बना हुआ था। आशावादी और आस्तिकता की झलक प्रसाद जी के चरित्र और उनकी कृतियों में भलीभाँति मिलती है। उनके नाटक कथानक, पौराणिक, और ऐतिहासिक शिला पर निर्धारित किये गये, पर नवीन मनोवैज्ञानिक प्रकाश डालकर उन्होंने नाट्यकला को यथार्थवादी भावनाओं से सुगठित किया। भारतीय संस्कृति और इतिहास के प्राचीन आदर्शों का वर्तमान युग की भावनाओ से मिश्रण किया गया। उनके नाटक एकाँकी भी है जिनमें 'सज्जन', 'करुणालय' तथा 'प्रायश्चित' १६१०-१२ में लिखे गए। मध्य काल के समय के 'राज्यश्रीदत्त', 'विशाख' 'अजातुशत्रु', 'जनमेंजय' 'नाग यज्ञ' तथा 'कामना' है। प्रकाश जी की अनमोल कृतियो में 'स्कन्द गुप्त', चन्द्रगुप्त तथा 'ध्रुवस्वामिनी है। अन्तिम नाटक १६३३ में लिखा गया। हिन्दी एकांकी नाटकों में उनका 'एक घंटे' इसी काल का लिखा है और उसमें जीवन की विनोद और हास्यपूर्ण झांकी मिलती है। प्रसाद जी की नाट्य कला में कुछ विशेषतायें हैं जो क्रमशः देश प्रेम की भावना और प्राचीन संस्कृति को लेकर आगे बढ़ी है। नाटकों से ऐतिहासिकता और लेखक का गवेषणात्मक अध्ययन टपकता है। गम्भीरता नाटककार और उनके पात्रों के कथन से विदित होती है, और उन्होंने अपने नायकों का बड़े ही सुन्दर ढंग से चरित्र चित्रण किया है। १६३७ में प्रसाद जी की मृत्यु से भारतीय नाट्य साहित्यकारों के क्षेत्र में एक बडी खाई पैदा हो गई।

वर्तमान युग

हिन्दी नाटक का तीसरा युग सेठ गोविन्ददास से आरम्भ होता है। प्रसाद

और गोविन्ददास दोनों ने आर्य संस्कृति और प्राचीन इतिहास की शिला पर अपना नाट्य मंच स्थापित किया। पर सेठ जी ने भारतीय नाट्य शास्त्र को सामने रखकर पाश्चात्य नाट्य कला का परिचय दिया। एकांकी तथा अन्य नाटक मिलाकर गोविन्ददास जी की रचानायें १०० से ऊपर है। इनकी कृतियों में भारतीय राजनीतिक, राष्ट्रीय और सामाजिक जीवन का चित्रण है। नाटक साहित्य में आधुनिक युग की आत्मा दिखाई पड़ती है पर भारतीय इतिहास के आरम्भ से लेकर गांधी युग तक की बदलती हुई परस्थितियों तथा विदेशियों के आगमन से भारत में हुए परिवर्तन का पूर्ण रूप से चित्रण है। इनके नाटकों की भाषा सरल है और विचार मौलिक हैं। इनको क्रमशः ऐतिहासिक, सामाजिक, समस्यात्मक, तथा हास्यव्यंग प्रधान तथा सामाजिक समस्या प्रधान एकांकी, सत्य घटनाओं के आधार पर एकाँकी, एक पात्री नाटक, और वैदेशिक कथाओं पर रचित नाटकों में बाटा गया है। रामकुमार वर्मा के नाटकों में 'चारुमित्र' 'ध्रुव तारिक' इत्यादि है। इनके अतिरिक्त अन्य साहित्यकों ने भी हिन्दी में नाटक लिखे जैसे बेनी पुरी का 'अम्बापलि और 'नेत्रदान', कैलाश भटनागर का 'चाणक्य प्रतिज्ञा' और सीताराम चतुर्वेदी का 'सेनापति पुष्यमित्र'। जीवन की वास्तविकता और मानव हृदय की आन्तरिक पुकार को लेकर बहुत से नाटक लिखे गये जिनका ध्येय समाज की कुरीतियों की ओर ध्यान दिलाना था। इस दिशा में कृपानाथ मिश्र का 'मणि गोस्वामी' लक्ष्मी नारायण मिश्र का 'सिन्दूर की होली', 'राक्षस का मन्दिर' तथा 'मुक्ति का रहस्य' है। रामकुमार वर्मा के अतिरिक्त उपेन्द्रनाथ अश्क, वृन्दावन लाल वर्मा तथा सुमित्रानन्दन पंत के नाम भी नाटक साहित्य से संबन्धित हैं। वर्तमान काल में पृथ्वीराज ने एकांकी नाटक प्रदर्शन करने का प्रयास किया और इसमें नाटक के प्रति पुनः रुचि पैदा करने का प्रयत्न किया गया है। उनकी कृतियों में 'पठान' 'आहूति' और 'कलाकार' विशेषतया उल्लेखनीय है। रेडियों ने तो रंग मंच का स्थान ही हटा दिया। बहुत से एकांकी नाटक सामाजिक और ऐतिहासिक घटनाओं को लेकर प्रसारित हुये।

बंगाली नाटक

वास्तव में बंगला नाटक का प्रादुर्भाव लक्ष्मण सेन के समय में जयदेव के 'गीतागोविन्द' से आरम्भ हुआ। मुसलमानों के बंगाल पर आधिपत्य स्थापित करने के फलस्वरूप वहाँ पर भी १२वीं शताब्दी के बाद से १५वीं शताब्दी तक अन्धकार युग रहा। चैतन्य के भक्तिभाव ने समाज में एक स्फूर्ति डाल दी। वृन्दावन दास लिखित 'रुक्मिनी हरण' में चैतन्य स्वयं रुक्मिनी बने थे, और यह नवद्वीप में एक सज्जन के यहाँ खेला गया। इसमें हरिदास और श्री वसु ने भी भाग लिया था। बंगाल में जात्रा की भाँति यह भी खेला गया था। मंच और पर्दे तथा नेपथ्य इत्यादि का सजाव न था। चैतन्य के शिष्य रूप गोस्वामी ने तीन नाटक संस्कृत में लिखे जिनमें से 'विदग्ध माधव' वृन्दावन में खेला गया। 'ललित माधव' का बाद में बंगला में भी अनुवाद हुआ। इससे विदित होता है कि नाटक संस्कृत में लिखे जाते थे और उनका बंगला में भी अनुवाद होता था पर भारतीय नाट्य शास्त्र की परम्पराओं के आधार पर वे प्रसारित नहीं किए जाते थे। कभी-कभी उनमें से कोई कोई नाटक किसी के मकान पर खेले जाते थे। कुछ अंग्रेजी नाटकों का अनुवाद भी बंगला में हुआ और १७ वीं शताब्दी के अन्त में एक रूसी सज्जन लेवे डेफ ने बंगाली रंगमंच की स्थापना की। १८३१ में प्रसन्न कुमार टैगोर ने हिन्दू थियेटर स्थापित किया और क्रमशः कई रंगमंच बने जहाँ अंग्रेजी और उससे अनुवादित तथा मौलिक बंगाली नाटक खेले जाते थे। कुछ संस्कृत नाटकों का भी बंगला में अनुवाद हुआ जैसे नन्दकुमार का 'अभिज्ञानशकुंतला', रामनारायण का 'वेणी संहार' 'विक्रमोर्वशी', 'रत्नावली', 'नलदमयन्ती' तथा 'मालतीमाधव'। सामाजिक समस्याओं को लेकर भी नाटक लिखे और खेले गए जैसे 'कुलीन कुल सर्वस्य' जिसमें बहुप्रथा विवाह पर प्रकाश डाला गया है और दीनबन्धु मित्र के 'नीलदर्पन' में नील के व्यापारियों द्वारा अत्याचार की कथा है। इन्होंने 'नवीन तपस्विनी' तथा 'संधवर एकादशी' नामक सामाजिक नाटक भी लिखे जिन्होंने बंगाली नाटक क्षेत्र में

क्रांति पैदा कर दी। १८७२ में पहिले जन रंगमंच का निर्माण हुआ। कई अन्य रंग मंच पर मधुसूदन दत्त और बंकिम चैटरजी के 'शर्मिष्टा' और 'दुर्गेशनन्दिनी' खेले गए। रंग मंच पर स्त्रियों का भी पदार्पण हुआ। नाटककारों में ज्योतीन्द्र नाथ टैगोर तथा गिरीशचन्द्र घोष का नाम विशेषतया उल्लेखनीय है। घोष ने वृहत् राष्ट्रीय थियेटर का निर्माण किया और उन्होंने उत्तरी तथा पश्चिमी भारत में बंगाली नाटकों का प्रदर्शन किया जो बहुत ही सफल रहा। बंगाल की जनता की रुचि और उसके प्रोत्साहन के फलस्वरूप कलकत्ते में कई थियेटर स्थापित हुए और उनके लिए साहित्यकारों ने विविध विषयों पर नाटक लिखे। गिरीश घोष के अतिरिक्त द्विजेन्द्र लाल रे का नाम भी नाटक क्षेत्र में बड़ा प्रसिद्ध है। १९वीं शताव्दी के अन्त और २०वीं शताब्दी के आरम्भ में रवीन्द्र नाथ टैगोर ने भी नाटक लिखे और इनके प्रदर्शन में बढ़ा भाग लिया। इनके ज्येष्ठ भ्राता स्वयं प्रसिद्ध नाटकपात्र और लेखक थे और रवीन्द्रनाथ ने भी प्रदर्शन तथा निर्देशन में भाग लिया। टैगोर का प्रथम नाटक 'बाल्मीक प्रतिभा' १८८१ में खेला गया और उसमें इन्होंने स्वयं भाग लिया था। उनका अन्तिम नाटक 'श्यामा' था। इन्होंने लगभग ३० से ऊपर नाटक लिखे। पर्दों की सजावट में मुख्यतया अवीन्द्रनाथ और नन्दलाल नामक प्रसिद्ध चित्रकारों ने भाग लिया।

बंगाल में, विशेष रूप से कलकत्ते में, आज भी अच्छे नाटकों को उतना ही प्रोत्साहन मिलता है जितना कि किसी बंगला चलचित्र को। बहुत से उपन्यासों को भी नाटक के रूप में परिमार्जित कर प्रदर्शन किया गया है और इनमें बंकिम चटर्जी, शरत बाबू और ताराशङ्कर वन्दोपाध्याय के उपन्यास है। बंगाल में कलाकारों की कमी नहीं है और न लेखकों का अभाव है। जनता के प्रोत्साहन और उत्साहन में भी कमी नहीं है। चलचित्र के होते हुये भी इसी ओर बंगालियों की रुचि की कमी नहीं है; और यहाँ पर बंगाली नाटक और रंगमंच का भविष्य उज्जवल है।

गुजराती नाटक

उद्योगी तथा धनिक पारसियों और पुरुषार्थी गुजरातियों ने गुजराती

रंगमंच के उत्थान में बड़ा योग दिया है। बंगाल की भाँति यहाँ पर भी पाश्चात्य कला का नाटक पर प्रभाव पड़ा। आरम्भ में नाटकों का खेलना केवल मन बहलाव का साधन रहा और उसमें केवल वे ही व्यक्ति भाग लेते थे जिनको उसमें रुचि थी। १८५२ में पारसी नाटक मंडली की स्थापना हुई। थोड़े समय बाद व्यवसायी रूप में नाटक कम्पनियाँ बनी। १८७१ में अलफ्रेड तथा पारसी नाटक मन्डलियों की स्थापना हुई। इनमें केवल पारसी ही भाग लेते थें। इनके अतिरिक्त कई और मंडलियाँ भी स्थापित हो चुकी थी। गुजराती ब्राह्मणों ने भी इस ओर रुचि दिखाई। सौराष्ट्र के ब्राह्मणों तथा अन्य कलाकारों ने भी रंगमंच पर पदार्पण किया। इस समय गुजराती के अतिरिक्त उर्दू तथा अंग्रेजी के नाटक भी खेले गए। एलफिस्टन ड्रामा कम्पनी ने तो शेक्सपियर के नाटक भी खेले। ऐसा प्रतीत होता है कि नाटक कम्पनियां और नाटककार दो भिन्न दिशाओं में प्रवेश कर चुके थे। गुजराती लोग तो केवल गुजराती नाटक ही खेलते थे पर पारसी कम्पनियों का ध्यान उर्दू के नाटकों की ओर गया। उन्होंने कई खेलों को गुजराती से उर्दू में अनुवाद कर प्रसारित किया। नाटक अधिकतर प्राचीन भारतीय संस्कृति, अरब की एक सहस्त्र रात्रि की कहानियों, तथा तत्कालीन सामाजिक परि-स्थिति इत्यादि को लेकर लिखे जाते थे। २० वीं शताब्दी के आरम्भ में नाटक प्रदर्शन के क्षेत्र में बड़ी प्रगति हुई। बम्बई के अतिरिक्त अन्य प्रान्त के बड़े-बड़े नगरों में भी थियेटर स्थापित हुए और नाटक लेखक तथा कलाकारों की गिनती बढ़ने लगी। अमृत केशव नायक, बल्लभ नायक, मास्टर मोहन, तथा जयशंकर इत्यादि बड़े कलाकार हुए। लेखकों में रंछोदभाई तथा नरमदा शंकर, मणि शंकर शर्मा, मनीलाल त्रिभुवन दास इत्यादि के नाम उल्लेखनीय है। ऐतिहासिक और सामाजिक विषयों को लेकर कन्हैयालाल माणिकलाल मुंशी ने भी बहुत से नाटक लिखे जिनमें 'ध्रुव स्वामिनी' तथा 'पृथ्वीबल्लभ' सर्वश्रेष्ट है।

मराठी नाटक

मराठी थियेटर के उत्थान में कलाकार, गायक, तथा नृतक तीनों ही का

हाथ रहा है। छोटी रियासतों की ओर से प्रोत्साहन मिलने के कारण मराठी नाटकों ने प्रगति की। वास्तव में आरम्भ में तो भाव नृत्य और रसों का प्रदर्शन केवल जनता के नैतिक उत्थान के लिए ही किया जाता था। १८४४ में सर्व प्रथम मराठी रंगमंच की नींव डाली गई। इस दिशा में कन्नरी प्रभाव भी पड़ा। सांगली के राजा ने एक कन्नरी नाटक को देखकर अपने प्रासाद के कीर्तनकार विष्णुदास भावे को मराठी मन्डली बनाने का आदेश दिया। इस कम्पनी ने कन्नरी के अतिरिक्त कुछ हिन्दी नाटक भी प्रसारित किए। शेक्सपियर के कुछ नाटकों का भी मराठी में अनुवाद हुआ और वे प्रसारित किए गये। मूल मराठी नाटकों का अभाव था इस युग में नाटक को आगे बढ़ाने में वासुदेव बालकृष्ण केल्कर, गोपाल गनेश अगरकर तथा गनपतराव जोशी का नाम विशेषतया उल्लेखनीय है। पुराणों तथा संस्कृत नाटकों के आधार पर मराठी नाटक लिखे जाने लगें। 'शारदा' नामक नाटक में एक धनी वृद्ध के साथ एक युवती के बिवाह का चित्रण है। उस समय की नाटक कम्पनियों में 'स्वदेश हित चिन्तक' तथा 'ललित कलादर्श' के नाम प्रमुख हैं। २०वीं शताब्दी के आरम्भ में मामा वरेरकर ने 'कुंज बिहारी' नामक नाटक लिखा। अन्य नाटकों में 'मूक कन्या' और सन्त तुकाराम' उल्लेखनीय हैं। महाराष्ट्र नाटक मन्डली की स्थापना १९०५ में पूना में हुई और भोंसले तथा बालगंधर्व ने मराठी रंगमंच पर बहुत काल तक अभिनय किया। राष्ट्रीय आन्दोलन को प्रोत्साहन देने के लिये नाटककारों की अंग्रेजी शासन नीति पर टीका टिप्पणी भी आरम्भ हो गई। खंडीलकर के 'कीचक बध' में कर्जन के शासन की खिल्ली उड़ाई गई और इस नाटक के खेलने पर प्रतिबन्ध लगा दिया गया। 'विद्याहरण' में पाश्चात्य देश से लौटे हुए युवकों के मदिरा पीने का चित्रण है। मामा वरेरकर के 'सन्यासछा संसार' में ईसाई पादरियों की कृतियों पर प्रकाश डाला है और उन्हीं की 'हुच्छमुलच्छवाद' में दहेज प्रथा की आलोचना की गई है। देश भक्ति की भावना से प्रेरित होकर कलाकारों ने अपना अभिनय कोश संचय किया और एक रात्रि में 'माना-पमान' के अभिनय से ही लगभग १७ हजार रुपये तिलक स्वराज्य फंड के लिए प्राप्त हो गए। प्रथम और

द्वितीय महायुद्ध के बीच के समय में नवीन कलाकारों और नवीन विचार-धाराओं का नाटकीय क्षेत्र में प्रवेश हुआ। हीराबाई बरोदकर और ज्योत्स्ना भोंसले ने रंग मंच पर अभिनय किया और मधुर संगीत से मराठी नाटकों में जनता की रुचि बढ़ाई। चित्रपट के कारण यहाँ भी मराठी रंग मंच को बड़ी क्षति पहुँची। १९४२ से इस दिशा में फिर से रुचि हुई। रंग मंच के सजाव और प्रदर्शन में भी हेर फेर हुआ। स्वतंत्रता प्राप्त होने के बाद नाटक लेखन और प्रदर्शन के क्षेत्र में बड़ी ही प्रगति हुई है और प्रान्तीय शासन की ओर से भी इस दिशा में प्रोत्साहन मिला है।

भारतीय नाटक और उसकी परम्परा तथा विकास पर पूर्णतया प्रकाश डाला जा चुका है। इस सम्बन्ध में हम अन्य प्रान्तीय तथा दक्षिण भाषाओं में लिखे नाटकों का विवरण नहीं कर रहे हैं। नाटकों के लेखन और प्रदर्शन में सम्पूर्ण भारत में दो विचारधाराएँ प्रवाहित हो रही हैं। एक ओर तो है भारतीय संस्कृति तथा गौरव का चित्रण और उसके प्रदर्शन की भावना और दूसरी ओर अन्तर्राष्ट्रीय विचारधारा के अन्तर्गत विश्व मानवता को प्रधानता देना है। चित्रपट का प्रभाव नाटकीय क्षेत्र पर बहुत पड़ा है। दर्शकों की रात्रि पहर तक जागकर नाटक देखने की प्रबल कांक्षा जाती रही है इसीलिए एकांकी नाटकों का जोर बढ़ा है। आकाशवाणी से नाटकों को बहुत प्रोत्साहन मिला है। दूसरी ओर राष्ट्रीय रंगमंच, तथा प्रसिद्ध प्रान्तीय केन्द्रों तथा मुख्य नाटक रचयिताओं तथा कलाकाराओं के जन्म स्थानों में भी छोटे छोटे स्थायी रंग मंच स्थापित किये जाने का विचार है और इस प्राचीन कला को आगे बढाया जा सकेगा।

———

अध्याय २६

भारतीय नृत्य, संगीत इत्यादि

भारतीय नृत्य की परम्परा बहुत प्राचीन काल से चली आती है। मोहेन-जोदड़ों में मिली कांसे की नृत्य करती एक स्त्री की छोटी सी प्रतिमा इसका प्रत्यक्ष प्रमाण है। वैदिक काल में भी किसी न किसी रूप में नृत्य होता था। जैमिनीय ब्राह्मण में अप्सराओं के नृत्य और संगीत का उल्लेख है। जातकों में भी नृत्य करती और गाती हुई कन्याओं के बहुत से उदाहरण हैं। पाणिनि की अष्टाध्यायी में नृत् धातु के सम्बन्ध में शिलालिन् और कृषाश्विन् का उल्लेख है जो नृत्य के शिक्षक थे। कौटिल्य के मतानुसार नृत्य व्यवसाय शासन के अन्तर्गत था। नर्तकियां प्रायः गणिका होती थीं और गायन के साथ साथ उन्हें नृत्य की भी शिक्षा दी जाती थी। तामिल ग्रन्थ 'शिलापदिकरम्' में माधवी के दो प्रकार के नृत्यों का उल्लेख है। वास्तव में नृत्य कला केवल गणिकाओं तक ही सीमित न थी। अग्निमित्र की राज्ञी मालविका स्वयं इस कला में पारंगत थी। पतंजलि के समय में नाट्य और नृत्य कलाएँ अपनी चरम सीमा पर पहुँच चुकी थी जैसा कि महाभाष्य में 'प्रियांमयूराः प्रति नरनृतीति' की उपमा से संकेत होता है। ईसा की पहिली शताब्दी में भरत का नाट्य शास्त्र लिखा जा चुका था और इसके अन्तर्गत नाट्य कला को एक शास्त्रीय पद्धति में रक्खा गया था। सम्भवतः उस समय भारत में एक ही प्रकार का नृत्य होता था और अभी भिन्न भिन्न नृत्य प्रवृत्तियों का प्रादुर्भाव नहीं हुआ था। आगे चलकर नृत्य से सम्बन्धित कई बड़े केन्द्र हुए जहाँ पर अपने ढंग से इस कला को प्रोत्साहन मिला और नृत्य के भेद भी दिखाए गये।

नृत्य और देव स्वरूप

नृत्य कला वास्तव में पुरुष और प्रकृति का समिश्रण और विक्षोह प्रदर्शित

करता है। सदैव से नृत्य को धार्मिक और योगिक रूप प्रदान किया गया है और आत्मा और शरीर दोनों का सम्मिश्रण ही इसका ध्येय है। इसीलिए नृत्य को योग भी कहा गया है। शिवजी का ताडंव नृत्य इसी का उदाहरण है और उनके नृत्य में विश्व की सभी विभूतियों, रचना, पालन और संहार का चित्रण है। इसी प्रकार से वृन्दावन में श्री कृष्ण और गोपियों की रासलीला में भी वास्तव में वासना का लेशमात्र संकेत नहीं है। इसमें तो गोपियों के रूप में जीव और परमात्मा के रूप में श्री कृष्ण का मिलन और पुनः अलग होना दिखाया गया है। इसीलिए भारतीय मन्दिरों में नृत्य का होना अनिवार्य हो गया है और इसका उल्लेख अलबिरूनी ने भी किया है। इसके अनुसार मन्दिरों में देवदासियां रहती थीं और वे देवताओं के सम्मुख नृत्य करती थीं। इसीलिए प्राचीन काल से धार्मिक परम्परा को लेकर देव मन्दिरों में देवदासियों द्वारा नृत्य आरम्भ हुआ।

नृत्य में प्राचीन काल मे तांडव और लस्य नाम के दो नृत्य होते थे। कहा जाता है कि भरत ने शिव और पार्वती के सम्मुख एक नृत्य प्रदर्शित किया। शिव ने अपने गण तंडु को भरत से वह नृत्य सीखने का आदेश दिया जो तांडव के नाम से प्रसिद्ध हुआ। उसी समय पार्वती ने ऊषा को लस्य नाम का नृत्य सिखाया जो इस नाम से प्रसिद्ध हुआ और इसका स्त्रियों से ही सम्बन्ध नहीं है। इस परम्परा को लेकर पुरुष और स्त्री दोनों की नाट्य प्रथा पृथक् रही और इसके आधार पर नाट्य कला के कई केन्द्र स्थापित हुए और यह नाट्य भरत नाट्यम्, कथाकली, मणिपुरी और कथक के नाम से प्रसिद्ध हुए।

भरत नाट्यम्, कथाकली, कथक, मणिपुरी

भरत नाट्यम् भरत ऋषि के आधार पर तो कहा ही जाता है किन्तु शब्द का पदन्वय कर इसे भाव, राग, ताल इन तीनों का सम्मिश्रण कहकर सम्बोधित कर सकते हैं। इसमें विशेषतया शृंगार रस का प्रदर्शन होता है और वास्तव में इसे केवल स्त्रियों द्वारा ही प्रदर्शित किया जाना चाहिए, यद्यपि

पुरुप भी इस नृत्य में भाग लेने लगे हैं। दक्षिण में तामिलनाड इसका मुख्य केन्द्र रहा है और यह नृत्य नाट्य शास्त्र की परम्परा के आधार पर ही प्रदर्शित किया जाता है। इसमें आंगिक, वाचिक, सात्विक और अर्घ्य चारों का प्रयोग किया जाता है, और वर्तमान युग में तंजोर इसका मुख्य केन्द्र रहा। यहाँ पर एक शताब्दी पहिले इसको पुनिया और वडिवेलपिलाई नामक दो भाइयों से बहुत प्रोत्साहन मिला। इन्होंने इसे शास्त्रीय पद्धति के अन्तर्गत स्वरूप दिया। उनके वंशजों ने अपने कुटुम्ब की नृत्य परम्परा कायम रक्खी। यद्यपि यह नृत्य स्त्रियों के लिए ही था पर पुरुषों ने भी इसे सीखा और भारत से बाहर प्रदर्शित किया।

कथाकली का नृत्य केरल तक ही सीमित है और वर्तमान काल में राम-गोपाल इसके मुख्य कलाकार हुए और उन्होंने इसे भारत से बाहर भी दिखाया। यह एक प्रकार का नट और नृत्य दोनों का सम्मिश्रण प्रयास है। कहा जाता है कि ईसवी की १६वीं शताब्दी में इसका प्रादुर्भाव हुआ। इसमें मुख्यतया वीर रस का प्रदर्शन होता है और केवल पुरुष ही भाग लेते हैं जो तरह तरह के चेहरे लगाते हैं और उन पर कई रंग लगाये जाते हैं। इसमें कई नट नर्तक एक साथ मंच पर आते हैं और वह अपना प्रदर्शन करते हैं। वर्तमान युग में महान कवि वलाथोल ने केरल कला मंडलम् स्थापित करके इसको बड़ा प्रोत्साहन दिया और इस काल में गोपीनाथ ने ख्याति प्राप्त की। उन्होंने इसको भारत और भारत से बाहर प्रदर्शित किया।

कथक नृत्य में तांडव और लस्य दोनों का सम्मिश्रण है और इसमें पैरों से भाव संकेत किया जाता है। तबले के साथ साथ घुंघरू से लय निकलती हैं और पैरों की चाल ऐसी होती है कि नर्त्तक एक दम घुंघरू को नीचे स्वर से लेकर ऊँचे स्वर तक ध्वनित कर देते हैं। कथक का प्रारम्भ लखनऊ में कालका और विन्दादीन द्वारा १६वीं शताब्दी में हुआ और उन्होंने इस नृत्य कला को बहुत आगे बढ़ाया। कहते हैं कि कथक नृत्य वाजिद अली शाह के सामने भी प्रदर्शित किया गया था। इस समय शम्भू महाराज कथक नृत्य के सबसे बड़े कलाकार हैं।

मणिपुर नृत्य वास्तव में राधाकृष्ण की रासलीला को प्रदर्शन है, जिसे चैतन्य महाप्रभु ने बहुत आगे बढ़ाया था। रासलीला के साथ साथ गीत गोविन्द तथा अन्य वैष्णव पदों से गीत गाए जाते हैं।

भारतीय नृत्य कला का प्राचीन इतिहास है और इसने इसी आधार पर बहुत उन्नति ही नहीं वरन्, वर्तमान युग में भी प्राचीन कला को जीवित रक्खा और इसे आगे बढ़ाया। भारतीय नाट्य एकाडमी में इस प्राचीन नाट्य प्रणाली को जीवित रक्खा और प्रोत्साहन आदि के लिए बड़ा कार्य किया और इसे बहुत आगे बढ़ाया।

संगीत

गायन और वादन का प्राचीन काल से ही चलन है। प्राचीन साहित्य में भी बहुत से वाद्यवादन के यंत्र जैसे दुन्दुभी, शंख, तूणाव, वीणा इत्यादि का उल्लेख है। सामवेद को गेयवेद भी कहा गया है। पाणिनि के समय में भी गायन, वादन और नृत्य का प्रचलन हो गया था। रामायण में भेरी, दुन्दुभी, मृदंग, पतह, घट, पणव, मृदंग, वीणा इत्यादि का उल्लेख है। दक्षिण के तामिल साहित्य में भी पहली दूसरी शताब्दी में सात स्वरों का उल्लेख है। शिलापद्दिकरम् में वीणा, तथा मृदंग पर तामिल गायनों का भी उल्लेख मिला है, और इसमें सब स्वरों और रागों का भी विवरण आया है। नाट्य शास्त्र के एक अध्याय में स्वर गायन और इनके सूत्र तथा सिद्धान्त का विवरण है। भारतीय गायकों में जयदेव का नाम सर्वप्रथम है जिन्होंने 'गीत गोविन्द' लिखा और गाकर अपनी भक्ति भावना का प्रदर्शन किया। इसमें राग और ताल का भी उल्लेख है। १३वीं शताब्दी में सारंगदेव नामक एक बड़ा गायक हो गया है जो कि देवगिरि के यादव समाट् के यहाँ था। कदाचित इसका उत्तर दक्षिण दोनों के संगीतज्ञों से सम्पर्क हुआ होगा जैसा कि इसके 'संगीत रत्नाकर' से प्रतीत है। इस ग्रन्थ में भारतीय गायन शास्त्र और उसकी विधि का भली-भाँति विवरण है।

उत्तरी भारत में गेय विद्या का १४वीं या १५वीं शताब्दी में पूर्ण रूप से प्रादुर्भाव हुआ। मुसलमान सम्राटों ने भी अपने यहाँ गवैये रखना आरम्भ

किया और उनको प्रोत्साहन देते थे। अलाउद्दीन के यहाँ अमीर खुसरू नामक प्रसिद्ध संगीतज्ञ था। उस समय में उत्तरी और दक्षिणी भारत की संगीत परम्परा में भिन्नता आ गई थी और मुग़ल सम्राट् दक्षिण विजय कर वहाँ से संगीतज्ञ भी लाए। भक्ति भावना ने भी संगीत को बड़ा प्रोत्साहन दिया। चैतन्य के संकीर्तन और नगरकीर्तन इत्यादि से इस दिशा में संकेत मिलता है। अकबर के समय में हरिदास स्वामी वृन्दावन के एक बड़े संगीतज्ञ और महात्मा थे और तानसेन ने इन्हीं के यहाँ शिक्षा पाई थी। अकबर के राज दरबार में गवैयों का तांता बंधा रहता था। राजा मानसिंह भी गायन के बड़ा प्रेमी थे और इन्होंने ध्रुपद राग को निकाला था। उसी समय से ग्वालियर संगीत का बड़ा केन्द्र रहा है। तानसेन के शिष्यों में जिन लोगों ने रबाव नामक वाद्यवृन्द का प्रयोग किया वे वीणा का प्रयोग करने वालों से भिन्न हो गये हैं उसी समय के गवैयों के भिन्न घराने हो गए। मीराबाई अपने भजनों के लिए प्रसिद्ध थी और तुलसीदास ने हिन्दी रामायण द्वारा उत्तरी भारत के संगीतज्ञों को बढ़ावा दिया। अकबर के समय के अन्य संगीतज्ञों में पुंडरीक बिठ्ठल था जो कदाचित दक्षिण का रहने वाला था। दक्षिण में संगीत पर उस समय कई ग्रन्थों की रचना भी हुई जिसमें सोमनाथ ने 'राग विवोध' नामक ग्रन्थ और 'वेकट मुखी' 'चातुर्दन्डी प्रकाशिका' लिखा। उत्तर में दामोदर मिश्र ने जहाँगीर के समय में 'संगीत दर्पण' लिखा। शाहजहाँ के समय में भी जगन्नाथ और लालखां नामक प्रसिद्ध गवैयों हुए। औरंगजेब के समय में उत्तरी भारत में संगीत को बड़ी क्षति पहुँची। 'संगीत परिजात' नामक एक ग्रन्थ का अनुवाद सन् १७२४ में फारसी में हुआ। भवभट्ट ने संगीत को आगे बढ़ाया। यह मालवा का रहने वाला था और प्रान्तीय शासक अनूप सिंह के यहाँ था। उसी समय दक्षिण में भी संगीत की दिशा में प्रगति हो रही थी। उत्तर भारेत में मोहम्मद शाह के समय में ठप्पे का चलन हुआ और गायन विद्या में नये राग का संचार हुआ।

उत्तर भारत में १९वीं शताब्दी में गायन विद्या पर भी कुछ ग्रन्थ लिखे गये जिसमें मोहम्मद रजा द्वारा 'नगमत अस्फी', महाराजा प्रतापसिंह द्वारा 'संगीतसार', कृष्णानन्द व्यास' द्वारा 'संगीत राग कल्पद्रुम' लिखे गए। दक्षिण में

तंजोर में भी नृत्य के साथ साथ गायन में भी बड़ी प्रगति हुई। प्रसिद्ध त्याग राज यहाँ के रहने वाले थे, और उन्होंने कर्नाटक गायन विद्या को बहुत आगे बढ़ाया।

संगीत का इतिहास जानने के बाद कुछ विशेष राग और रागनियों और उनकी उत्पत्ति पर प्रकाश डालना भी आवश्यक है। प्रत्येक राग में स्वर और मात्रा के सम्मिश्रण से विशेष ध्वनि होती है और शास्त्रीय पद्धति के अन्तर्गत गायन लय तथा आलाप द्वारा किया जाता था। जितने भी राग हैं वह १० थाट में विभाजित हैं। यह राग विशेष समय में गाए जाते हैं। गायकों के लिए पद्धति के अनुसार स्वर और आलाप के ध्यान के अतिरिक्त आन्तरिक भावना प्रदर्शित करना आवश्यक है। इसीलिए कहा जाता है कि दीपक राग के गाने से दिये जल उठते हैं। आलाप में ताल का स्थान नहीं है। आलाप के पश्चात् ध्रुपद गायन आरम्भ होता है जिसको कि अकबर के समय में तानसेन ने निकाला था और यह उसने वृन्दावन के हरिदास स्वामी से पाया था। ध्रुपद में तानपूरा और पखावज का प्रयोग किया जाता है। ध्रुपद के साथ में होरी और धमार भी सम्मिलित है। ख्याल इनसे विपरीत है और कहा जाता है कि इस गायन कला को अमीर खुसरू ने निकाला था। मोहम्मद शाह के समय में सदरंग और अदरंग ने बहुत से ख्यालों की रचना की। इन ख्यालों का ग्वालियर में चलन हुआ। विलम्वत और द्रुत में इनके अर्थ क्रमशः धीमी और तेज चाल है। ख्याल गाए जाते हैं और इसके लिए एक ताल, तिलवर, झुमरा, तीन ताल इत्यादि का प्रयोग होता है। ठप्पा नाम का गायन पंजाब में आरम्भ हुआ था। कहते है कि यह ऊँट की सवारी करने वालों का राग था। इसमें शोरू मियाँ और हमदम नामक कलाकार हुए हैं। ठप्पा गायन काफी भैरवीं, खम्माज इत्यादि में गाए जाते हैं। अब इसका चलन कम हो रहा है। उत्तर प्रदेश में मुख्यता पूर्वी भाग में ठुमरी गायन का चलन है। शास्त्रीय पद्धति में इसको नीचे रखते हैं किन्तु ठुमरी में सुन्दरता यह है कि इसके शब्दों में कई माने निकल सकते हैं। इसलिए बोल पर सबसे ज्यादा जोर दिया जाता है और इसमें गायक अपनी आन्तरिक

भावना प्रदर्शित करता है। ठुमरी में लखनऊ तथा बनारस में अलग अलग केन्द्र हैं। ठुमरी गायकों में सबसे प्रसिद्ध ग्वालियर के भैया साहब गनपतराव और मोएजुद्दीन हुए और इस समय बनारस की रसूलन बाई है। ठुमरी रचयितों में कदरपिया, सरसपिया, और लल्लनपिया, जो लखनऊ दरबार में थे, के नाम सबसे प्रसिद्ध हैं। ठुमरी के गायन में गायक को पूर्णतया स्वतंत्र रहना पड़ता है। ठुमरी अधिकतर हरमोनियम पर गाई जाती है।

वर्तमान युग में लखनऊ, बनारस और बड़ौदा तथा ग्वालियर ने हिन्दुस्तानी संगीत कला के प्रसरण में बहुत भाग लिया। लखनऊ नवाबी काल से ही संगीत का केन्द्र था और यहाँ पर ध्रुपद, ठप्पा ख्याल इत्यादि में गायक हुए। उस्ताद दुल्ले खां ध्रुपद में, छोटे मुन्ने खां ठप्पे में, और बड़े मुन्ने खां ख्याल में प्रसिद्ध थे। लखनऊ ठुमरी के लिए भी नवाबी काल में प्रसिद्ध था और सादिक अली खां प्रसिद्ध गवैये थे। राजा नवाब अली जो स्वयं संगीतज्ञ थे का नाम विशेषतया उल्लेखनीय है। वर्तमान युग में उनके उद्योग से भारत खंडे नामक संगीत शिक्षालय खोला गया। यहाँ संगीत की उच्चतम शिक्षा दी जाती है। रामपुर में भी बहुत से संङ्गीतज्ञ हुए क्योंकि राज्य की ओर से प्रोत्साहन मिलता था। वीणा वादन में वजीर खां सबसे प्रसिद्ध थे। ध्रुपद में उस्ताद मोहम्मद अली खां और तबले में अहमद जान तिरकुआ का नाम प्रसिद्ध है। बड़ौदा में महाराज गायकवाड़ के प्रोत्साहन से संगीत में बड़ी प्रगति हुई। उस्ताद फय्याज खां यहाँ के प्रसिद्ध गायक थे। बनारस में ठुमरी, दादरा, चैती और कजरी विशेष रूप से गायी जाती है। यहाँ पर बहुत से तबले बजाने वाले भी संगीतज्ञ हुए जिसमें कंठे महाराज का नाम प्रसिद्ध है। भारतीय संगीत में हम स्वर्गीय भारतखंडे, विष्णु दिगम्बर, डी० वी० पलुसकर तथा श्री ओंकार नाथ जी ठाकुर की सेवाओं को नहीं भूल सकते। इन्होंने भारतीय शास्त्रीय संगीत को भारत और भारत से बाहर भी प्रोत्साहन दिया और बढ़ाया। इसका भविष्य उज्जवल है। संगीतज्ञ और कलाकारों के शिष्ट मंडल भारत से बाहर भी जाकर अपनी कला का प्रदर्शन कर चुके हैं और उनको बड़ी ख्याति प्राप्त हुई हैं।

सिनेमा

भारतीय चित्रपट का इतिहास आधुनिक है। यह कला २०वीं शताब्दी में भारत में आई और मनुष्य के नेत्रों के सम्मुख चलते फिरते चित्र प्रदर्शित करके उनके मन को मोह लेने और मनोरंजन का साधन बनाना था। बम्बई में सर्वप्रथम १८९६ में एक सिनेमा फ्रांस के अगस्त और लुई नामक दो भाइयों ने वाटसन होटल में दिखाया। उसके पश्चात् बहुत से इटालियन और अंग्रेज यहाँ आए जिन्होंने उस नगर के भिन्न-भिन्न क्षेत्रों में चित्र दिखाना आरम्भ किया। यह चित्र कोई कहानी लेकर नहीं बनाए गये थे वरन् यह मुख्यता इधर उधर से खींचे हुए चित्र थे जैसे किसी स्टेशन पर गाड़ी का आना इत्यादि। इसी समय में जमशेदजी टाटा तथा बाटलीवाला ने कुछ चित्र बनाने और उनको प्रदर्शन करने का सामान खरीदा। 'ईसा की जीवनी' नामक चित्र १९०४ में एक सिनेमा कम्पनी द्वारा दिखाया गया। परदे पर दिखाने के लिए प्रोजेक्टर और लैम्प का प्रयोग किया जाता था। १९०७ में पाथे नामक महाशय भी व्यवसायिक रूप से चित्रों को प्रदर्शित करने लगे। ठुंठराज गोविन्द फाल्के जिन्हें दादासाहब फालके के नाम से पुकारा जाता था भारतीय चित्रपट के पिता थे और उन्होंने १९१२ में राजा हरिश्चंद्र नामक एक चित्र तैयार किया। १९१७ तक में उन्होंने ऐसे कोई २३ चलचित्र तैयार किए। एक हिन्दुस्तानी सिनेमा कम्पनी की स्थापना हुई। उस समय से बहुत से चित्र बनाये गए। ये चित्र मुख्यता धार्मिक होते थे। अभी तक जितने भी चित्र बने थे उनकी संख्या लगभग एक सहस्त्र हो गई थी और देश में कोई ४०० सिनेमा घर थे किन्तु चल चित्र में सर्वप्रथम १४ मार्च सन् १९३१ में अर्दशीर इरानी ने इम्पीरियल फिल्म कम्पनी द्वारा तैयार किया हुआ चित्र 'आलमआरा' बम्बई के मैजिस्टक टाकीज में प्रदर्शित किया और इसमें जुबेदा और मास्टर बिठ्ठल ने भाग लिया था। इसके बाद 'अयोध्या के राजा', 'जलती निशानी' नामक खेल प्रभात फिल्म कम्पनी ने बनाए। १९३१ से १९४१ तक के बीच में कोई १६०० चित्र तैयार किए गये

और इन चल चित्रों का ध्येय केवल धार्मिक चित्रों को ही प्रदर्शित करना नहीं था वरन् सामाजिक तथा राजनैतिक, और आर्थिक परिस्थितियों को भी चित्रित करना था। भारतीय फिल्म में भाग लेने के लिए पहिले स्त्रियाँ नहीं आती थीं और इसीलिए इन चल चित्रों में वास्तविकता का अभाव सा प्रतीत होता था, किन्तु इधर २५ वर्षो से भारतीय चल चित्रों ने बड़ी प्रगति की है। जिन चित्रों में विशेषतया ख्याति प्राप्त की है उनमें बंगाल के न्यू थियेटर्स और बाम्बे टाकीज के चित्र उल्लेख नीय हैं। कलाकारों में सहगल का नाम सदैव ही अमर रहेगा जिसने अपने सुरीले गायन से चित्रों को बहुत ही मनोरंजक बनाया। सहगल के अतिरिक्त अन्य कलाकारों में अशोककुमार, देवानन्द, मोतीलाल इत्यादि हैं। अभिनेत्रियों में देविका रानी ने सर्वप्रथम 'कर्म' नामक फिल्म में भाग लिया उसके बाद से क्रमशः चल चित्रों में जिन कलाकारों ने ख्याति प्राप्त की उनमें सुरैया, नर्गिस, जयश्री इत्यादि हैं। जिन कलाकारों ने चित्रपट के प्रसरण में भाग लिया उनमें शान्ताराम, महबूब इत्यादि का नाम विशेषतया उल्लेनीय है। वास्तव में वर्तमान काल में सरकार की ओर से भी चल चित्र को बड़ा ही प्रोत्साहन मिला है और प्रत्येक वर्ष बहुत से लोगों को पुरस्कार और उपाधि भी प्रदान की जाती है।

अध्याय २७

नवीन विचारधारायें

वर्तमान युग में भारतीय सामाजिक तथा आर्थिक क्षेत्र में बड़ी प्रगति हुई और समाज को एक नये साँचे में ढालने का प्रयास किया गया जिसके अन्तर्गत जातीयता तथा साम्प्रदायिकता के स्थान पर वर्गहीन समाज निर्माणित करने पर जोर दिया जाने लगा। इसके अतिरिक्त स्त्रियों की स्थिति में भी परिवर्तन हुआ और उनके सामाजिक शान्तिमय आन्दोलन पूर्णतया सफल रहे। विधान के अन्तर्गत उन्हें पुरुषों के साथ बराबरी का स्थान दिया गया और वे समाज का एक प्रमुख अंग मानी जाने लगी। ऊँच नीच के भाव को हटाने के लिये इस युग में बड़ा प्रयत्न हुआ और इसका श्रेय गाँधी जी तथा नेहरू को रहा है। इन्होंने एक ओर तो समाज के गिरते हुये अंग को उठाने की कोशिश की तथा उनको बराबरी का स्थान दिया और दूसरी ओर उस आर्थिक खाई को भरने का प्रयास किया गया जिससे कि ऊँचे और नीचे व्यवसायियों को आमदनी में सैकड़ों प्रतिशत का फर्क न रह सके। प्रत्येक नागरिक भारतीय जीवन में अपनी विद्वता अनुसार यथा स्थान प्राप्त कर सके। इस अध्याय में सबसे पहले हम स्त्रियों के आन्दोलन और उसकी सफलता, हिन्दू कानून सुधार, जमींदारी उन्मूलन तथा मजदूर आन्दोलन की विवेचना करेंगे जिसके कारण भारत के सामाजिक और आर्थिक जीवन में एक नवीन ज्योति जलाई गई।

स्त्रियों का समाज में स्थान और उनका आन्दोलन

वैदिक काल से प्राचीन भारतीय इतिहास में स्त्रियों का स्थान सदैव से ग्रहणी के रूप में श्रेष्ठतम रहा है। यद्यपि उन पर पिता, पति और पुत्र का क्रमशानुसार नियंत्रण रहता था तथापि उनको पारिवारिक स्वतंत्रता मिली

हुई थी और समाज में उनका अपना स्थान था। उनके उत्थान के लिए परिस्थिति अनुकूल थी और स्त्रियों में बहुत सी विदुषी भी हुई। इससे प्रतीत होता है कि समाज मे उनको उच्च शिक्षा प्राप्त करने का अवकास था। यह परिस्थिति प्राचीन भारत में बराबर कायम रही। पत्थर पर खुदे हुये चित्रों में भी स्त्रियां को सम्मान रूप से आगे स्थान दिया है। राजवंशों में बहु विवाह की प्रथा थी, पर साधारण व्यक्ति केवल एक ही विवाह करते थे। मुसलमानों के आगमन से और उनकी सामाजिक विचारधारा के अंतर्गत स्त्रियों का स्थान केवल गृह के अन्दर ही रहा और उनको बाहर निकलने की स्वतन्त्रता न थी। साथ ही बहु विवाह प्रथा भी मुसलमान कानून के अन्तर्गत लागू थी। अतः स्त्रियों की प्रगति की सुई पीछे घूमी। फिर भी हम यह देखते हैं कि मुगल काल में नूर जहाँ और चाँद बीबी इत्यादि मुसलमान महिलाएँ हो गई हैं जिन्होंने शासन की बागडोर अपने हाथ में ली और यह दिखा दिया है कि मुसलमान महिलाएँ भी कुछ कर सकती हैं। साधारण रूप से स्त्रियों की परिस्थिति अच्छी न थी। अंग्रेजों ने जब भारतीय शासन का भार अपने हाथ में लिया तो उन्होंने भारतीय सामाजिक और धार्मिक क्षेत्र में हस्तक्षेप करना ठीक नहीं समझा पर अंग्रेजी शिक्षा से प्रभावित होकर और पाश्चात्य सभ्यता के प्रभाव से कुछ विद्वानों और सामाजिक सुधारकों ने इस बात का प्रयास किया कि स्त्रियों की दशा सुधारी जाए। उस समय सती प्रथा प्रचलित थी और स्त्रियों की इच्छा न रहते हुए भी अपने पति के शव के साथ सती होना पड़ता था। जाब चारनक ने स्वयं एक ऐसी स्त्री को बचा कर उसके साथ विवाह किया था। राजा राममोहन राय ने १८२२ में स्त्रियों की दशा सुधारने के सम्बन्ध में एक लेख लिखा और बेन्टिग ने सती प्रथा का निषेध किया। इसके बाद से क्रमशः धीरे-धीरे स्त्रियों की स्थिति सुधारने का प्रयत्न होने लगा।

१९ वीं शताब्दी में स्त्रियों की शिक्षा की ओर भी कुछ ध्यान दिया गया, पर अभी स्त्रियाँ इस शिक्षा से लाभ नहीं उठा सकती थीं, क्योंकि सामाजिक बंधन कड़े थे। उनका विवाह बहुत छोटी अवस्था में कर दिया था जिससे उनकी शिक्षा दीक्षा का सुचारु रूप से होना सम्भव है। कांग्रेस ने भी अपने

अधिवेशनों में इस ओर अधिक ध्यान नहीं दिया। २०वीं शताब्दी के आरम्भ से विशेष रूप से इस बात की काशिश की गई कि स्त्रियों को शिक्षा दी जाय और वे आगे बढ़ें। बम्बई में रामा बाई रानाडे ने इस दिशा में सबसे अग्र भाग लिया थोड़ी सी शिक्षा के साथ साथ पाश्चात्य देश का प्रभाव और राजनीति में स्त्रियों के भाग लेने के फलस्वरूप यह अनिवार्य हो गया कि स्त्रियाँ भी अपना स्थान प्राप्त कर सकें। १९२५ में कानपुर के कांग्रेस अधिवेशन में श्रीमती सरोजनी नायडू ने सभापति का आसन ग्रहण किया और उस समय से स्त्रियों का आन्दोलन आरम्भ होता है। १९२८ में अखिल भारतीय महिला परिषद का आयोजन किया गया और सुचारु रूप से स्त्रियों का आन्दोलन आरम्भ हो गया। इस आन्दोलन का मुख्य ध्येय समाज में स्त्रियों को बराबरी का स्थान प्राप्त कराना, गिरी हुई बहिनों को उठाना तथा उन सामाजिक शृंखलाओं को तोड़ना था जिसमें स्त्रियाँ जकड़ी हुई थीं। यह परिषद केवल उच्च वर्ग की शिक्षित महिलाओं तक ही सीमित रही। यह साधारण स्त्रियों के आन्दोलन का रूप नहीं धारण कर सकी। कांग्रेस के आन्दोलन में स्त्रियों ने पूर्णतया भाग लिया तथा जेल की यातनायें सहीं और वे आगे बढ़ीं। १९२९ में केन्द्रीय असेम्बली में एक बिल पास हुआ जिसके अन्तर्गत १४ से कम उम्र की बालिकाओं और १८ वर्ष से कम उम्र के बालकों का विवाह होना निषेध था। फिर भी भारत की अशिक्षित जनता पर इसका अधिक प्रभाव नहीं पड़ सका।

स्त्रियों का राजनीति में भाग

प्रान्तीय शासन में भी स्त्रियों का हाथ रहा और १९३७ के चुनाव के बाद कई प्रान्तों में वे मंत्री भी बनीं तथा केन्द्रीय असेम्बली में भी उनकी ओर से प्रतिनिधि गए पर अभी उनको बराबरी का स्थान प्राप्त न हो सका। १९३७ में कानून द्वारा विधवाओं को अपने पति की सम्पत्ति में भाग दिया गया। स्वतन्त्रता प्राप्त होने के बाद भारत के केन्द्रीय-मंत्रिमंडल में स्त्रियों की ओर से राजकुमारी अमृत कौर की नियुक्त हुई और नये विधान में स्त्री

पुरुष का भेद भाव राजनीतिक क्षेत्र से बिलकुल ही हटा दिया और यह विधान में पास कर दिया गया कि समस्त व्यस्क स्त्रियों और पुरुषों को अधिकार प्राप्त है। कोई स्त्री उच्च से उच्च पद प्राप्त कर सकती है और इसमें किसी प्रकार का भेदभाव नहीं बरता जायगा । स्त्री समाज में सामाजिक और राजनीतिक जागृति पूर्णतया आ गई है, और उनकी शिक्षा भी बहुत बढ़ गई है । किसी भी विश्वविद्यालय में १०, १५ प्रतिशत से कम स्त्री शिक्षार्थी नहीं है, फिर भी अभी गाँवों में जहाँ भारत की अधिक जनता रहती है स्त्रियों का सामाजिक स्तर ऊँचा नहीं हो सका है। और इसका कारण यह है कि वहाँ एक तो शिक्षा का अभाव है और दूसरे विवाह भी नगरों की अपेक्षा कम आयु में कर दिया जाता है तथा सामाजिक बंधन भी अधिक हैं। यद्यपि हिंदू कानून में संशोधन किया जा चुका है जिसके अन्तर्गत एक तो लड़कियों को पिता की सम्पत्ति में पुत्र की भाँति हिस्सा मिल सकेगा और दूसरे वैवाहिक सम्बन्ध विच्छेद अथवा डाइवोर्स को भी मान्यता दी गई है जिसके अन्तर्गत प्रतिकूल परिस्थितियों में स्त्री पुरुष एक दूसरे से मुक्त हो सकते है। वास्तव में सामाजिक सुधार का भार समाज के ही ऊपर है। इस क्षेत्र में वैधानिक हस्तक्षेप से कोई विशेष लाभ नहीं हो सकता है। इसलिये सामाजिक क्षेत्र में सुधार करने के लिए यह अति आवश्यक ह कि समाज को नई विचारधाराओं से शिक्षित किया जाये । १०० वर्ष से ऊपर विधवा विवाह बिल को पास हुये हो चुके हैं फिर भी अब तक यह समाज के उच्च वर्ग में अपनाया नहीं जा सका है। लोगों की इस दिशा में सहानुभूति की भावना अवश्य है और कुछ ऐसे उदाहरण भी मिलने लगे हैं कि विधवाओं ने अपने विवाह कर लिए। यद्यपि जाति और वर्ण व्यस्था की ओर विमुखता है और वर्तमान विचारधारा के अनुसार जाति का राष्ट्रीय जीवन में कोई स्थान नहीं होना चाहिये, तथा यह राष्ट्रीय उत्थान के लिए बाधक है, फिर भी अब तक इसको तिलांजलि नहीं दी जा सकी है, और उच्च वर्ग से लेकर नीचे तक के ९५ प्रतिशत व्यक्ति अब तक अपनी जाति के लोगों के साथ वैवाहिक सम्बन्ध स्थापित करते हैं। समयानुसार वर्तमान युग में ऐसी परि-

स्थिति और वातावरण बना दिया गया है कि समाज को अपने ढंग से अपने आप पुरानी प्रवृत्तियों को छोड़कर नया रूप प्राप्त कर सके। इसमें समय लगेगा और इसका स्वरूप भी स्वतः बदलेगा। यह अवश्य मानना पड़ेगा कि स्वतन्त्रता मिलने के बाद से भारतीय सामाजिक क्षेत्र में बड़ी उथल पुथल मच चुकी है और भविष्य का इतिहास उस पर पर पूर्णतया प्रकाश डाल सकेगा।

आर्थिक प्रगति

भारतीय सामाजिक और आर्थिक क्षेत्र में जमींदारों का भी अपना स्थान रहा है। बंगाल के स्थायी बंदोबस्त के अन्तर्गत इनका जन्म हुआ और यह मध्यस्थ के रूप में किसानों से कर लेकर सरकार को देते थे। १८ वीं शताब्दी में कम्पनी के लिये किसानों से कर वसूलने का भार अपने हाथों में लेना लाभकारी सिद्ध नहीं हुआ था अतः उत्तरी भारत में यह जमींदार और तालुकेदार किसानों से कर वसूल कर सरकार को देते थे। इससे सरकार को यह लाभ था कि उसे आसानी के रुपया मिल जाता था और वह सब झंझटों से मुक्त थी। जमींदार केवल कर वसूलने का प्रबन्ध ही नहीं करते थे वरन् अपने इलाके में शासन व्यवस्था का भार भी उन्हीं पर था और वे साधारण झगड़ों को भी स्वयं निपटा देते थे। अंग्रेजी सरकार की ओर से जनता को काबू में रखने के लिये यह एक अच्छी चाल थी। किसानो को इससे लाभ नहीं हुआ और उनकी आर्थिक व्यवस्था भी बड़ी ही शोचनीय रही। समय पर लगान न देने के कारण यह बेदखल किये जाते थे। वे मजदूरी करके किसी तरह से अपना पेट पालते थे और उन्हें जमींदारों के लिये बेगार के रूप में काम करना पड़ता था। इससे एक प्रकार की दासता की भावना भी आ गई थी। उनका आर्थिक और सामाजिक स्तर ऊंचा करने का कोई भी उपाय न था। महाजन से कर्ज लेकर उनको लगान अदा करना पड़ता था और इस बोझ से वे कभी भी मुक्त न हो पाते थे। अतः उनकी शोचनीय परिस्थिति की ओर कांग्रेस का ध्यान गया और इस संस्था ने यह समझ लिया कि स्वराज्य

प्राप्त करने के लिये यह आवश्यक है कि भारत में हर एक को बराबरी का स्थान मिले । भारत की ७० प्रतिशत जनता गाँवों में रहती है और कांग्रेस ने इसके आर्थिक तथा सामाजिक उत्थान की ओर विशेष रूप से ध्यान दिया। यह कार्य गांधीजी के काँग्रेस में आने से जोर पकड़ने लगा। जिस समय प्रान्तीय चुनावों में काँग्रेस को सफलता मिली और नई सरकारें बनी तो भूमिव्यवस्था तथा किसानों की रक्षा की ओर उनका ध्यान गया। काँग्रेस सरकार के लिये इससे आगे बढ़ना कठिन था क्योंकि इससे जमींदार वर्ग के अस्तित्व को भय था। स्वतंत्रता प्राप्त होने के बाद ही काग्रेस ने इस मध्यस्थ व्यवस्था के उन्मूलन करने का प्रयास कर सकी । १९५२ तक यह बिल पास हो गया और जमींदारी प्रथा का अन्त हो गया। किसानों को १० गुना लगान देने पर ज़मीन का अधिकार प्राप्त हो गया। जमींदारों को भी अपनी भूमि अधिकारों का एक नियम के अनुसार मुआविजा मिल गया। इससे किसानों को अवश्य लाभ हुआ। उनकी दशा पहिले से सुधर गई और वे भारत के सामाजिक और आर्थिक क्षेत्र में अपना यथायोग्य स्थान प्राप्त करने लगे पर जमींदारी उन्मूलन से उस वर्ग के लोगों में बेकारी फैल गई । आर्थिक क्षेत्र में एक क्रान्ति पैदा हो गई जिसने सामाजिक स्तर को भी पलटने का प्रयास किया ।

मज़दूर आन्दोलन

उत्पादन के लिए यह आवश्यक है कि मज़दूर संतुष्ट रहें, अन्यथा किसी भी समय वे हड़ताल कर के मिलों को बन्द करा सकते हैं । ऐसे बहुत से उदाहरण हैं जब कि मिल मालिकों ने मजदूरों की माँगों को ठुकराया और उन्होंने हड़ताल कर दी । बहुत प्राचीन काल से मालिकों और मजदूरों के आपस के खींचातानी के प्रमाण मिलते है, बौद्ध संस्कृति साहित्य में भी हमको कुछ ऐसे उदाहरण मिलते हैं। मालिक मज़दूरों से बेगार के रूप में काम लेना चाहते है और इसके लिये शब्द 'वेष्टि' का प्रयोग किया गया है। इससे यह प्रतीत होता है कि इन दोनों के बीच में पारस्परिक सम्बन्ध किसी

नियमित रूप से कभी भी नहीं रहे हैं और सदैव ही खींचातानी की भावना रही है। इस संघर्ष में शक्तिशाली की सदैव ही जीत हुई और कमजोर बराबर ही कष्ट भोगते रहे। भारतवर्ष में ही १९वीं शताब्दी में जब कि बम्बई, अहमदाबाद, कानपुर तथा नागपुर में कपड़े की मिलें तथा बंगाल में जूट की मिलें स्थापित हुई तो मजदूरों की समस्या सामने आई। विलायती उद्योगपति जो अपने यहाँ अधिक मजदूरी देते थे एक प्रकार से अपने हित के लिये हिन्दुस्तानी मजदूरों के समर्थक हुए। कम मजदूरी देकर सस्ते भाव पर कपड़े बनाने का परिणाम यह होता था कि विलायती कपड़ा भारतीय कपड़े की अपेक्षा अधिक मंहगा पड़ता और अंग्रेजी माल की खपत न होती थी। इसीलिए सरकार ने फैक्टरी कानून बनाने का प्रयास किया जिससे भारतीय उद्योग-पतियों को कपड़ा बनाने के लिये अधिक मजदूरी देनी पड़े। १८७५ के लगभग बम्बई में मजदूरों ने अपनी एक संस्था बनाई और उनकी माँग यह थी कि बच्चों को फैक्टिरियों में काम न करने दिया जाये और सप्ताह में एक दिन की छुट्टी हो। उस समय मेधाजीलोकावे और शोहराबजी शापुरजी बंगाली नामक दो मजदूर नेताओं ने आन्दोलन शुरू किया और पहिला फैकटरी कानून पास हुआ। भारतीय मजदूर आन्दोलन का युग इसी समय से आरम्भ होता है। २०वीं शताब्दी के आरम्भ में भारत से बहुत से मजदूर दक्षिण अफ्रिका, मलाया तथा ब्रह्मा की ओर गये जहाँ उनको अधिक मजदूरी मिलने का प्रलोभन था। भारतीय क्षेत्र में मजदूरों की समस्या जटिल होने लगी फिर भी हिन्दुस्तानी मिलों के लिये मजदूरों का वेतन बहुत कम था और उनको काम भी बहुत करना पड़ता था। प्रथम महायुद्ध के समय ऐसी परिस्थिति थी और इसीलिए मजदूरों में अशान्ति की भावना बढ़ती जा रही थी। १९१९ और २० में बम्बई और अहमदा-बाद की मिलों में हड़तालें हुई और उन्होंने १९२१ में एक मजदूर संस्था बनाई जिसके प्रथम अधिवेशन का सभापतित्व लाला लाजपतराय ने किया। मजदूरों के आन्दोलन के फलस्वरूव १९२२ में फैक्टरी कानून पास हुआ और काम करने का समय भी सप्ताह में केवल ६० घंटे निर्धारित कर दिया

गया जब कि पहिले प्रतिदिन १२, १६ घंटे तक काम करना पड़ता था। इसी के साथ-साथ मिलों में बच्चों के काम करने पर भी नियंत्रण रखा गया। १६२२ में मजदूरों को मुआविजा मिलने का कानून पास हुआ जो कि एक और महत्वपूर्ण प्रयास था। १९२७-२८ में एक किसान मजदूर पार्टी बनाई गई। इसके बाद के युग में मजदूरों और मिलमालिकों में खीचातानी और संघर्ष आरम्भ होता है।

मिल मालिक भी अब संगठित हो चुके थे और मजदूर संस्था में भी अब दो दल हो गये थे। एक दल तो वैधानिक रूप से अपनी माँगे प्राप्त करने का समर्थक था और दूसरा दल वामपक्षी था। यह दोनों दल अन्तर्राष्ट्रीय मजदूर परिषद् में प्रतिनिधित्व प्राप्त करने के मसले पर आपस में लड़े। इससे मजदूर दल की एकता खतरे में पड़ गई। इधर उत्पादन में काफी कमी हुई और माल में दाम गिरने के कारण मजदूरों को संकटकालीन स्थिति पार करनी पड़ी ऐसी परिस्थिति में मजदूरों के दल आपस में मिल गये और १६३४-३५ में उन दोनों के बीच समझौता हो गया और उसके बाद से मजदूर संस्था धीरे-धीरे आगे बढ़ गयी। १९३५ के कानून के अन्तर्गत प्रान्तीय संसदों में मजदूरों की ओर से विशेष प्रतिनिध चुने गये। लड़ाई के काल में सरकार ने भारतीय सुरक्षा अनुष्ठान के अन्तर्गत हड़ताल की अवैद्य घोषित कर दिया जिससे यहाँ पर युद्ध सम्बन्धी सामग्री के उत्पादन में किसी प्रकार की कमी न पड़ सके। स्वराज्य प्राप्त करने के बाद सरकार की ओर से कानून बने जिसके अन्तर्गत उनके रहने के लिये स्वच्छ स्थान और जन्मभूमि नियोजना बनाई गई जिससे कि उनको और उनके परिवारों को आर्थिक सुरक्षा प्राप्त हो सके। देश में मदिरा निषेध के कारण इन मजदूरों की आर्थिक परिस्थिति भी सुधर गई पर अभी मजदूरों की उनकी पूर्णतया सरलता के लिये कुछ और बात बाकी है। वह समय दूर नहीं जब कि मजदूर भी अपने को मिल में मालिकों के साथ सहयोगी के रूप में समझेंगे, जिससे उत्पादन अधिक बढ़ेगा जो राष्ट्र सम्पत्ति में वृद्धि पैदा करेगा, और मजदूरों का सामाजिक और आर्थिक स्तर बहुत ऊँचा हो सकेगा।

अध्याय २८

राष्ट्रीय औद्योगकरण और पंचवर्षीय योजनायें

वर्तमान युग में देश का उत्पादन तथा यहाँ के पदार्थों को बाहर भेजकर राष्ट्रीय सम्पत्ति बढ़ाने के लिए यह आवश्यक है कि एक प्रकार की योजना बनाई जाए जिसके अन्तर्गत देश के साधनों का भलीभाँति उपयोग हो सके और यहाँ का उत्पादन बढ़े । संसार के इतिहास में सबसे पहिले रूस में ज़ारशाही सत्ता समाप्त करने के बाद इस प्रकार की योजनाएँ बनीं । पहली पंचवर्षीय योजना जब सफल हुई तो उसके बाद क्रमशः प्रति पाँचवें वर्ष एक योजना बनाई गई और इस प्रकार की छः योजनाओं से देश में बड़ी प्रगति हुई। इसकी देखा देखी और भी कई देशों ने अपनी योजनायें बनाई और इस विचार को अपनाया । अब प्रायः प्रत्येक देश में इसी प्रकार की योजनायें बनाई गई हैं । इनका मुख्यता ध्येय यही है कि अपने देश के साधनों का उपभोग करें । विदेश से कम सामान मँगावे और देश की अधिकतर आवश्यकताओं की पूर्ति यहीं के साधनों से की जा सके जिसके यहाँ की राष्ट्रीय सम्पत्ति बढ़े। जो सामान यहाँ नहीं पैदा होता है उसको पैदा करने के लिए कारखाने खोले जायें। अन्य देशों में योजनाओं को सफल बनाने में बहुत प्रयास भी करना पड़ा क्योंकि कुछ देशों में किसी माल की कमी रहती ही थी और उन्हें कच्चे माल के लिए दूसरों पर निर्भर रहना पड़ता था । भारतवर्ष में सभी कच्चे मालों का उत्पादन होता है और उसके अतिरिक्त यहाँ पर सब तरह की जलवायु है। इसलिए १६३८ में पं० नेहरू के सभापतित्व में पहिले नेशनल प्लानिंग कमेटी बनी और इस विचार को आगे बढ़ाया गया । पर भारत विदेशी शासन के आधीन था और कुछ प्रान्तों में भारतीय राष्ट्रीय सरकार होते हुए भी इस दिशा में प्रगति नहीं हुई। जब भारत आजाद हो गया तो उसके बाद पंचवर्षीय

योजना सबसे पहिले १६५० में बनाई गई और इसके अन्तर्गत कार्य आरम्भ होना शुरू हुआ। जिस ध्येय से १९५० में प्लानिंग कमीशन की नियुक्त हुई वह राष्ट्र का कच्चा और पक्का सामान, धन तथा मानसिक शक्ति का संतुलन करके उत्पादन को बढ़ाना था। देश के साधनों का सदूपयोग करने के लिए योजनाएँ बनाई गई। इसके अतिरिक्त इस बात का भी पता लगाया गया कि किन-किन कारणों से देश की आर्थिक परिस्थिति नहीं सुधर रहीं है और किन-किन उद्योगों से यह सफलता मिल सकती है। जुलाई सन् १६५१ में कमीशन ने पहिली पंचवर्षीय योजना बनाई और पाँच वर्ष की अवधि रक्खी। इस योजना में उनको भी शामिल कर लिया गया जो चालू हो चुकी थीं। इनमें कोई २६६० करोड़ रुपये के खर्च का अनुमान लगाया गया और यह क्रमशः निम्नलिखित मदों पर रक्खा गया। खेती और सामूहिक योजना ३६०·४३ करोड़, बिजली और सिंचाई ४६१·४१ करोड़, यातायात ४९१.१० करोड़, और उद्योग सम्बन्धी १७३.०४ करोड़, सामाजिक सुरक्षा ३३९.८१ करोड़, पुर्नविकास ८.५० करोड़ और अन्य योजनाएँ ५१.५६ करोड़। इन योजनाओं का मुख्य ध्येय देश का उत्पादन बढ़ाना था जिससे मनुष्य तथा राष्ट्र की आमदनी बढ़ सके। देश की राष्ट्रीय आमदनी कोई ६ हजार करोड़ आँकी गई थी और यह आशा की गई १६५५–५६ तक यह १० हजार करोड़ तक पहुँच जाएगी और १६७७ तक यह दूनी हो जाएगी। इन योजनाओं में इस बात पर भी ध्यान रक्खा गया कि अधिक से अधिक लोगों को काम दिया जाये। योजनाओं की पूर्ति के लिये इसका भी ध्यान रक्खा गया कि खेती की उन्नति सबसे जरूरी है और इसके लिये सिंचाई का विस्तृत रूप से प्रबन्ध करना आवश्यक है। बिजली से यह काम ठीक तरह से चल सकता है और इससे औद्योगिक विकास भी हो सकता है। यातायात पर भी विशेष रूप से ध्यान दिया गया। औद्योगिक विकास के लिए बड़े-बड़े कारखानों और भिन्न-भिन्न पदार्थों का उत्पादन करना विशेषतया आवश्यक है, पर इस के साथ-साथ सामाजिक विकास के लिये आवश्यक है कि जनता से निरक्षरता दूर कर दी जाए।

प्रथम योजना की पूर्ति

बड़ी योजनाओं का मुख्य उद्देश्य प्रगतिशील और विविध रूप से अर्थ व्यवस्था को स्थापित करना था जिससे भविष्य में उपयुक्त जमीन खेती के लिए तैयार हो सके और विकास के लिए ऐसे कार्यक्रम बनाए जाएँ कि संतुलित और सामूहिक आर्थिक विकास हो सके। कृषि और औद्योगिक उत्पादन में पहिली पंचवर्षीय योजना के अन्तर्गत बहुत वृद्धि हुई और वैदेशिक हिसाब किताब में भी बहुत टोटा नहीं रहा। जो लक्ष्य निर्धारित किया गया था वह अधिकतर पूर्ण हो सका, और कुछ क्षेत्रों में तो उसको समय से पहिले ही प्राप्त कर लिया गया लगभग १ करोड़ ७० लाख एकड़ नई भूमि को सिंचाई के अन्तर्गत लाया गया और ११ लाख किलोवाट बिजली का उत्पादन बढ़ाया गया। रेलों को पुनः संस्थापित किया गया और भारत में ही इंजिनों को बनाने के भारी कारखाने खोल दिये गये। इनके अतिरिक्त लोहे और इसपात के नये कारखाने बनाने के लिए प्रारंभिक रूप से कुछ कार्य हुआ और अब रूस और इंगलैंड दोनों ने ही इस सम्बन्ध में सहयोग देना आरम्भ किया है। सामुदायिक योजना के अन्तर्गत शिक्षा, ग्राम उद्योग, तथा अन्य छोटे छोटे उद्योगों पर भी काफी खर्च किया गया जिससे उत्पादन बढ़ा। राष्ट्रीय आय में १८ प्रतिशत वृद्धि हुई। इन योजनाओं से सहयोग की भावना जागृति हो उठी और पूंजीवादियों ने भी इस दिशा में सहयोग दिया। विदेशों से भी इस सम्बन्ध में आर्थिक सहायता मिली। सामूहिक विकास योजनाओं के अन्तर्गत गांवों म खेती और उसका सुधार, यातायात, पढ़ाई, चिकित्सा, मकान तथा छोटे घरेलू धंधों के विकास और सामाजिक कल्याण पर पूरा ध्यान दिया गया। चिकित्सा और डाक्टरी शिक्षा के ऊपर लगभग १५० करोड़ रूपया खर्च किया गया और शिक्षा क्षेत्र में इतनी ही रकम वर्तमान शिक्षा प्रणाली में समयानुकूल सुधार, पिछड़े वर्गवालों की शिक्षा, स्त्रियों की शिक्षा, और शिक्षा विकास इत्यादि पर खर्च किया गया। इस योजना में श्रम सम्बन्धी सुधार भी रखे गये हैं। इसमें मिल मालिकों और मजदूरों के आपसी सम्बन्ध, निर्धारित वेतन, काम करने के स्थानों की स्थिति, सुधार, तथा नियुक्त और उत्पादन इत्यादि आते हैं। मजदूरों के रहने और

उनके नये छोटे मकान बनवाने पर लगभग ५० करोड़ रूपया खर्च किया गया। पुनर्निवास की समस्या भी बड़ी जटिल थी। पंजाब और पूर्वी बंगाल से आए हुए ७० लाख आदमियों के ऊपर १९५२ तक ९० करोड़ रूपया से ऊपर खर्च किया गया था। १९५२-५३ में २८ करोड़, ५३-५४ में २९ करोड़ और इसके बाद लगभग इतनी ही रकम खर्च हुई। यहाँ पर जो मुसलमानों की छोड़ी हुई जायदाद थी उसको बेचकर जो रूपया मिला उससे उन शरणार्थियों को भुगतान दिया गया।

द्वितीय योजना

द्वितीय पंचवर्षीय योजना का मुख्य उद्देश्य यह है कि राष्ट्रीय अर्थ व्यवस्था में और भी तेजी से विकास हो और देश का उत्पादन इतनी तेजी से बढ़े कि योजनाओं की पूर्ति समय से पहिले हो सके। भारत औद्योगीकरण क्षेत्र में सबसे बाद में आया है जब कि विदेशी राज्य इसमें बहुत ही प्रगति कर चुके है। भारत को थोड़े समय के अन्दर ही अपने सब साधनों को जुटाने तथा उत्पादन शक्तियों का पूर्णतया संतुलन करना है जिससे वह संसार के प्रगतिशील तथा समृद्धिशाली देशों के साथ चल सके। इस सम्बन्ध में विशेषकर खनिजपदार्थों के क्षेत्र में भी खोज करना आवश्यक है और इस उद्देश्य को सामने रखकर वैज्ञानिकों तथा टेक्नीशयनों को प्रशिक्षित करने का पूरी तरह प्रयास किया गया। आर्थिक विकास से केवल उत्पादन का ही सम्बन्ध नहीं है वरन् देश के उन साधानों को भी ढूढ़ निकालना है जिससे उत्पादन तथा राष्ट्रीय सम्पत्ति बढ़े। इस प्रक्रिया में साधनों के नियोजन और सदुपयोग के साथ ही साथ मानवीय गुणों का विकास भी आवश्यक है। दूसरी पंचवर्षीय योजना जिन लक्ष्यों को ध्यान में रखकर बनाई गई है, वे हैं सर्वप्रथम राष्ट्रीय आय के स्तर में इतनी वृद्धि करना जिससे देश के रहन सहन का मानदंड ऊँचा हो, मूल और भावी उद्योगों के विकास पर जोर देते हुये देश का तेजी से औद्योगीकरण, रोजगार सम्बन्धी सुविधाओं को अधिक विस्तृत तथा आर्थिक शक्ति का पहिले से अधिक समान वितरण करना। यह सब उद्देश्य एक दूसरे से सम्बन्धित हैं। राष्ट्रीय आय में पर्याप्त वृद्धि तभी हो सकती है जब कि उत्पादन और पूंजी विनियोग में भी इसी प्रकार वृद्धि हो। इसलिए आर्थिक और सामा-

जिक पूंजी निर्माण, खनिज पदार्थो की खोज और विकास, स्थानीत यंत्रनिर्माण कोयला और भारी रसायनिक पदार्थो का विकास इत्यादि परमआवश्यक है। इन सबके लिए उपलब्ध जनशक्ति और प्राकृतिक साधनों का अधिक से अधिक सदुपयोग करना है। सामाजिक तथा आर्थिक क्षेत्र में बेकारी की समस्या को भी हल करना है, तथा ऊँच और नीच के भेदभाव को दूर कर उनके बीच की खाई को भी पाटना है। द्वितीय पंचवर्षीय योजना का आकार तथा रूप यह है कि पांच वर्षों में केन्द्रीय और प्रान्तीय सरकारें मिलकर ४८०० करोड़ रुपये के खर्च का संकल्प करती है। इसमें से सिचाई और बिजली पर १८ प्रतिशत खेती पर, जिसमें सामुदायिक योजना तथा राष्ट्रीय विकास सम्मलित है, १२ प्रतिशत, उद्योग और खनिज पर १६ प्रतिशत, यातायात पर २६ प्रतिशत, और समाजसेवाओं पर जिनमें मकान बनाने तथा पुर्नविकास भी सम्मिलित है २० प्रतिशत खर्च होगा। जिस समय आंकड़े लगाये गये थे उसके बाद कुछ अन्तर्राष्ट्रीय परिस्थतियों के कारण इसमे और हेर फेर करना पड़ा और आंकड़ों में वृद्धि हुई है। इस दूसरी पंचवर्षीय योजना में केन्द्रीय तथा राज्य सरकारों ने कुछ बड़े विकास कार्यो का बीड़ा उठाया। इस बात का भी संकल्प किया है कि सिंचाई के लिए जमीन में दो करोड़ दस लाख एकड़ की वृद्धि हो, यातायात में नई लाइनों का निर्माण हो और कुछ हिस्से विद्युतीय भी हो। सामुदायिक विकास कार्यक्रम में अधिक से अधिक कार्यों का संकल्प है और इसके अनुसार ३८०० राष्ट्रीय विस्तार खंड और ११२० सामुदायिक योजना खंड बने। भारी उद्योग, तेल की खोज, कोयले के विकास, आणुविक शक्तियों का विकास का भी प्रारम्भ हुआ है। आशा की जाती है कि पांचवर्ष के काल में जितनी भी प्रगति होगी वह इन लक्ष्यों को सामने रखते हुए बहुत काफी होगी। कुछ कामों के लिये तो इतना समय पर्याप्त होगा पर पूर्णतया औद्योगीकरण तथा अन्य योजनाओं के लिए १५ या २० वर्ष के लम्बे समय की जरूरत पड़ सकती है। विकास की नई सम्भावनाएँ वा दशाएँ समयानुकूल ही प्रगट होती जाएगी, और उनमें तभी हाथ लगाया जायेगा और यह योजनाये सफल हो जाएगी।

अध्याय २६

जनतंत्रवाद, समाजवाद अथवा साम्यवाद

भारतीय संस्कृति की रूपरेखा ऐसे आधार पर बनी है जिसमें जनतंत्रवाद तथा समाजवाद के लक्षण पाये जाते हैं जिसके फलस्वरुप हम अपने प्राचीन इतिहास को दृष्टि में रखकर अपने भविष्य के सामाजिक ढाँचे का निर्माण कर सके। यह सच है कि वर्तमान युग में इन पंचवर्षीय योजनाओं का यह ध्येय भी रहा है कि देश में एक ऐसे समाज का निर्माण हो जिसके अन्तर्गत गरीब और अमीर के बीच की आर्थिक खाई कम हो और प्रत्येक व्यक्ति को अपनी उन्नति का पूरा अवकाश मिले। इस सम्बन्ध में यह कहना भूल होगा कि हम किसी एक पाश्चात्य प्रणाली के अन्तर्गत अपने समाज का निर्माण करें। हमको तो यह देखना है कि क्या हमें अपने प्राचीन इतिहास में प्रगतिशील समाज की रूपरेखा का चित्रण मिलता है, क्या अपने यहाँ पर केवल राजकीय सत्ता ही थी अथवा जनतंत्रवाद के लक्षण भी थे ? सामाजिक और आर्थिक व्यवस्था में क्या सामूहिक चेष्टा की भावना थी अथवा नहीं ? इस दृष्टिकोण से हमको अपने प्राचीन इतिहास को एक बार फिर से देखना पड़ेगा जिससे हम इन समस्याओं पर प्रकाश डाल सकेंगे।

जनतंत्रवाद--

भारत में प्राचीन काल से ही जनतंत्रवाद की भावना विस्तृत थी। सिन्धु घाटी सभ्यता और व्यवस्था के सम्बन्ध में तो केवल इतना कहा जा सकता है कि जो चीजें प्राप्त हुई हैं उनसे हम यह नहीं कह सकते कि यहाँ पर राजकीय शासन था क्योंकि नगर की रक्षा के लिए सामूहिक रूप से चेष्टा करने के चिन्ह हमको मिलते हैं। ऋग्वैदिक काल में सभा और समिति नामक दो जनतंत्रात्मक शक्तियाँ थी जिनमें शासन सम्बन्धी विषयों पर विचार किया

जाता था। यद्यपि शासन राजकीय था पर यह शक्तियाँ प्रबल थीं और इनका राज्यों के ऊपर समय समय पर प्रभाव पड़ा। इनकी अवहेलना करना सरल कार्य न था। बौद्ध काल में हमको जनतंत्रवाद का प्रत्यक्ष प्रमाण उन १० गणतन्त्र राज्यों के अस्तित्व से मिलता है जिनमें से एक कपिलवस्तु के शाक्य भी थे, जिन्हें अपने रक्त की उच्चता का बड़ा विचार था और इसके लिए उन्हें अपना बलिदान करना पड़ा। उत्तरी पश्चिमी भारत में भी सिकन्दर के आक्रमण के समय बहुत से गणतन्त्र राज्य थे जिनमें मालव, आश्वकायन, मुशिक, मल्ल, इत्यादि प्रमुख थे। यूनानी इतिहासकारों ने कहा है कि भारतीय अपने सम्राट् को यूनान की भांति दंडवत प्रणाम नहीं करते थे वरन् हाथ जोड़कर नमस्कार ही करते थे। नागरिकों में दास्यता तथा हीनता का भाव न था। वे अपने को किसी प्रकार से गिरे हुए नहीं समझते हैं क्योंकि राजा की रक्षा और शान्ति का भार उन्हीं पर था। एक राज्य के विषय में आने सिक्राइटस ने लिखा है कि भारतीय सम्राट् सुन्दरता देखकर चुने जाते थे तथा कुरूप राजा सिंहासन से उतार दिये जाते थे। यहाँ सुन्दरता एक विस्तृत भाव में ली गई है और इससे उनका प्रयोजन केवल शारीरिक सुन्दरता से ही वरन् शुद्ध आचरण तथा आरोग्यता से भी था। इसका प्रमाण महाभारत के उद्योग पर्व से भी मिलता है जिसमें लिखा है कि देवापि के अभिषेक की प्रजा ने अनुमति नहीं दी क्योंकि वह किसी रोग से ग्रसित था। यहाँ यह कहना अनुपयुक्त न होगा कि गणतन्त्र राष्ट्रों में भी प्रजातन्त्र के लक्षण पाये जाते थे और सम्राट् अपनी रक्षा के लिए प्रजा पर अवलम्बित थे। यह प्रथा प्राचीन काल से ही चली आती है और यूनानी इतिहासकारों ने इसका उल्लेख किया है। इसके अतिरिक्त यह राष्ट्र सामूहिक रूप से मिल जाते थे और राजनैतिक विपत्ति के समय अपने अस्तित्व को भूलकर देश की रक्षा के लिए एक हो जाते थे, जैसा कि सिन्धु घाटी के गणतन्त्र तथा राजतंत्रवादियों ने सिकन्दर के आक्रमण के समय किया था। अतः यह मानना पड़ेगा कि जनतंत्रवाद का बीज भारत में वैदिक काल

में ही डाल दिया गया था और इस वृक्ष ने बराबर राजनीतिक पथिकों को छाया प्रदान की। राष्ट्रवादियों ने समय समय पर इसकी शाखायें काटी पंर यह उन्मूलित न हो सका और आज भी भारतीय गणराज्य के रूप में देदीप्यमान है।

समाजवाद, साम्यवाद—

यह भी कहना भूल होगा कि साम्यवाद की विचारधारा पाश्चात्य दिशा मे प्रवाहित हुई। वास्तव में इस व्यवस्था का उल्लेख भी हमें प्राचीन भारतीय इतिहास में मिलता है। यूनानी इतिहासकारों में निअरकस का कथन है कि प्रत्येक वर्ष धान्य उपज से समय हर एक व्यक्ति आवश्यकतानुसार अपना भाग ले लेता था। बचा अंश नष्ट कर दिया जाता था जिससे उपज की फिर से प्रेरणा हो। उपज में से भाग पाने के लिए यह अनिवार्य था कि उपज पैदा करने में उसने श्रम किया हो। इस वृत्तांत से आर्थिक जीवन की उच्च स्थिति का पता चलता है। उपज के लिए भूमि, श्रम और मूल धन के अतिरिक्त संगठन तथा तत्परता की भी आवश्यकता है। यहाँ पर यह कहना आवश्यक है कि पाश्चात्य विचारवादी मार्क्सवाद के अन्तर्गत सामुदायिक चेष्टा और श्रम के अनुसार वितरण का प्रबन्ध सरकार को सौंप देते है पर भारत में सरकार के स्थान पर व्यक्तिगत रूप से ही इस सामुदायिक चेष्टा के चिह्न हमको सहस्त्रों वर्ष पहिले से मिलते हैं। यह भावना बहुत पहिले भारत में मौजूद थी। भेद केवल इतना है कि इसमें राष्ट्र की ओर से हस्तक्षेप न था।

आर्थिक क्षेत्र में हम उन श्रेणियों का भी उल्लेख करना चाहते हैं जो प्राचीन काल से ही यहाँ की आर्थिक व्यवस्था का अंग थी। इन श्रेणियों के अन्तर्गत प्रत्येक व्यवसाय करने वाले अपने अपने व्यवसाय को सामूहिक रूप से सुसंगठित करते थे और उनके अपने नियम थे जिसके अन्तर्गत वे अपने आपसी झगड़ों को— चाहे व पारिवारिक हो अथवा व्यवसायी—श्रेष्ठिन्

द्वारा निपटवा लेते थे । इन श्रेणियों का अस्तित्व भारतीय सामाजिक और आर्थिक जीवन में विशेष महत्व रखता था और यह बहुत प्राचीन काल से ही मध्य युग तक कायम रही । भारत से बाहर भी उन देशों में जहाँ भारतीय संस्कृति की छाप पड़ी, इन श्रेणियों का अस्तित्व स्थापित हुआ । इससे प्रतीत होता है कि भारतीय आर्थिक व्यवस्था एक ऐसे साँचे में ढाली गई थी जिसके अन्तर्गत व्यवसायों की उन्नति हो और राष्ट्र सम्पत्ति बढ़े । जातकों में लिखा है कि अजातशत्रु ने इन श्रेणियों के महत्तरों को आमंत्रित किया था ।

वर्तमान युग में जब कि हमारे सम्मुख यह समस्या आती है कि हम अपने समाज को कैसा रूप दें तो हमारी आँखें प्राचीन इतिहास की ओर जाती हैं । भारत एक गणतंत्र राज्य है जिसमें प्रत्येक व्यक्ति को समान अधिकार प्राप्त हैं । हम न तो पाश्चात्य देश के एक ओर की समाजवादी और दूसरी ओर की पूँजीवादी आर्थिक और सामाजिक व्यवस्था से प्रेरणा ले सकते हैं, और न हम इस विषय में अवहेलना ही दिखा सकते हैं । मजदूर और किसान तथा अन्य व्यवसायियों के आन्दोलनों के फलस्वरूप यहाँ पर प्रत्येक श्रेणी के व्यक्तियों ने अपने अधिकार प्राप्त करने की चेष्टा की है पर अधिकार के साथ कुछ कर्तव्य भी हैं । यह आवश्यक है कि इन व्यवसायियों को जातिपाँति के स्थान पर अपने व्यवसाय को संगठित बनाना चाहिए और वे देश के उत्थान में पूर्णतया सहयोग दें । यह तभी हो सकता है जब हर एक व्यवसायी प्राचीन श्रेणियों के आधार पर अपनी संस्थाएँ बनाए जिसका ध्येय यह हो कि अपने व्यवसायिक क्षेत्र में उत्पादन करे जिससे राष्ट्र की सम्पत्ति बढ़े और देश की राष्ट्रीय पूँजी का भंडार भी बढ़े । शक्तियों के संतुलन से ही राष्ट्र का आर्थिक उत्थान हो सकता है । पूँजीवाद का युग चला गया और अब किसी भी देश में श्रमिकों के हितों की अवहेलना नहीं की जा सकती है । मिल मालिकों को श्रमिकों के साथ हाथ बटा कर काम करना है । इस दिशा में सरकार की ओर से राष्ट्रीय-

करण से वह उत्साह कम हो जायेगा जो उत्पादन के लिए आवश्यक है । अतः भारत अपने प्राचीन इतिहास को दृष्टि में रखकर प्रगति कर सकता है । पाश्चात्य इतिहासकारों में प्लिनी ने लिखा है कि भारत का उत्पादन इतना अधिक था कि वह प्रतिवर्ष करोड़ों रुपया भारत को रोम से मिलता था । इसी कारणवश राजनीतिक क्रान्ति के होते हुये भी भारत अपनी राष्ट्रीय सम्पत्ति और अस्तित्व को बचा सका । जिस समय से भारत में उत्पादन की कमी हो गई और यहाँ की वस्तुएँ विदेशी में न जाकर यहाँ पर विदेशी माल की खपत होने लगी, भारत का पतन आरम्भ हो गया । यहाँ बेकारी बढ़ गई और देश में गरीबी आ गई । अतः इतिहास इसका साक्षी है कि इस बात पर विशेष ध्यान दिया जाय कि देश में उत्पादन बढ़े जिससे राष्ट्र सम्पत्ति में वृद्धि हो और देश में चतुर्मुखी उन्नति हो ।

अध्याय ३०

राष्ट्रभाषा का प्रश्न

हिन्दी तथा संस्कृत का प्रादुर्भाव

भारतवर्ष में राज भाषा के प्रश्न पर पहिले से बहुत कुछ वादविवाद होता आया है। स्वतंत्रता मिलने के पहिले हिन्दी, उर्दू और हिन्दुस्तानी का प्रश्न बड़ा जटिल हो उठा था। यह ठीक है कि राज्य का कार भार अधिक काल तक न तो विदेशी भाषा में हो सकता है और न यह भाषीय प्रांतों के बीच सम्पर्क स्थापित करने के लिए ही अनिवार्य है। विदेशी भाषा को राज-भाषा का स्थान देना स्वतंत्रता को खतरे में डालना है। अतः यह समस्या पहिले से ही उत्पन्न हो गई कि भारत की राष्ट्र भाषा क्या हो। हिन्दी जो कि भारत की सबसे प्रधान भाषा है, राज्य भाषा होने का गर्व कर सकती है, पर उर्दू के हिमायतियों ने उर्दू फारसी लिपि को ही अच्छा समझा और उन्होंने इस बात का उदाहरण देना आरम्भ किया कि मुगल काल और आरम्भ के ब्रिटिश युग में भी उर्दू और फारसी का राज्य भाषा के रूप में चलन रहा है वास्तव में १९ वीं शताब्दी में भी पहिले उर्दू का बड़ा चलन था पर धीरे धीरे हिन्दी का जोर बढ़ा और पहिले जो स्कूल में विद्यार्थी ७० प्रतिशत उर्दू पढ़ते थे उनके स्थान पर ७० प्रतिशत हिन्दी पढ़ने वालों की हो गई। इसके अतिरिक्त हिन्दी के पत्र पत्रिकायें और ग्रन्थ भी बड़ी तेजी के साथ निकलने लगे। आकड़ों से पता चलता है कि १९३९ तक इनकी संख्या ८० प्रतिशत हो गई। गांधी जी स्वयं हिन्दी के पक्ष में थे क्योंकि उनका विचार था कि हिन्दी जनता की भाषा है चाहे इसे हिन्दुस्तानी कहें, और यह देव-नागरी तथा उर्दू की लिपियों में लिखा जाय। कुछ लोगों का विचार था कि इन दोनों लिपियों के झगड़ों को दूर करने का सबसे सहल उपाय यह होगा कि

हम रोमन लिपि को अपना लें। जिस समय भारत आजाद हुआ उस समय इस समस्या ने और ज़ोर पकड़ा। यद्यपि हिन्दी, उर्दू, हिन्दुस्तानी, जो घर घर में बोली जाती है, में कोई विशेष फर्क नहीं है। केवल शिक्षित जनता या तो इसके साथ में चुने हुए संस्कृति अथवा फारसी और अरबी शब्दों का अधिक उपयोग करती है। गाँवों में जो भाषा बोली जाती है वह बिलकुल सरल है तथा उसको न तो हम ठेठ हिन्दी ही कह सकते हैं और न उर्दू ही। पर यह खाई धीरे-धीरे बढ़ने लगी। हिन्दी के नाम पर रेडियो मे जो समाचार प्रसारित किये जाते थे उनमें उर्दू शब्दों का अधिक प्रयोग होता था। इसका परिणाम यह हुआ कि हिन्दी के समर्थकों ने रेडियो का बहिष्कार ही कर दिया और हिन्दी उर्दू के बीच की खाई तेजी से बढ़ती गई। इस आन्दोलन के फलस्वरूप हिन्दी में जो साहित्यिक रचनायें हुई उनमें संस्कृति शब्दों का अधिक प्रयोग होने लगा तथा उसी प्रकार से उर्दू में प्रकाशित ग्रन्थों में भी फारसी तथा अरबी शब्दों का अधिक प्रयोग होने लगा। इधर राष्ट्रीय एकता की भावना लेकर यह भी प्रश्न उठा कि बंगाली, गुजराती, तथा मराठी भी देवनागरी लिपि में लिखी जाये जिससे इनका हिन्दी के साथ बहुत गहरा सम्बन्ध स्थापित हो सके। इस ध्येय को लेकर बंगाल में रवीन्द्रनाथ ठाकुर के प्रयास से रामानन्द चटरजी की पत्रिका में बंगाली रचनाएं देवनागरी लिपि में छपनें लगी। यह बड़ा सुन्दर उदाहरण था और इससे समस्त हिन्दी पाठको को उन प्रान्तीय भाषाओं को बढ़ाने का अवसर प्राप्त हुआ। १९४७ में भारत को स्वतंत्रता मिली और बिधान बना तथा हिन्दी भाषा को राष्ट्रीय भाषा का रूप दिया गया तथां इसमें हिन्दी को उन अन्य प्रांतों के प्रतिनिधियों का भी सम्मान प्राप्त हुआ। दक्षिण भारत में हिन्दी के विरुद्ध आन्दोलन भी हुआ क्योंकि उनका कहना था कि इसमें हिन्दी का प्रभाव द्रविण भाषाओं पर छा जायेगा। इन लोगों का आन्दोलन अधिक समय तक न चल सका। संविधान में यह पास हो गया कि हिन्दी ही राष्ट्र भाषा मानी जायेगी और १५ वर्ष तक अंग्रेजी की मान्यता दी जाय, और उसके बाद सम्पूर्ण भारत का राजनैतिक कार्य हिन्दी में ही होनी

चाहिये, । उर्दू को प्रादेशिक भाषा का स्थान न मिल सका और इसका मुख्य कारण यह था कि राजनीति में भाषा को खीचा गया था और मुसलिम लीग के पाकिस्तान अन्दोलन के फलस्वरूप वे हिन्दू भी, जो उर्दू के प्रेमी और समर्थक थे, इधर से खिच गये । इस समय अब फिर इस प्रकार की चर्चा है और यह प्रयास भी किया जा रहा है कि उर्दू को प्रान्तीय भाषा घोषित कर दिया जाये ।

हिन्दी और प्रान्तीय भाषाओं का सम्बन्ध

यद्यपि हिन्दी का साहित्यिक भंडार उतना भरा नहीं है जितना कि बंगाली अथवा तामिल का है, और इसका कारण यह है कि इस भाषा को मुगल और ब्रिटिश काल में अधिक प्रोत्साहन नहीं मिला पर वर्तमान युग में इसमें बड़ी ही प्रगति हुई । इस समय इस बात की आवश्यकता है कि भारत की समस्त भाषाएँ एक दूसरे से निकट आ सकें जिससे राजनीतिक एकता को किसी प्रकार का खतरा न हो । इस सम्बन्ध में यह आवश्यक है कि कम स कम उत्तरी भारत की जितनी भाषाएँ हैं वे देवनागरी लिपि में लिखी जाएँ और भाषाओं को अपना साहित्यिक भंडार बढ़ाने की पूर्ण स्वतंत्रता हो । यदि ऐसा किया गया तो केवल उन भाषाओं के ही साहित्यकी वृद्धि नहीं होगी वरन् हिन्दी को भी बहुत प्रोत्साहन मिलेगा । दक्षिण भाषाओं के लिए भी एक लिपि का होना आवश्यक है और यह भी कहना अनुपयुक्त नहीं होगा कि उस लिपि को सरल बनाया जाय । और सम्पूर्ण भारतीय नागरिकों के लिए दक्षिण की एक भाषा और हिन्दी का ज्ञान प्राप्त करना अनिवार्य होनाचाहिए । हिन्दी लिपि में भी कुछ सुधार किए गये पर वास्तव में उनसे कोई विशेष लाभ नहीं, और अब विश्वास हो गया है कि प्रचलित देवनागरी लिपि को किसी प्रकार से बदलना ठीक न होगा ।

संस्कृत

हिन्दी के साथ ही साथ संस्कृत को भी बहुत ही प्रोत्साहन मिला है । संस्कृत के अन्तर्राष्ट्रीय महत्व को समझना कठिन नहीं है । एक संस्कृत ही

ऐसी भाषा है जो भारत के कोने कोने में पढ़ी जाती है, चाहे प्रान्तीय भाषाएँ दूसरी हों, और भारत से बाहर भी मध्य ऐशिया, मलाया, हिन्दचीन और हिन्दनेशिया में भी संस्कृत साहित्य, विचार, और ग्रन्थों ने अपना स्थान बना लिया है । कुछ विद्वानों का यह भी विचार है कि संस्कृत भाषा को बहुत सरल बनाया जाये जिससे यह जनसाधारण की भाषा बन सके और इसे राष्ट्रभाषा का स्थान प्रदान किया जाय । पर जिन विद्वानों ने इस दृष्टिकोण को अपनाया है वे कदाचित् हिन्दी की सरलता और भारत के ६० प्रतिशत शिक्षित समाज के विचारों से अनभिज्ञ है । भारत सरकार ने संस्कृति के पुनरुत्थान के लिए एक कमीशन की नियुक्ति की जिसने सम्पूर्ण भारत का भ्रमण कर इस बात की छानबीन की है कि संस्कृति भाषा का देश की राजनीति में क्या स्थान हो सकता है। साहित्य एकेडेमी नामक एक संस्था भी सरकार की ओर से खोली गई है जिसका ध्येय प्रान्तीय भाषाओं के सुन्दर साहित्य का संकलन और सम्पादन करके प्रान्तीय और हिन्दी भाषाओं में प्रकाशित करना है, तथा उन सांस्कृतिक ग्रन्थों को भी सरल और अनुवादित रूप प्रदान करना है जिससे कि भारतीय नागरिकों नागरिक अपनी प्राचीन संस्कृत और साहित्य का ज्ञान प्राप्त कर सकें । इस दिशा में संस्कृत और हिन्दी का अपना स्थान है । यदि संस्कृत अन्य प्रान्तीय क्षेत्रों में परस्पर सम्बन्ध स्थापित कर सकती है तो हिन्दी भी इसको और दृढ़ बना सकती है। आवश्यकता यह है कि सम्पूर्ण ग्रन्थ देवनागरी लिपि में प्रकाशित किए जाएँ और प्रान्तीय भाषाओं की लिपि के अतिरिक्त इस लिपि का भी सब क्षेत्रों में प्रयोग किया जाये जिससे कि अन्य प्रान्तीय भाषाओं के साहित्य का आनन्द लिया जा सके। संस्कृत अपने साहित्यिक भंडार से भारतीयों को बहुत कुछ दे सकती है और यदि हिन्दी भारत में एकता स्थापित कर सकती है तो संस्कृत को इस बात का गर्व है कि भारत से बाहर सम्पूर्ण एशिया के उन देशों से जहाँ संस्कृत भाषा और साहित्य ने अपना स्थान कर लिया था अब भी मैत्री स्थापित कर सकती है ।

अध्याय ३१

शिक्षा विज्ञान और दर्शन इत्यादि

शिक्षा

भारत सदैव से ही शिक्षा के क्षेत्र में प्रगति करता रहा है। हम प्राचीन भारत के शिक्षा केन्द्रो का उल्लेख बहुत पहिले ही कर चुके हैं जिनमें तक्ष-शिला, नालन्दा, विक्रमशिला इत्यादि वृहद् शिक्षा के केन्द्र थे, जिसमें हज़ारो विद्यार्थी शिक्षा ग्रहण करते थे और सभी विषयों की पढ़ाई होती थी। अध्यापक वर्ग भी अपनी विद्वता के लिए केवल भारत में ही नहीं वरन् यहाँ से बाहर भी विख्यात थे और दूर दूर से विद्याध्ययन करने के लिए विद्यार्थी यहाँ आते थे। यद्यपि इन शिणा केन्द्रों में पुरुषों की शिक्षा का ही प्रबन्ध था पर हमको साहित्य से ज्ञात होता है कि स्त्रियाँ भी शिक्षा क्षेत्र में पीछे नहीं रही और उन्होंने भी बड़ी ही प्रगति दिखाई। वास्तव में देश का नैतिक स्तर ऊँचा करने का श्रेय शिक्षक वर्ग को ही है जिसने दर्शन, साहित्य, धर्म इत्यादि विषयों को लेकर अपनी कृतियाँ बनाई। मुसलिम काल में नालंदा और विक्रमशिला के शिक्षा केन्द्र विध्वंस हो चुके थे। यद्यपि मुगलकाल में शिक्षा की ओर थोड़ी सी रुचि रही पर प्राचीन भारत की भाँति इस युग में कोई विशाल विश्वविद्यालय नही था। ऐसी परिस्थिति में लोगों का नैतिक स्तर गिर जाना स्वाभाविक था। अंग्रेजी काल में पहिले तो उच्च शिक्षा की ओर विशेष ध्यान नहीं दिया गया, किन्तु मेकाले ने अंग्रेजी शिक्षा को भारत में बहुत प्रोत्साहन दिया। यह पहिले ही कहा जा चुका है कि कलकत्ता, बम्बई और मद्रास में सर्वप्रथम तीन विश्वविद्यालयों की स्थापना हुई और उस समय से अंग्रेजी शिक्षा का भारत में विस्तृत रूप से विकास हुआ। धीरे धीरे यहाँ पर विश्वविद्यालयों की संख्या बढ़ी और

विद्यार्थियों की संख्या भी तेजी से बढ़ने लगी। विशेष रूप से माध्यम शिक्षा को प्रोत्साहन दिया जाने लगा और सैंडलर कमीशन ने तो सम्पूर्ण शिक्षा प्रणाली पर एक बड़ी रिपोर्ट दी। २०वीं शताब्दी में शिक्षा क्षेत्र में बड़ी प्रगति हुई और विश्वविद्यालयों की संख्या भी धीरे-धीरे बढ़कर १८ हो गई। १९३५ में इन विश्वविद्यालयों में पढ़ने वाले विद्यार्थियों की संख्या लगभग १२०,००० थी। स्वतंत्रता प्राप्त करने के वाद शिक्षा क्षेत्र में बड़ी ही प्रगति हुई और इस समय भारत में ३० से ऊपर विश्वविद्यालय है और विद्यार्थियों की संख्या ५ लाख से भी ऊपर है, जिसमें जगभग १५ से २० प्रतिशत लड़कियाँ पढ़ती हैं, और सभी विषयों कर अध्ययन होता है। यद्यपि शिक्षा के विषय ऐसे हैं जिनका केवल विज्ञान, वाणिज्य, कला, कानून, इंजीनियरिंग, चिकित्सा और कृषि विद्या से सम्बन्ध है, पर अभी भी इसको बढ़ाने के लिए बहुत कुछ करना है। परिगणित और बिछड़ी हुई जातियों की शिक्षा पर भी विशेष रूप से ध्यान दिया जा रहा है औरउनको आगे बढ़ाने के लिए सब प्रकार की सुविधाएँ दी जो रही हैं, जिससे हर एक को आगे बढ़ने का अवसर मिल सके। विश्वविद्यालय का ध्येय केवल नौकरी के लिए विद्यार्थियों को तैयार करना ही नहीं है वरन् उनका आध्यामिक और नैतिक स्तर ऊँचा करने का प्रयास भी करना है। शिणा प्रणालीमें क्रियात्मक विषय का अध्ययन विशेष रुप से आवश्यक है जिससे कि शिक्षा प्राप्त भी करने और शिक्षा से लाभ उठाने में विशेष समय नष्ट न हो। यहाँ पर यह आवश्यक है कि देश में के सम्पूर्ण साधनों का प्रयोग किया जाये। वास्तव में यदि किसी देश में थोड़े से विद्वान रहें तो वह देश थोड़े समय के बाद गिर जाता है, पर यदि शिक्षा की ज्योति सम्पूर्ण देश में जलाई गई तो जनता का नैतिक स्तर बहुत ऊँचा उठेगा और देश उन्नति कर सकेगा। इन साधनों को लेकर ही हमें अपने देश की शिक्षा प्रणाली और शिक्षा उद्देश्यों को सामने रखना है जिसमें अध्यापक और शिष्य का पारस्परिक सम्बन्ध भी दृढ़ हो।

विज्ञान

वैज्ञानिक क्षेत्र में भी देश ने बड़ी उन्नति की है। यह कहना भूल

होगा कि भारत ने केवल दार्शनिक क्षेत्र में अपनी प्रधानता स्थापित की और मैज्ञानिक क्षेत्र में वह बहुत ही पीछे रहा । वास्तव में सच तो यह है कि भारत सदैव से ही विज्ञान, मुख्यता गणित, रसायन और चिकित्सा शास्त्र में अग्रसर रहा है । अरब निवासियों ने भारत से ही अंक लिए थे । बाद में पाश्चात्य देशों ने इनको अरबी अंकों के नाम से ग्रहण किया अंक गणित, बीजगणित तथा रेखागणित में भारत पहिले ही से दक्ष था । भारत में ही अंकगणित और बीजगणित का आविष्कार हुआ था यद्यपि रेखागणित के विषय में यूनान और सिकन्दरिया में बड़ी प्रगति हो चुकी थी । भारतीय गणितज्ञों में छठी शताब्दी के भास्कार का सबसे प्रसिद्ध है और इसके बाद ब्रह्मगुप्त व भास्कार द्वितीय १२ वीं शताब्दी में हुए और उन्होंने गणित, बीज गणित और ज्योतिष पर कई ग्रन्थ लिखे । दणिण भारत में ज्योतिष तथा भूमन्डलज्ञान के लिए शिक्षा केन्द्र खोले गए । गणित पर बाद में भी कई ग्रन्थ लिले गये । भारतीय दर्शन का अध्ययन करने के लिए अलबिरूनी भी यहाँ आया था । ८ वीं शताब्दी में भारत से बहुत से विद्वान बगदाद गये थे और वह अपने साथ में गणित और भूमंडल शस्त्र के ग्रन्थ भी ले गये थे । बग़दाद में भारत और पाश्चात्य देशों के विद्वान रहते थे और यह शिणा का बड़ा केन्द्र हो गया था । १८ वी शताब्दी में सवाई जयसिंह ने एक बहुत बड़ी शाला का निर्माण किया जिनमें वायुमंडल के नक्षत्रों की प्रगति दिखाई पड़ती है । ज्योतिष शास्त्र अंकगणित से बहुत सहुत सम्बन्धित है और भारतीय संस्कृति में इसका विशेष स्थान है । प्राचीन भारत में इस दिशा में बड़ी ही प्रगति हुई और यहां से पाश्चात्य देशों में भी भारतीय गणित का प्रचार हुआ ।

ज्योतिष और अंकगणित के अतिरिक्त रसायन और चिकित्सा में भी भारतीय पीछे न थे। रसायन शास्त्र का उल्लेख कौटिल्य ने भी अपने ग्रन्थ में किया है । चिकित्सा के विषय में हमको चरक और सुश्रुत के ग्रन्थों से पता चलता है कि प्राचीन काल में शल्य शास्त्र का पूर्णतया ज्ञान था । बुद्धजी के समय में तक्षशिला शिक्षा का बहुत बड़ा केन्द्र था और यहाँ पर चिकित्सा शास्त्र

का अध्ययन होता था। बिम्बिसार के चिकित्सक जीवक ने भी यहीं शिक्षा पाई थी। संस्कृत साहित्यक ग्रन्थों में भी चिकित्सा सम्बन्धी बहुत से उदाहरण मिलते हैं। अश्वघोष ने भी अपने सौन्दरानन्द में शल्य चिकित्सा का उल्लेख किया है इसी में शला का भेद अथवा इंजेक्सन का भी उल्लेख है। इसके अतिरिक्त अन्य प्रणाली से भी औषधियाँ दी जा सकती थी। स्त्रियों के गुप्त रोग और चिकित्सा का भी उल्लेख हमको मिलता है। मध्य काल में यूनानी चिकित्सा की ओर भी प्रगति हुई और इसमें हिकमतियों तथा हकीमों ने पदार्पण किया। शाहजहाँ के समय में कर्नल ब्राउटन ने पाश्चत्य चिकित्सा से उसकी पुत्री को अच्छा किया था।

वर्तमान युग में वैज्ञानिक क्षेत्र में भारत ने पहले ही से प्रगति की है और यह समझ लिया है कि देश के उत्थान के लिए यहाँ पर वैज्ञानिक अनुसंधान-शालायें स्थापित की जाएं। स्वतंत्रता प्राप्त होने के बाद देश के भिन्न-भिन्न भागों में भौतिक, रासायनिक, चिकित्सा तथा अन्य वैज्ञानिक विषयों से सम्बन्धित बहुत सी शालायें खुल गई हैं और अणु खोज के सम्बन्ध में भी प्रगति हुई है। धीरे धीरे वैज्ञानिक क्षेत्र में भारत अपने प्राचीन स्तर को उठाने का प्रयास कर रहा है।

धर्म तथा दर्शन

प्राचीन सांस्कृतिक परस्परा में धर्म का विशेष स्थान रहा है। इसीलिए आदिकाल से ही लोक और परलोक की भावना ने दृढ़ स्थान बना लिया है। इसी भावना को लेकर धर्म का प्रादुर्भाव हुआ और इस धर्म के अन्तर्गत भिन्न भिन्न प्रकार की विचारधाराएँ बहीं। ऋग्वैदिक काल के पहिले ही सिंधु घाटी सभ्यता में भी कुछ देवी देवताओं की मूर्तियाँ मिलती हैं जिनसे यह ज्ञात होता है कि उस समय के व्यक्ति भी कोई न कोई शक्ति में अवश्य विश्वास करते थे जिससे उन्हें लौकिक हित और पारलौकिक पुण्य प्राप्त हो सके। इस विचारधारा पर हम बहुत पहिले ही विचार कर चुके हैं और उस मातृ देवी की उपासना की गई है जिसने संसार की उत्पत्ति की। वेदों में,

मुख्यतया ऋग्वेद में, इन अनार्यों के देवी देवताओं को नहीं माना गया और उनको शीष्नदेव करके संबोधित किया गया। उस युग में इन्द्र, वरुण, रुद्र, अश्विनीकुमार, मरुत् इत्यादि देवताओं की स्तुति की गई, जिससे कि उनको सुरक्षा प्राप्त हो सके। ऋग्वेद में 'एकम्सद् विप्रा बहुधा वदन्ति' की भावना ने प्रवेश किया और वैदिक परम्परा की इस चट्टान को विभिन्न धार्मिक लहरें न हटा सकीं। धार्मिक उदारता की यह भावना भारतीय संस्कृति में सदैव से स्थापित रही। उतर वैदिक और ब्राह्मण तथा शास्त्रीय युग में आदि भारतीय संस्कृति के देवी देवताओं को भी ग्रहण कर लिया गया। ऋग्वेद में तो ब्रात्य का भी उल्लेख मिलता है जिसकी कि मोहेनजोदड़ो में मिली उस मूर्ति से समानता की जाती है जिसे विद्वान शिव अथवा रुद्र का स्वरूप मानते हैं। वैदिक काल से देवी देवनाओं की स्तुति करने के लिए यज्ञ करना अनिवार्य था और इसी के द्वारा इनकी उपासना की जाती थी। ब्राह्मण काल में विभिन्न यज्ञों और उनकी विधियों की रचनायें की गई। इन यज्ञों में ब्राह्मणों को दक्षिणा मिलती थी और बलि की आहुति दी जाती थी। इसी के विपक्ष में उन धर्मो का प्रादुर्भाव हुआ जिन्होंने इसी विषय को लेकर ब्राह्मणों को ललकारा और उन्होंने सरल मार्ग का निर्माण किया जो बौद्ध धर्म के अनुसार मध्यम मार्ग कहलाता है, और जिसमें न तो यज्ञ और न तप को हो स्थान दिया गया है। जैन तीर्थंकरों ने शरीर को ही दुखों का साधन माना और इसीलिए शरीर को कष्ट देकर ही ज्ञान और अत्यन्त सुख प्राप्त हो सकता है। इसी युग में ब्राह्मण धर्म में भक्ति भावना की भी एक लहर आई जिसने मानवा समाज पर विशेष रूप से अपना प्रभाव डाला। इसके अन्तर्गत न तो यज्ञ और न तप को ही स्थान दिया गया, वरन् भगवद् भक्ति को श्रेय माना गया। इस भावना ने बौद्ध धर्म मे भी प्रवेश किया और महायानमत के अनुसार बुद्ध जी का केवल ध्यान करने से ही मोक्ष की प्राप्ति हो सकती है। ऐसी परिस्थिति बराबर चलती रही।

मध्य युग में भक्ति की भावना ने अधिक जोर पकड़ा और, जैसा कि पहिले कहा जा चुका है, रामानन्द, कबीर, चैतन्य, दाऊदयाल, बल्लभाचार्य

इत्यादि संतों ने इसी भक्ति भावना को और जोर दिया। यज्ञों की प्रथा बहुत कम हो गई यद्यपि यह लुप्त नहीं हुई थी। मुसलमानों के आगमन से भारतीय धार्मिक क्षेत्र मे जो विशेष समस्या उत्पन्न हुई उसके अन्तर्गत धर्म को एक ऐसा स्थान दिया जाने लगा जिससे मनुष्य का निजी सम्बन्ध है और वह अपनी इच्छानुसार जिस देवी देवता को चाहे अथवा सब की उपासना कर सकता है। इस भक्ति भावना ने उस कठिन परिस्थिति में भी भारतीयों को संतोष और सात्वना प्रदान की। अकबर का चलाया दीन इलाही मत जिसका ध्येय सब धर्मों की शिक्षाओं का संतुलन था सफल न हो सका, क्योंकि बहुत से धर्मावलम्बिओं में उस उदारता का अभाव था। हिन्दू धर्म में विशेष रूप से सामाजिक अंग को सुधारने का प्रयास १८वीं शताब्दी में किया गया, और इसका उद्देश्य मुख्यता यह था कि धर्म भी पाश्चात्त्य धर्मों की भाँति नवीन परम्परा को लेकर चले जिसमें उन रीतियों तथा प्रथाओं का स्थान न हो जो समाज के लिए हानिकारी है। ब्रह्म समाज, देव समाज इत्यादि धार्मिक संस्थाएँ बनाई गई पर वास्तव में सच तो यह है कि धर्म और समाज के क्षेत्र अलग२ है। धर्म मनुष्य और परलोक दोनों के बीच मध्वस्थ का काम करता है। समाज का क्षेत्र केवल मानव तक ही सीमित है। ऐसी परिस्थिति में धर्म को सामाजिक कुरीतियों के कारण छोड़ देना अथवा उस पर टीका टिप्पणी करना कोई लाभ नहीं रखता है। १९वीं शताब्दी में भारतीय धार्मिक परम्परा का इस देश केबाहर भी स्वामी विवेकानन्द और उतके बाद स्वामी रामतीर्थ ने प्रचार किया। इस धर्म के अन्तर्गत ग्रन्थों के अनुवाद और अध्ययन के कारण पाश्चात्य देशों में भी भारतीय धर्म और दर्शन के प्रति श्रद्धा और आदर की भावना उत्पन्न हो गई। वर्तमान युग में धर्म का स्थान राजनीति में नहीं है और न धर्म के आधार पर भारतीय गणराज्य में कोई भी व्यक्ति अपनी सत्ता स्थापित कर सकता है। मानव समाज में तो धर्म केवल उदारता की भावना प्रदान करता है जिससे मनुष्य का दृष्टि कोण विस्तृत हो।

दर्शन—

भारतीय दर्शन अपनी प्राचीनता और प्रधानता के लिए आदि काल से

ही विश्व में प्रसिद्ध है। भारत में ६ प्रकार की दार्शनिक विचारधाराओं का उल्लेख है जो क्रमश: आन्वीक्षकी, वैशेषिक, सांख्य, योग, मीमांसा और वेदान्त है। इन दार्शनिक विचारधाराओं के रूप और प्रतिक्रियायें भिन्न है, पर ध्येय एक ही है। आन्व के अन्तर्गत हित और समीक्षा (एनालिसिस) को प्रधानता दी गई है और इसमें मानसिक नियंत्रण पर जोर दिया गया है तथा यह अरस्तु की विचार धारा से मिलती है। प्राचीन शिक्षा प्रणाली में भी इसका विशेष स्थान था। इसके अन्तर्गत मनुष्य के जीवन का प्राकृतिक साधनों से सम्मिश्रणऔर व्यक्तिगत रूप से देवता, व्यक्तिगत आदमी और विश्व मे पारस्परिक सम्बन्ध दिखाया है वैशेषिक और आन्ववीक्षकी का परस्पर सम्बन्ध है। इसने मनुष्य और पदार्थ मे भिन्नता मानी है और एक वास्तविक विचारधारा को अपनाया है जिसमें धर्म का विशेष स्थान है और इस धर्म के आधार पर संसार का चक्कर घूमता है। सांख्य के अन्तर्गत जीव और पदार्थों में पूर्णतया भिन्नता दिखाई गई है और इसमें न तो कोई निजी देवी देवताओं और न अद्वैतवाद का अंश है। इसमें द्वैत को माना है जिसमें प्रकृति, जो हमेशा बदलती रहती है, और पुरुष जो बदलता नहीं है का सम्मिश्रण दिखाया गया है, तथा साधन और परिणाम (कास एन्ड ईफेक्ट) के सम्बन्ध पर प्रकाश डाला है। योग में पतञ्जली का विशेष स्थान है और इसके अनुसार शरीर और मन को विशेष रूप से नियंत्रण मे रखना चाहिए। इस योग को भारत से बाहर भी भारतीय विद्वानों ने पाश्चात्य देशों में फैलाया। इन साधनों का प्रयोग प्रत्येक मनुष्य कर सकता है चाहे वह किसी भी विचारधारा को मानता हो। इसमें एक ईश्वर पर विश्वास रखना अनिवार्य है और उसी का ध्यान कर साधना करनी चाहिए। उस ध्यान और योग से ही अनन्त सुख को प्राप्त हो सकती है, जिसके लिए यह सब साधन किये जाते हैं। स्वामी विवेकानन्द ने योग और वेदान्त को लेकर ही पाश्चात्य देशों में बहुत प्रचार किया और उसके बाद रामतीर्थ ने भी इस सम्बन्ध में बहुत कुछ कार्य किया। मीमांसा के अन्तर्गत बहुत से देवी देवताओं की उपासना करना अनिवार्य है।

इसके अनुमार मनुष्य का जीवन ही अनन्त सुख प्राप्त करने का साधन है और यहाँ से मोक्ष की प्राप्ति हो सकती है । इसीलिए देवताओं को भी मोक्ष प्राप्त करने के लिए मनुष्य का रूप धारण करना पड़ता है । अंत में वेदान्त है जो कि उपनिषद् से निकली है । इसमें पुरुष और प्रकृति को एक ही माना है । शंकर ने अद्वैतवाद की रचना की भारतीय दर्शन ने विश्व में अपना स्थान प्राप्त कर लिया है । इसमें संसार के सभी जटिल समस्याओं और शंकाओं के समाधान करने के साधन हैं । यह सच है कि इम वर्तमान युग में विज्ञान का विशेष स्थान है पर केवल विज्ञान ही संमार की परिस्थिति में जटिल समस्याओं को हल नहीं कर सकती है । विज्ञान के साथ साथ उस धर्म और दर्शन का आश्रय भी लेना होगा जो विश्व को उस अनन्त स्वरूप का अंग मानकर शांति प्रदान करने में सहयोग दे सके । इसीलिए धर्म और दर्शन भी जिनमें भारत सदैव से ही अग्र रहा है वर्तमान समस्याओं का समाधान करने के लिए सहयोगी हो सकते हैं ।
